वीर सेवा मन्दिर
दिल्ली

★

क्रम सख्या 8626
काल न० C 58 मिराश्री
खण्ड

वाकाटक राजवंश का इतिहास

तथा

अभिलेख

लेखक

महामहोपाध्याय डॉ. वासुदेव विष्णु मिराशी, एम. ए., डी. लिट्.

भूतपूर्व प्राचार्य, मॉरिस कॉलेज, नागपुर, तथा

विदर्भ महाविद्यालय, अमरावती

अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति विभाग,

नागपुर विश्वविद्यालय

सन्मान्य फेलो, न्यूमिस्मॅटिक सोसायटी ऑफ् इंडिया

अनुवादक

डॉ. अजय मित्र शास्त्री, एम. ए., पीएच्. डी.

प्राध्यापक, नागपुर विश्वविद्यालय

तारा पब्लिकेशन्स

वाराणसी

१९६४

प्रकाशक

तारा पब्लिकेशन्स,
वाराणसी

वितरक

प्राच्यभारती प्रकाशन
कमच्छा, वाराणसी

प्रथम संस्करण, १९६४
मूल्य दस रुपये

मुद्रक

तारा प्रिंटिंग वर्क्स
वाराणसी

मेरी स्वर्गस्थ प्रिय पत्नी

सौ. मनोरमाबाई

की स्मृति

को

समर्पित

भूमिका

प्राचीन भारतीय इतिहास में गुप्त-वाकाटक काल 'सुवर्णयुग' के नाम से प्रसिद्ध है। इस काल में विशाल साम्राज्यों का का उद्भव हुआ, जिसके फलस्वरूप सर्वत्र शान्ति प्रस्थापित हुई। हिन्दू धर्म, संस्कृत विद्या और कला को उदार राजाश्रय मिला और उनका अभूतपूर्व उत्कर्ष हुआ। विदेशों के साथ भारत का व्यापार बढ़ा, जिससे सर्वत्र समृद्धि छा गई। अन्य देशों में भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ, जिसके परिणामस्वरूप भारत की कीर्ति दिग्दिगन्त में फैली। इस सर्वांगीण उन्नति का श्रेय उत्तर भारत में राज्य करनेवाले गुप्त सम्राटों के समान दक्षिण के वाकाटक सम्राटो को भी दिया जाता है। विशेषतः अजन्ता की कुछ सर्वोत्कृष्ट गुहाओं का निर्माण उनके राजत्वकाल मे होने के कारण उनका नाम समस्त ससार में सुप्रसिद्ध हो गया है।

किन्तु इन वाकाटक सम्राटों के काल का सांगोपांग इतिहास अभी तक अंग्रेजी मे भी नहीं लिखा गया है। गत तीस-पैंतीस वर्षों में वाकाटकों के अनेक उत्कीर्ण लेख प्रकाश में आये तथा अन्य शोध-कार्य हुआ, जिससे उनके इतिहास के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी मिली है। अतः उनका इतिहास लिखना अब सम्भव हो सका है।

प्रस्तुत पुस्तक में वाकाटकों के राजनीतिक इतिहास के साथ-साथ तत्कालीन शासनव्यवस्था, सामाजिक एव धार्मिक परिस्थिति, संस्कृत एवं प्राकृत साहित्य तथा स्थापत्य, मूर्ति एवं चित्रकला की भी अद्यावधि उपलब्ध पूर्ण जानकारी दी गई है।

वाकाटको का इतिहास प्रधानतः उनके अभिलेखो पर आधारित है। इसग्रन्थ मे उनकी विपुल चर्चा होनी स्वाभाविक थी। अतः पाठकों की सुविधा के लिए मैंने ये लेख प्रास्ताविक जानकारी के साथ ग्रन्थ के अन्त में दे दिये हैं। उनमें पर्याप्त नवीन शोध उपलब्ध होगा। ये लेख अनेक शोधपत्रिकाओ में बिखरे हुए हैं, जिनमें से अनेक सम्प्रति दुर्लभ हो गई हैं। आशा है प्रस्तुत ग्रंथ में उनके एकत्र दिये जाने से भावी संशोधको को अपेक्षित सहायता मिलेगी।

कविकुलगुरु कालिदास के रघुवंश का इन्दुमतीस्वयंवरविषयक सर्ग विद्यार्थी अवस्था में मेरे पढ़ने में आया। उस समय से मुझे विदर्भ के प्रति विशेष अनुराग हो चला। आगे चलकर आजीविका के निमित्त विदर्भ में मेरा वास्तव्य हुआ और उसके प्राचीन इतिहास के अनुशीलन का सुयोग प्राप्त हुआ। वाकाटकों के अद्यावधि

प्रकाशित कुल सत्ताईस अभिलेखों में से अनेक स्वयम् मैंने सम्पादित किये हैं तथा तत्कालीन वाङ्मयादि के सम्बन्ध मे थोड़ा-बहुत संशोधन भी किया है। इस प्रकार मैं आंशिक रूप से विदर्भ का ऋण चुकाने में समर्थ हो सका हूँ, इसकी मुझे हार्दिक प्रसन्नता है।

यह ग्रन्थ 'महादेव हरि वाठोडकर व्याख्यानमाला' के अन्तर्गत नागपुर विश्वविद्यालय के सभागृह में दिनांक ५, ६, ७ एवं ९ मार्च १९५६ को दिये गये व्याख्यानों का लिपिबद्ध रूप है, जो मूलतः मराठी में प्रकाशित हुआ था। इसका हिन्दी अनुवाद मेरे मित्र और सहाध्यापक डॉ० अजय मित्र शास्त्री, अध्यापक प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, ने किया है उसके लिये मैं उनका अत्यंत आभारी हूँ। इस ग्रन्थ को हिन्दी में प्रकाशित देखने की मेरी प्रबल इच्छा थी। नागपुर विश्वविद्यालय ने उसके लिये अनुज्ञा दी, एतदर्थ मैं विश्वविद्यालय का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

मराठी ग्रन्थ के प्रकाशन के समय वाकाटक प्रवरसेन द्वितीय का एक और ताम्रशासन मध्यप्रदेश में पांढुर्णा गांव के समीप प्राप्त हुआ। बाद में पवनार के पास गङ्गादेवी की वाकाटककालीन मूर्ति मिली। इन दोनो का अन्तर्भाव प्रस्तुत हिन्दी संस्करण में किया गया है। परिशिष्ट में इसी वर्ष प्रकाश में आए राजा देवसेन के शिलालेख का संक्षिप्त विवेचन दिया गया है।

ग्रन्थ के प्रथम भाग के अन्त मे वाकाटककालीन स्थापत्य, शिल्प एवं चित्रो के उदाहरण दिये गये हैं। इनमें से क्रमाक ४-६ छायाचित्र भारतीय पुरातत्त्वविभाग की अनुमति से दिये गये हैं। क्रमाक ७ एवं ९-१३ के चित्र श्री याजदानी की पुस्तक 'अजन्ता' से लेने की अनुमति आन्ध्र प्रदेश के पुरातत्त्वविभाग ने दी। मैं इन दोनो का हृदय से आभारी हूं। अजन्ता की सोलहवी एवं सत्रहवीं गुहाओ के मानचित्रो मे उन गुहाओ में अंकित चित्रो के क्रमांक देकर उनकी सूची सामने दी गई है। उनसे एवं छठे अध्याय मे दिये गये वर्णन से पाठको को अजन्ता में इन चित्रों को पहचानने में सहायता मिलेगी। तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, ने इसका प्रकाशन करना स्वीकार किया, जिसके लिए मैं उन्हे हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

नागपुर
१५ अगस्त, १९६४

वा० वि० मिराशी

ग्रन्थनामों के संक्षेप

पाद-टिप्पणियों में कुछ स्थलों पर सन्दर्भ-ग्रन्थों के पूरे नाम दिये गये हैं। किन्तु अनेक स्थलों पर ग्रन्थों व पत्रिकाओं के नाम संक्षिप्त रूप में दिये गये हैं। संक्षेप इस प्रकार हैं—

अजन्ता = श्री गुलाम याजदानीकृत 'अजन्ता' (हैदराबाद राज्य द्वारा प्रकाशित)।

अॅ. भां ओ. री. इ. = अॅनाल्स ऑफ् दि भाण्डारकर ओरिएंटल रीसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना।

आ. स. रि. = आर्किऑलॉजिकल सर्व्हे रिपोर्ट।

इ. = इत्यादि।

इं. अॅ. = इण्डियन अॅण्टिक्वेरी।

इं. हि. का. = इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वॉर्टर्ली।

ए. इं. = एपिग्राफिया इण्डिका।

ए. हि. डे = एन्शएट हिस्ट्री ऑफ् दि डेक्कन (जुब्ही डुब्रुइल कृत)।

कॉ. इ. इं. = कॉर्पस् इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकॅरम्।

का. मी = काव्यमीमांसा (राजशेखरकृत, गायकवाड्स ओरिएण्टल सीरीज)।

ज. ए. सो. बें. = जर्नल ऑफ् दि एशियाटिक सोसायटी ऑफ् बेंगाल।

ज. न्यू. सो. इ = जर्नल ऑफ् दि न्यूमिस्मॅटिक सोसायटी ऑफ् इण्डिया।

ज. रॉ. ए. सो = जर्नल ऑफ् दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, लंदन।

न्यू. हि. इं. पी. = न्यू हिस्ट्री ऑफ् दि इंडियन पीपल (मजूमदार व पुसालकर द्वारा सम्पादित)।

प्रो. रि. आ. स. वे इ. = प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ् दि आर्किऑलॉजिकल सर्व्हे ऑफ् वेस्टर्न इंडिया।

सूचना

द्वितीय खंड में उत्कीर्ण लेखों का वाचन करते समय अधोनिर्दिष्ट संकेत ध्यान में रखने योग्य हैं—

(१) चौकोन कोष्ठक [ ] में दिए गए अक्षर अस्पष्ट हैं।

(२) चौकोन कोष्ठक मे दिए गए तारकांकित अक्षर [*] मूल में नहीं हैं अथवा नष्ट हो गए हैं और सम्पादक द्वारा सुझाए गए हैं।

(३) वर्तुल कोष्ठक ( ) में दिए गए अक्षर मूल लेख के अशुद्ध अक्षरों के स्थान पर शुद्ध पाठ के रूप में सुझाए गए हैं।

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२	२६	रुद्रसेन	रुद्रदेव
१३	९	राजा रुद्रसेन का	राजा रुद्रदेव का
४७	२८	कु० ८	क्र० ८
५८	१७	चन्दनामक	चन्द्रनामक
६४	२२	कूपसिक	कूर्पासक
२५३	शीर्षक	प्रवरसेन	देवसेन

विषय-सूची

प्रथम खण्ड : वाकाटक राजवंश का इ इतिहास

अध्याय १ : प्रास्ताविक

भारतीय इतिहास में वाकाटक राज्यकाल का महत्त्व—सन् १८३६ तक ये राजा पूर्णतः अज्ञात थे- उनके विषय में डॉ० भाऊदाजी का मत—उनके काल के विषय मे विविध मत – पूना ताम्रपट के आधार पर उनके काल का निश्चय–कृष्णस्वामी आयंगार, डुब्रुइल एवं जायसवाल का शोध कार्य–वाशीम ताम्रपट से उपलब्ध नयी जानकारी—वाकाटक वंश की शाखाएं–नन्दिवर्धन और वत्सगुल्म–कुन्तल देशाधिपति राष्ट्रकूट मानांक, महिष राजा शक मान और नल राजा भवदत्तवर्मा के साथ वाकाटको का सम्बन्ध १

राजकीय इतिहास

वाकाटक राजाओं का कालक्रम ७

वाकाटकों का मूलस्थान . ...

वाकाटक उत्तर भारतीय थे यह प्रचलित मत—उसके आधारभूत प्रमाणोंका परीक्षण—(१) पुराणो में उल्लेख; (२) समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में उल्लिखित रुद्रदेव; (३) पृथिवीषेण के माण्डलिको के नचना एवं गंज अभिलेख; (४) वाकाटको के उत्कीर्ण लेखो एवं मुद्राओं के प्राप्तिस्थान – निष्कर्ष;—वाकाटकों के दक्षिण भारतीयता के प्रमाण—(१) अमरावती शिलालेख; (२) वाकाटक लेखों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द; (३) वाकाटकों के बिरुद; (४) उनके सचिवो का मूलस्थान ११

आद्य वाकाटक नृपति—प्रथम विन्ध्यशक्ति—उत्कीर्ण लेखों में उसका वर्णन—उसके राज्य का विस्तार—प्रथम प्रवरसेन—उसकी राजधानी - उसके राज्य का विस्तार—उसके श्रौत यज्ञ - भारशिवो से उसका वैवाहिक सम्बन्ध—उसके चार पुत्र १९

ज्येष्ठ शाखा—प्रथम रुद्रसेन - उसका देवटेक लेख—समुद्रगुप्त का दक्षिण अभियान—गुप्तो एव वाकाटको का राजनीतिक सम्बन्ध—प्रथम पृथिवीषेण—पश्चिमी शक क्षत्रपों से गुप्तों के युद्ध में सहायता – द्वितीय रुद्रसेन का प्रभावतीगुप्ता से विवाह—

नन्दिवर्धन राजधानी—राजपुत्र दिवाकरसेन—प्रभावतीगुप्ता की रीजन्सी—गुप्त अधिकारियों का साहाय्य—कालिदास का विदर्भ में निवास—द्वितीय प्रवरसेन—उसकी प्राकृत काव्यरचना—प्रवरपुर राजधानी—नरेन्द्रसेन—कुन्तलराज से वैवाहिक सम्बन्ध—उत्तरी विजय—मालव, मेकल व कोसल में उसके माण्डलिक—नलनरेश भवदत्तवर्मा का विदर्भ पर आक्रमण—पद्मपुर राजधानी—द्वितीय पृथिवीषेण—नल राजधानी पर आक्रमण—उत्तरी माण्डलिक व्याघ्रदेव—इस शाखा के कार्य का मूल्यांकन २५

वत्सगुल्म शाखा—वाशीम ताम्रपट—सर्वसेन—वल्लूरकी सचिवशाखा का साहाय्य—वत्सगुल्म राजधानी—सर्वसेन की पदवियां—उसका 'हरिविजय' काव्य एवं प्राकृत सुभाषित—कुन्तल नरेश से युद्ध—वाशीम ताम्रपट की भाषा—विन्ध्यशक्ति की पदवियां—द्वितीय प्रवरसेन—बालराजा—देवसेन—उसका सचिव हस्तिभोज हरिषेण—उसकी विजय—उसका सचिव वराहदेव—हरिषेण के अनन्तर साम्राज्य का अन्त—दशकुमार चरित की कथा—उसका ऐतिहासिक भाग—वाकाटक राज्य का अन्त ... ३८

अध्याय २ : राज्यशासन

देश के विभाग—राष्ट्र अथवा राज्य, विषय, आहार, भोग अथवा भुक्ति, मार्ग, नगर, ग्राम इत्यादि—भौगोलिक नामो का संस्कृतीकरण—राजसत्तात्मक शासन-पद्धति—कल्याणकारी राज्य—राजाओ की उपाधिया—माण्डलिक—क्या राज्ञी एवं राजपुत्र का शासन-कार्य मे भाग था ?—अधिकारी—सचिव, राज्याधिकृत, सर्वाध्यक्ष, कुलपुत्र, छात्र, भट, रज्जुक, सेनापति, दण्डनायक, दूतक, ग्रामकूट, द्रोणाग्रनायक, दौवारिक अथवा प्रतीहार, गण्डक—आय के स्रोत—क्लृप्त, उपक्लृप्त, अन्य कर—राज्य शासन का मूल्यांकन ४६

अध्याय ३ : सामाजिक परिस्थिति

चातुर्वर्ण्य—अनुलोम विवाह—ब्राह्मणो के कर्म—उनकी वैदिक शाखाएं—राज्य-शासन में भाग—क्षत्रिय, वैश्य—दाससंस्था ५६

सामाजिक रहनसहन के ज्ञान के साधन—संस्कृत व प्राकृत वाङ्मय-अजन्ता क्रमांक १६, १७ व १९ की गुफाओ की मूर्तिया और चित्र—देवालयों व घरों का निर्माण—द्वार, तम्बू, दूकान—घरेलू सामान (फर्निचर), बरतन—समाज के विविध वंशों के लोग—आदिवासी, आर्य, शक, यवन, चीनी—स्त्री-पुरुषो के वस्त्र-अधोरुक-पिछला-कच्छ-राजतरंगिणी मे दाक्षिणात्यो की परिधान-पद्धति का वर्णन—स्त्रियो की परिधान पद्धति—विकच्छ एवं सकच्छ-चण्डातक तुमान-पूरी बाहो का कोट—कमर में उत्तरीय बांधने की पद्धति—अत्यन्त सूक्ष्म वस्त्र—पयोधरपट—शाकुन्तल में वर्णित चोली—ग्रांधी

बाँह का ब्लाउज—स्त्रियों की चोली—जाकेट-बालकों के वस्त्र-बौद्धों के वस्त्र—केश-रचना एवं शिरो-भूषण-दुकूल-पट्टिका-सिर पर टोप-बालकों की जुल्फें-नग्न क्षपणक-स्त्रियों की केश-रचना के अनेक प्रकार-सिर पर घूंघट-कुंकुम एवं नथ का अभाव-कहीं-कहीं बुरका—पुरुषों के अलंकारों के विविध प्रकार-मुकुट, हार, केयूर, कंकण—स्त्रियों के अलंकार—तिलकमणि अथवा चटुलातिलक -मोतियों के शिरोभूषण-पाटली व कंकण-कांची—पैरों के वलय—पुरुषों के पैरों के चप्पल-शस्त्र—घोड़ों का सामान—हाथी की सजावट—घर—गृहस्थी का सामान—छत्र, चामर, वाद्य—पशु—जलचर प्राणी इत्यादि ५९

अध्याय ४ : धार्मिक परिस्थिति

वंश-संस्थापकों का बौद्धधर्मानुयायित्व—वैदिक धर्म का प्रसार—विन्ध्यशक्ति और प्रथम प्रवरसेन के श्रौत याग - गृह्य याग—प्रवरेश्वर, रामगिरिस्वामी एवं रामचन्द्र के देवालय—अजन्ता की बौद्ध गुफाएं—एकादशी व्रत का प्रसार ... ७१

अध्याय ५ : संस्कृत और प्राकृत साहित्य

संस्कृत काव्यरचना को प्रोत्साहन वैदर्भी रीति—युवराज दिवाकरसेन के संस्कृत सुभाषित—मेघदूत प्राकृत काव्य—हरिविजय—उसका कथानक—उसकी भाषा व सर्वसेन की प्राकृत गाथाएं—वच्छोमी रीति—प्रवरसेनकृत सेतुबन्ध—उसकी गाथाएं-वर्ण्यविषय—अन्य राजाओं की प्राकृत काव्य-रचना—'सेतु' ग्रन्थ—उसके रचयिता छप्पन कवि ७८

अध्याय ६ : स्थापत्य, शिल्पकला एवं चित्रकला

वाकाटककालीन देवालय—रामगिरि पर त्रिविक्रम की मूर्ति—प्रवरपुर के अवशेष—तिगोवा का मन्दिर—पाण्डववंशी माण्डलिकों द्वारा निर्मित देवालय का वर्णन—उसकी मूर्तियां—गंगा व यमुना—नचना का मन्दिर—उसका वर्णन-अजन्ता की तीन गुफाएं ९२

क्रमांक १६ की विहारगुहा—उसके चैत्यमन्दिर की बुद्धमूर्ति—उसके चित्र—उनका वैशिष्ट्य—बुद्ध के अन्तिम प्रसंग का चित्रण १००

क्रमांक १७ की विहारगुहा—उसके चैत्यमन्दिर की मूर्तियां—उनके चित्रों का वैशिष्ट्य—जातक-कथा—छत पर नक्काशी का काम ... १०५

क्रमांक १९ की चैत्यगुहा (गन्धकुटी)—उसका शिल्प—चैत्य पर की मूर्तियां—इस गुहा का वैशिष्ट्य ११६

घटोत्कच गुहा—किसने खुदवाया—उसका वर्णन—स्तम्भ, वातायन, चैत्य-मन्दिर—उसकी बुद्ध-मूर्ति ११८

परिशिष्ट :

वाकाटक नृपतियों की प्राकृत गाथाएं १२०

द्वितीय खण्ड : वाकाटक नरेशों, उनके माण्डलिकों और सचिवों के उत्कीर्ण लेख

नन्दिवर्धन शाखा

वाकाटक नरेशों के लेख

१. प्रथम रुद्रसेन का देवटेक शिलालेख १२९

२. प्रभावतीगुप्ता का पूना ताम्रपट १३४

३. द्वितीय प्रवरसेन का जांब ताम्रपट १४०

४-५. द्वितीय प्रवरसेन के दो बेलोरा ताम्रपट ... १४६

६. द्वितीय प्रवरसेन का चम्मक ताम्रपट १५५

७. द्वितीय प्रवरसेन का सिवनी ताम्रपट १६२

८. प्रभावतीगुप्ता का ऋद्धपुर ताम्रपट १६७

९. द्वितीय प्रवरसेन का इंदूर ताम्रपट १७४

१०. द्वितीय प्रवरसेन का दुदिया ताम्रपट १८०

११. द्वितीय प्रवरसेन का तिरोडी ताम्रपट ... १८४

१२. द्वितीय प्रवरसेन का वडगाव ताम्रपट ... १९०

१३. द्वितीय प्रवरसेन का पट्टन ताम्रपट १९७

१४ द्वितीय प्रवरसेन का पाढुर्णा ताम्रपट २०५

१५. द्वितीय प्रवरसेन का पटना संग्रहालय ताम्रपट २१२

१६. द्वितीय प्रवरसेन का रामटेक ताम्रपट २१६

१७. अपूर्ण दुर्ग ताम्रपट २२०

१८. द्वितीय पृथिवीषेण का बालाघाट ताम्रपट २२४

माण्डलिकों के लेख

१९. भरतबल का बम्हनी ताम्रपट २२८

२०-२१. व्याघ्रदेव के दो नचना शिलालेख २३९

२२. व्याघ्रदेव का गंज शिलालेख २४०

वत्सगुल्म शाखा

वाकाटक नरेशों के लेख

२३. द्वितीय विन्ध्यशक्ति का वाशीम ताम्रपट ... २४२

२४. देवसेन का इण्डिया ऑफिस ताम्रपट ... २५१

अमात्यों और माण्डलिकों के लेख

२५ वराहदेव का अजन्ता लेख २५४

२६. वराहदेव का घटोत्कच गुहालेख २६५

२७. अजन्ता की १७वीं गुहा का लेख २७५

परिशिष्ट — देवसेन का बोराले शिलालेख २८९

सूची २९१

प्रथम खण्ड

वाकाटक राजवंश का इतिहास

प्रास्ताविक

वाकाटक साम्राज्यकी गणना प्राचीन भारतके अत्यन्त शक्तिशाली तथा सुसमृद्ध साम्राज्योंमें की जाती है। ईसाकी तृतीय शताब्दीके मध्यसे षष्ठ शताब्दी के मध्य तक वाकाटकोंने विदर्भपर राज्य किया। लगभग तीन शताब्दियोंके इस शासनकालमें वाकाटकोंने नर्मदासे तुंगभद्रा पर्यन्त और अरब सागरसे बंगालकी खाड़ी तक अपनी प्रभुसत्ताका विस्तार किया। नर्मदाके उत्तरमें स्थित मालव, मेकल तथा चेदि राज्योंको भी कुछ समयके लिये वाकाटकोंकी प्रभुसत्ता स्वीकार करनी पड़ी थी। संस्कृत तथा प्राकृत कवियोंको इन राजाओंका उदार आश्रय प्राप्त था। उस समय विदर्भमें साहित्य-निर्मितिके क्षेत्रमें वैदर्भी तथा वच्छोमी रीतियोंको प्राधान्य प्राप्त हुआ और कालिदासके सदृश महाकवियोंको इन शैलियोंमें काव्य-प्रणयनकी स्फूर्ति मिली। स्वयम् वाकाटकों द्वारा प्रणीत काव्योंकी प्रशंसा बाण और दण्डी जैसे कवियों तथा कुन्तक व हेमचन्द्र जैसे आलङ्कारिकोंने मुक्तकण्ठसे की है। उनके द्वारा बंधवाये हुए उत्तुंग देवालय आज अस्तित्वहीन हैं, किन्तु उनके अवशेषोंमें उपलब्ध कलाकृतियोंने तज्ज्ञ कलाकोविदोंका ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। उनके मतानुसार इस शिल्पकी गणना प्राचीन कालकी उत्कृष्ट कलाकृतियोंमें की जानी चाहिए। उनके अमात्यों और माण्डलिकोंने अजन्ता और गुलवाडाकी पहाड़ियोंमें जिन विहारों और चैत्योंको खुदवाकर मूर्तियों और चित्रोंसे अलंकृत किया वे आज भी अपने सौन्दर्यके लिए विश्वविख्यात हैं। इस प्रकार सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी इतिहासकार जुव्हो डुब्रुइलके इन उद्गारोंमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है कि 'ईस्वी सन्की तृतीय शताब्दीसे षष्ठ शताब्दी पर्यन्त दक्षिण भारतमें जो राजवंश अस्तित्वमें आये उनमें वाकाटक राजवंश सर्वश्रेष्ठ था तथा उसके कार्योंका दक्षिण भारतकी संस्कृतिपर गहरा प्रभाव पड़ा है।'[1]

इसके बावजूद लगभग सवा सौ वर्ष पूर्व इस महान् राजवंशके सम्बन्धमें किसीको कुछ भी जानकारी न थी। १८३६ में प्राप्त प्रवरसेन द्वितीयके सिवनी ताम्रपटसे इस वंशका नाम सर्वप्रथम ज्ञात हुआ। यह सत्य है कि इस वंशके संस्थापक विन्ध्यशक्तिका नाम पुराणोंमें आता है, किन्तु उस स्थलके अशुद्ध पाठ तथा त्रुटिपूर्ण अन्वयार्थके कारण वह विन्ध्यशक्ति यवन अथवा ग्रीक वंशका एक राजा माना जाता था। अजन्ताकी सोलहवीं गुहामें उत्कीर्ण लेखमें आरम्भसे हरिषेण पर्यन्त वाकाटकोंकी पूरी वंशावली दी गई है। इस लेखका अध्ययन करनेपर भी डॉ०

१. जुव्हो डुब्रुइल, एन्शन्ट हिस्ट्री ऑफ् दि डेक्कन, पृ. ७१।

भाऊ दाजीने सन् १८६२ में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये थे—'वाकाटक नृपति यवन अथवा ग्रीक वंशके थे। उन्होने वैदिक यज्ञोके अनुष्ठान और बौद्धधर्मके प्रोत्साहनके लिये महान् व अत्यन्त व्ययसाध्य कार्य करनेमें महत्त्वपूर्ण भाग लिया था।' किन्तु परवर्ती संशोधनके परिणामस्वरूप अब यह सिद्ध हो चुका है कि इस वंशका मूल पुरुष विन्ध्यशक्ति ब्राह्मण था, क्योकि अजन्ताके उपरिनिर्दिष्ट लेख में उसे 'द्विज' कहा गया है। वाकाटकोके विष्णुवृद्ध गोत्रका उल्लेख भी उनके अनेक ताम्रपटोमें प्राप्त होता है। इस प्रकार अब यह सर्वमान्य हो चुका है कि सातवाहनोके समान वाकाटक भी ब्राह्मण थे। इस एक उदाहरणसे इस बातकी कल्पना की जा सकती है कि गत पचास वर्षोमे शोधकोके परिश्रमसे इस राजवंशके विषयमें हमारे ज्ञानमे कितनी अधिक वृद्धि हुई है।

वाकाटकोके विषयमे जानकारी प्राप्त होनेपर भी उनका काल अनेक वर्षो तक अनिश्चित था। इसके अनेक कारण हैं। उत्तर भारतके राजाओके समान वाकाटकोने अपना कोई स्वतन्त्र संवत् आरम्भ नही किया। उनके सब दानपत्रोंमें कालनिर्देश विद्यमान राजाके राज्यारम्भके वर्षोमे किया गया है। इन कारणोसे उत्कीर्ण लेखोके अक्षरोकी बनावटके आधारपर ही उनका कालनिश्चय करना पडता था। वाकाटकोंके प्रायः सभी लेख पेटिका-शीर्षक लिपि (Box-headed characters) में उत्कीर्ण हैं। यह लिपि थोडे ही कालमे स्थिर हो चुकी थी। परिणामतः इस आधार पर लेखोका कालनिर्णय करनेके विषयमें सुप्रसिद्ध लिपिशास्त्रज्ञोमे भी मतभेद था। डॉ० बुल्हरके मतानुसार वाकाटक नृपति ईस्वी सन्की पाचवी शताब्दीमे हुए[1]। इसके विपरीत डॉ० फ्लीट[2] तथा डॉ० कीलहॉर्नके[3] मतमे उनका काल ईसाकी आठवी शती था। वाकाटकोंके ताम्रपत्रोके अनुसार प्रवरसेन द्वितीयके मातामहका नाम महाराजाधिराज देवगुप्त था[4]। डॉ० फ्लीटने इस देवगुप्तकी पहचान बिहार राज्यके देववारूणार्क नामक ग्रामके उत्कीर्ण लेखमे[5] उल्लिखित मगधराज आदित्यसेनके पुत्र महाराजाधिराज देवगुप्तसे की थी। यह मगधनृपति देवगुप्त सातवी शताब्दीके अन्तमें हुआ। अतः डॉ० फ्लीटके विचारमे वाकाटक राजाओने खिस्तोत्तर सातवीं-आठवीं

१ इं. पं., जिल्द १२, पृ २३९।
२. कॉ. इ इं. जिल्द ३, प्रस्तावना, पृ १५।
३. ए इं., जिल्द ३, पृ. २६०।
४. देखिये—'महाराजाधिराजश्रीदेवगुप्तसुतायां प्रभावतीगुप्तायामुत्पन्नस्य ··· वाकाटकानाम् परममाहेश्वरमहाराजश्रीप्रवरसेनस्य वचनात् ··· (क्रमांक, ४, पं., ११-१२)।
५ कॉ इ इं., जि. ३, पृ. २१३ इत्यादि।

शताब्दियोंमें राज्य किया। सन् १९१२ में पूनाके एक कसेरेके घरमें प्रभावतीगुप्ताका ताम्रपट प्राप्त हुआ। उसके वाचनसे डॉ० फ्लीटका मत अशुद्ध सिद्ध हुआ। डॉ० का० बा० पाठक और रावबहादुर काशीनाथ नारायण दीक्षितने सर्वप्रथम इण्डियन ॲन्टिक्वरी[1] में इस ताम्रपटपर उत्कीर्ण लेखका सारांश प्रकाशित किया और कुछ वर्ष पश्चात् सम्पूर्ण लेखको एपिग्राफिया इण्डिका[2] में सम्पादित किया। इस लेखमें यह स्पष्ट कहा गया है कि वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीयकी पटरानी (अग्र-महिषी) तथा युवराज दिवाकरसेनकी माता प्रभावतीगुप्ता गुप्तसम्राट् महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त द्वितीयकी पुत्री थी। इससे गुप्त और वाकाटक वंशोंका पारस्परिक सम्बन्ध ज्ञात हुआ और पहलीबार वाकाटकोंका काल पूर्णतः निश्चित हुआ। इस कारण वाकाटकोंके इतिहासमें इस ताम्रपत्रको विशेष महत्त्व प्राप्त है। इस ताम्रपत्रमें उल्लिखित गांवोंकी पहचान उस समय नहीं की जा सकी थी, वह आगे चलकर मैंने की। इसके फलस्वरूप यह सिद्ध हो चुका है कि मूलतः यह ताम्रपट विदर्भके वर्धा जिलेकी हिंगणघाट तहसीलमें था[3]। ताम्रपट अपने मूलस्थानसे सैकड़ो मील दूर कैसे प्राप्त होते हैं, यह उसका एक उत्तम उदाहरण है।

पूना ताम्रपटसे वाकाटकोंका काल निश्चित होनेके पश्चात् उनके इतिहासके विषयमें हमारा ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता गया। डॉ० विन्सेन्ट स्मिथने सन् १९१४ में प्रकाशित अपने अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (भारतका प्राचीन इतिहास) नामक ग्रन्थकी तृतीय आवृत्तिमे वाकाटकोंपर एकभी पंक्ति नहीं लिखी थी, किन्तु आगे चलकर उन्होंने रॉयल एशियाटिक सोसायटीकी पत्रिकाके १९१४ के अङ्कमें (पृ० ३१७ इत्यादि) उस समय तक उपलब्ध वाकाटकोंके सभी ताम्रपत्रो और शिलालेखोंका अध्ययन कर वाकाटकोंके इतिहासपर जानकारीपूर्ण लेख लिखा। इस प्रकार भारतके प्राचीन इतिहासमें वाकाटकोंका स्थान निश्चित हुआ। इसके अनन्तर डॉ० कृष्णस्वामी आयंगार[4] और प्रा० जूल्हो ड्युब्रुइल[5] ने भी अपने लेखोंमें इस राजवंशपर अधिक प्रकाश डाला। किन्तु इन सबकी अपेक्षा स्व० डॉ० काशीप्रसाद जायसवालने वाकाटको के उज्जवल इतिहासकी ओर विद्वानोंका ध्यान अधिकाधिक आकृष्ट किया तथा भारतीय इतिहासमें उन्हे उनका उचित स्थान प्राप्त कराया। सन् १९३३ में प्रकाशित अपने 'ख्रिस्तोत्तर १५० से ३५० तक का भारतीय इतिहास' नामक अंग्रेजी ग्रन्थको उन्होंने 'नाग-वाकाटकोंके साम्राज्यका काल'

१. जिल्द ४१ (१९१२), पृ. २१५। २. जिल्द १५, पृ. ३९ इत्यादि।
३. ए. इं, जि. २६, पृ. १५९ इत्यादि।
४. एन्शंट इंडिया, जि. १, पृ. ७१ इत्यादि।
५. एन्शन्ट हिस्ट्री ऑफ् दि डेक्कन, पृ. ७१ और आगे।

यह द्वितीय नाम दिया और यह प्रतिपादित किया कि समुद्रगुप्तके उदयके पूर्व साठ वर्ष तक केवल वाकाटक राजाही सम्राट पदवीके अधिकारी थे। डॉ॰ जायसवालके मतका साराश उनके अधोनिर्दिष्ट शब्दोमें दिया जा सकता है: 'वाकाटक राजा विन्ध्यशक्तिके पुत्र प्रवरसेन प्रथमने राज्यशासन विषयक एक विशिष्ट कल्पना की। वह कल्पना यह थी कि सम्पूर्ण भारतपर हिन्दुओका साम्राज्य होना चाहिए तथा उसमें धर्मशास्त्रो को सम्मानका स्थान दिया जाना चाहिए। दूसरी बात यह कि खिस्तोत्तर २५० के लगभग सस्कृत भाषा तथा वाङ्मयकी अभिवृद्धिकी हलचल आरम्भ हुई और पचास वर्षोंमें उसके अच्छी स्थितिमे पहुंच जानेपर गुप्त राजाओंने उसे राजाश्रय दिया। तीसरी बात यह कि उस कालमे वर्णाश्रमधर्मका पुनरुज्जीवन हुआ और सनातन धर्मको विशेष महत्त्व मिला। वाकाटक साम्राज्यमें जनताकी मांग थी कि कुषाणोंके राज्यकालमें समाजमें जो अवगुण उत्पन्न हो गए थे उनका परिमार्जन किया जाय। यह हिन्दू समाजका शुद्धि आन्दोलन था जिसे सम्राट् प्रवरसेनके राज्यकालमे विशेष बल मिला। चौथी बात यह है कि स्वयम् वाकाटकोंके राज्यमे स्थित अजंताकी गुहाओमें शिल्पकला व चित्रकलाका पुनरुज्जीवन हुआ। संस्कृत भाषाके पुनरुज्जीवनके समान हिन्दू कलाके इस उत्कर्षका सम्पूर्ण श्रेय आधुनिक लेखक गुप्त राजाओको देते हैं, किन्तु वस्तुतः यह श्रेय वाकाटकोको दिया जाना चाहिए।'[1] नाग, वाकाटक व पल्लव राजाओके विषयमें डॉ॰ जायसवालकी अनेक कल्पनाए परीक्षण करनेपर निर्मूल सिद्ध हो चुकी हैं, तथापि उनके द्वारा की गई वाकाटकोकी ओजस्वी वकालतके परिणामस्वरूप इस राजवंशको गौरव प्राप्त हुआ और उनके महान् कार्योंकी ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ इसमें संशय नहीं।

इसके अनन्तर विदर्भके अकोला जिलेके वाशीम नामक ग्राममें १९३९ में प्राप्त विन्ध्यशक्ति द्वितीयके ताम्रपत्रने वाकाटक इतिहास विषयक हमारे ज्ञानमें महत्त्वपूर्ण अभिवृद्धि की। इसके पूर्व जिन लेखकोंने वाकाटकोके इतिहासपर कुछ लिखा था उन सभीने यह प्रतिपादित किया था कि वाकाटक वंश लगभग अन्त तक अखण्डित रहा। किन्तु इस धारणाके विरोधी प्रमाण पुराणोमें व अजंताकी सोलहवीं गुहाके लेखमे उपलब्ध होते हैं। पुराणोमें उल्लिखित विन्ध्यशक्तिके पुत्र प्रवीरकी पहचान वस्तुतः वाकाटक सम्राट् प्रवरसेन प्रथमसे ही की जानी चाहिए। पुराणोके कथनानुसार इस प्रवीरके चार पुत्र थे जो सभी आगे चलकर राजा हुए।[2]

१. हिस्ट्री ऑफ् इन्डिया, पृ. ९५।

२. द्रष्टव्य-विन्ध्यशक्तिसुतश्चापि प्रवीरो नाम वीर्यवान्।
भोक्ष्यते स समाः षष्टि पुरिकां चनकां च वै॥
यक्ष्यते वाजपेयैश्च समाप्तवरदक्षिणैः।
तस्य पुत्रास्तु चत्वारो भविष्यन्ति नराधिपाः॥ डा. क, ए., पृ. ५०.

अजंताके उपरिनिर्दिष्ट लेखमें वाकाटक राजाओं की जो वंशावली दी गई है वह सिवनी, चम्मक इत्यादि उस समय तक उपलब्ध ताम्रपटों से मेल नहीं खाती। तथापि इन विरोधी प्रमाणों की ओर ध्यान न देकर सभी इतिहासकारोंने यह प्रतिपादित किया था कि वाकाटकों की एक ही शाखा राज्य कर रही थी। एपिग्राफिया इन्डिका[1] मे वाशीम ताम्रपत्र सम्पादित करते हुए मैंने यह सिद्ध किया कि प्रवरसेन प्रथमके निधनके पश्चात् वाकाटकवंश चार शाखाओंमें विभक्त हुआ। पुराणोका यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि प्रवरसेनके चार पुत्र थे। उनमेंसे दोके नाम हमें ज्ञात हैं—(१) ज्येष्ठपुत्र गौतमीपुत्रकी अपने पिताके राज्यकालमें मृत्यु हो जानेके कारण उसके पुत्र रुद्रसेन प्रथमने नन्दिवर्धन शाखा स्थापित की। (२) दूसरे पुत्र सर्वसेनका उल्लेख वाशीमके ताम्रपटमें मिलता है। इसने वत्सगुल्म अर्थात् वाशीम शाखाकी स्थापना की। सर्वसेन व उसके पुत्र विन्ध्यसेन अर्थात् विन्ध्यशक्तिका नामोल्लेख अजंताके उपरिनिर्दिष्ट लेखमें था, किन्तु सम्प्रति इस लेखके त्रुटित हो जानेके कारण उन वाकाटक राजाओंके नाम डॉ० भाऊ दाजी, पण्डित भगवानलाल इन्द्रजी और डॉ० बुल्हरके पढ़नेमें नहीं आये थे यह भी मैंने अपने उपर्युक्त लेखमे स्पष्ट किया है। प्रतीत होता है कि उत्तर विदर्भ वाकाटकोंकी ज्येष्ठ शाखाके अधिकारमे था तथा गोदावरीके तट तक विस्तृत दक्षिण विदर्भ पर वत्सगुल्म शाखाका शासन था। प्रवरसेनके अन्य दो पुत्र कहां राज्य करते थे यह आज भी निश्चित नही है। सम्भवतः उनमेंसे एक गोदावरीके दक्षिणमें कुन्तल देश पर राज्य करता था और दूसरा कोसल (छत्तीसगढ़) पर। कुन्तल देशमें कुछ काल पश्चात् राष्ट्रकूट राजा मानाङ्कने अपना राज्य स्थापित किया। इसके फलस्वरूप वहांकी वाकाटक शाखाका अन्त हो गया यह मैंने अपने 'मानपुरके राष्ट्रकूट' नामक लेखमे स्पष्ट किया है।[2] मानाङ्कने अपने नामसे मानपुर नामक नगरकी स्थापना कर वहां अपनी राजधानी स्थिर की। यह मानपुर महाराष्ट्रके सातारा जिलेमें माण नदीके तट पर स्थित माण होना चाहिए। इसके अनन्तर सन् १९४५ से १९५१ के बीच हैदराबादके मेरे मित्र श्री हुरमुज् कौस तथा हैदराबाद संग्रहालयके अध्यक्ष श्री ख्वाजा मुहम्मद अहमदने हैदराबाद राज्यमें स्थित कोंडापुरके उत्खननमे और अन्यत्र प्राप्त शकनृपति माण महिष तथा उसके कुछ वंशजोके सिक्के मेरे पास वाचनके लिए भेजे। इनसे हैदराबाद राज्यके दक्षिण भागमे राज्य करने

१. जिल्द २६, पृ० १३७ आदि।

२. अं. भां. ओ री. इ, जि. २५, पृ० ३६ आदि। स्ट इ. इं., जिल्द १, पृ १७८ आदि।

वाले शक राजाओंके विषयमें निश्चित जानकारी प्राप्त हुई।[1] कुन्तल देशके ये राष्ट्रकूट तथा शकराजा वाकाटकोके दक्षिण दिशाके प्रत्यन्त नृपति थे। इसी प्रकार बस्तर जिला व उसके पूर्वकी ओर कुछ प्रदेश पर राज्य करनेवाले नल राजा पूर्व दिशामें वाकाटकोके प्रत्यन्त नृपति थे। विगत पच्चीस-तीस वर्षोंमें मध्यप्रदेशमें व अन्यत्र प्राप्त हुए नलोके कतिपय उत्कीर्ण लेखो[2] और सिक्कोसे[3] भी वाकाटकोंके इतिहास पर थोडा-बहुत प्रकाश पड़ा है।

वाकाटक इतिहासके इस सिंहावलोकनसे यह स्पष्ट हो गया होगा कि गत सवासौ वर्षोंमें इस राजवंशके विषयमें हमारा ज्ञान किस प्रकार धीरे-धीरे बढ़ता रहा है। वाकाटक इतिहासके कुछ पहलू आज भी अन्धकारमें हैं। उनपर भावी संशोधनसे प्रकाश पड़नेकी आशा है। तथापि अब तक उपलब्ध सूचनासे इस इतिहासकी रूपरेखा बहुत अधिक स्पष्ट हो चुकी है तथा वाकाटकोंके कार्योंका मूल्याङ्कन करना भी सम्भव हो सका है। अगले पृष्ठोंमें इस दिशामे एक प्रयत्न किया गया है।

१. इं. हि. क्वॉ., जि. २२, पृ० ३२, ज. न्यू सो. इं, जि. ११ पृ० १; जि १२, पृ० ८७, जि. १२, पृ० ९, जि. १५, पृ० १ आदि। स्ट. इ इं, जिल्द ३, पृ. ५६ आदि।

२. ए इं., जि २१, पृ० १५३ आदि; जि. २८, पृ० १२ आदि।

३. ज. न्यू. सो. इं. जि. २९ इत्यादि।

१. राजकीय इतिहास

वाकाटक राजाओंका कालक्रम

प्रभावतीगुप्ताके पूना-ताम्रपटसे यह निश्चित है कि वाकाटक राजा सामान्यतः गुप्तोंके समकालीन थे। तथापि उनमेंसे प्रत्येक राजाके राज्यकालके वर्ष आज भी अनिर्णीत हैं, व केवल अनुमानसे ही ठहराये जा सकते हैं। किन्तु वाकाटक कालगणनाके सम्बन्धमें कुछ मान्यताएँ अब निश्चित हो चुकी हैं। डॉ० जायसवालके मतानुसार सन् २५० के लगभग आरम्भ हुए कलचुरी-चेदि संवत्की स्थापना मूलतः वाकाटकोंने की थी। यह मत सम्प्रति किसीको भी मान्य नहीं है। कारण स्वयम् वाकाटकोंके ही ताम्रपत्र लेखोंमें इस संवत्का उपयोग किया हुआ नहीं मिलता। तथापि सातवाहनोंके अन्तके पश्चात् सन् २५० के आसपास जिस प्रकार उत्तर महाराष्ट्र, गुजरात और कोङ्कण प्रदेशो पर आभीरोंकी सत्ता व्याप्त थी[1], उसी प्रकार विदर्भ वाकाटकोंकी सत्ताके अन्तर्गत रहा होगा ऐसा प्रतीत होता है। आद्य नृपति विन्ध्यशक्ति प्रथमने लगभग बीस वर्ष (सन् २५० से २७०) राज्य किया होगा। पुराणोंमें उसके नाम पर उल्लिखित बियानवे वर्ष[2] उसके राज्यकालके न होकर उसकी आयुके होने चाहिए, यह स्पष्ट है। पुराणोंके कथनानुसार विन्ध्यशक्तिके पुत्र प्रवरसेन प्रथमने साठ वर्ष राज्य किया[3]। प्रवरसेनके चार अश्वमेध और वाजपेयादि अनेक श्रौत याग करनेका उल्लेख वाकाटकोंके प्रायः सभी ताम्रपटोंमें मिलता है। फलतः यह वर्षसंख्या असम्भव प्रतीत नही होती। इस प्रकार प्रवरसेन प्रथमने सन् २७० से ३३० तक राज्य किया होगा। प्रवरसेनके सुदीर्घ राज्यकालके कारण उसके ज्येष्ठ पुत्र गौतमीपुत्रका निधन उसके (प्रवरसेनके) राज्यकालमें ही हो गया। प्रवरसेनके अनन्तर उसके साम्राज्यका बटवारा हो गया और उसका पौत्र तथा गौतमीपुत्रका पुत्र रुद्रसेन प्रथम उत्तर विदर्भपर राज्य करने लगा। यदि यह मान लिया जाय कि उसने बीस वर्ष राज्य किया तो उसका राज्यकाल सन् ३५० के लगभग समाप्त हुआ होगा। वाकाटक ताम्रपटोंके वर्णनसे इस अनुमानको पुष्टि मिलती है। जब रुद्रसेन प्रथमका पुत्र पृथिवीषेण प्रथम सन् ३५० के आसपास गद्दी पर बैठा उस समय वाकाटक राज्यकी

१. कॉ. इ. इं., जिल्द ४, प्रस्तावना, पृ० ३१।

२. द्रष्टव्य—'ततः कोलिकिलेभ्यश्च विन्ध्यशक्तिर्भविष्यति।
समाः पण्णवतिं भूत्वा पृथिवीं तु समेष्यति॥' डा. क. ए., पृ. ४८।

३. वही, पृ० ५०।

स्थापनाको सौ वर्ष हो चुके थे[1]। वाकाटकोंके ताम्रपत्रोंमें भी कहा गया है कि पृथिवीषेण प्रथमके कालमें राज्यका कोश व सैन्य सौ वर्ष तक सतत वृद्धिको प्राप्त करता रहा। प्रतीत होता है कि पृथिवीषेणने दीर्घ काल तक राज्य किया, क्योंकि उसके ताम्रपटोंके वर्णनके अनुसार उसे उसके राज्यकालमें पुत्र-पौत्र हो चुके थे। इसके अतिरिक्त उसका पुत्र रुद्रसेन द्वितीय गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्यका जामाता था[2]। विन्सेन्ट स्मिथका यह अनुमान ठीक प्रतीत होता है कि वाकाटक और गुप्त राजवंशोंके बीच यह वैवाहिक सम्बन्ध चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा सन् ३९५ के आसपास शक क्षत्रपो पर किये गये अभियानके कारण स्थापित किया गया था[3]। इसके अनन्तर शीघ्र ही पृथिवीषेण प्रथमका राज्यकाल समाप्त होनेपर सन् ४०० के लगभग रुद्रसेन द्वितीय गद्दीपर बैठा। उसने सम्भवतः बहुत थोड़े समय तक (लगभग सन् ४०० से ४०५) राज्य किया, क्योंकि उसकी मृत्युके समय उसके पुत्र दिवाकरसेन और दामोदरसेन उर्फ प्रवरसेन द्वितीय अत्यन्त अल्पवयस्क थे। यह बात इससे स्पष्ट है कि इनमेसे पहले पुत्रके नामपर युवराजजननीके नाते प्रभावतीगुप्ता कम से कम तेरह वर्ष तक राज्यकार्य करती रही।

पूना ताम्रपट दिवाकरसेनके राज्यकालके तेरहवें वर्षमें दिया गया था।[4] इसके पश्चात् सम्भवतः शीघ्र ही दिवाकरसेनका निधन हो गया, क्योंकि उसका अन्य एक भी ताम्रपत्र आज तक नही मिला। इस प्रकार दिवाकरसेनका राज्यकाल सन् ४०५ से ४२० की अवधिमे रखा जा सकता है। उसके पश्चात् उसका अनुज दामोदरसेन उर्फ प्रवरसेन द्वितीय गद्दीपर बैठा। इसके अनेक ताम्रपट प्राप्त हो चुके हैं। उनमें अन्तिम पाढुर्णा ताम्रपट उसके राज्यके उन्तीसवें वर्षमे दिया गया था।[5] अतः यह अनुमान समीचीन प्रतीत होता है कि प्रवरसेन द्वितीय ने सन् ४२० से ४५० पर्यन्त लगभग तीस वर्ष राज्य किया। उसके पश्चात् उसके पुत्र नरेन्द्रसेन व पौत्र पृथिवीषेण द्वितीय दोनोने बीस-बीस वर्ष राज्य किया यह माननेपर पृथिवीषेण द्वितीयके राज्यकालका अन्त सन् ४९० के आसपास रखा जा सकता है। सन् ४७० से ४९० तक अनुमान द्वारा निश्चित इस राजाके राज्यकालका समर्थन उसके माण्डलिक व्याघ्रदेवके कालसे भी होता है। उच्चकल्पवंशी व्याघ्रदेवके शिलालेख मध्यप्रदेशके उत्तर भागमे स्थित नचना[6] और गंज[7] से प्राप्त

१. द्रष्टव्य—वर्षशतसमभिवर्द्धमानकोशदण्डसाधनसन्तानपुत्रपौत्रिणः···वाकाटकानाम्महाराजश्रीपृथिवीषेणस्य ···। क्रमांक ३, पं० ११।
२. क्रमाक २, पं० ७-९। ३. ज रॉ. ए. सो, १९१४, पृ ३१७ आदि।
४. क्रमांक २, पं० २२। ५. क्रमांक १४, पं० ५३।
६ क्रमांक २०-२१। ७. क्रमांक २२।

हुए हैं। व्याघ्रदेवके जयनाथ नामक पुत्रके ताम्रपट गुप्तसंवत् १७४ व १७७ में प्रकाशित किये गये थे। इस प्रकार उसने सम्भवतः गुप्त संवत् १७० से १९० तक राज्य किया। तदनुसार उसके पिता व्याघ्रदेवका काल गुप्तसंवत् १५० से १७० तक अथवा ई० सन् ४७० से ४९० तक निश्चित होता है। जैसा कि हम इसके पूर्व अनुमान द्वारा निश्चित कर चुके हैं, पृथिवीषेण द्वितीयने इसी कालमें राज्य किया। अतः व्याघ्रदेव पृथिवीषेणका माण्डलिक था, यह पूर्णतः सम्भव है। इस प्रकार सन् ४९० के आसपास इस ज्येष्ठ शाखाका अन्त हो गया।

अब हम वत्सगुल्म शाखाके राजाओंके कालका विचार करेंगे। इस शाखाका संस्थापक सर्वसेन ज्येष्ठ शाखाके रुद्रसेन प्रथमका समकालीन था। उसने सम्भवतः सन् ३३० से ३५५ तक राज्य किया। उसके पुत्र विन्ध्यसेन उर्फ विन्ध्यशक्ति द्वितीयने अपना वाशीम ताम्रपट अपने राज्यकालके सैंतीसवें वर्षमें दिया था।[1] अत उसने सम्भवतः दीर्घकाल तक—चालीस-पैंतालीस वर्ष-राज्य किया। इस प्रकार उसका काल सन् ३५५ से ४०० तक माननेमें कोई दोष नहीं है। उसके पौत्रका नाम प्रवरसेन था। यह वत्सगुल्म शाखाका द्वितीय प्रवरसेन है। उसकी मृत्यु सम्भवतः यौवनकालमें ही हो गई, क्योंकि अजन्ताकी सोलहवीं गुहाके लेखके अनुसार उसका पुत्र आठ वर्षकी आयुमें गद्दीपर बैठा।[2] उक्त लेखमें इस बाल राजाका नाम नष्ट हो गया है। इस शाखाके प्रवरसेन द्वितीयने सन् ४०० से ४१० व उसके पुत्रने ४१० से ४५० तक राज्य किया यह माननेमें कोई विशेष हानि नहीं। इसके अनन्तर देवसेनने सम्भवतः ४५० से ४७५ व उसके पुत्र हरिषेणने ४७५ से ५०० तक राज्य किया।

हरिषेण इस शाखाका अन्तिम ज्ञात राजा है। दण्डिकृत दशकुमारचरितके अष्टम उच्छ्वासमें विदर्भके एक राजाकी चर्चा आई है। इसके मूलमें ऐतिहासिक सत्य दिखाई देता है। इस चर्चासे प्रतीत होता है कि हरिषेणके पश्चात् उसके पुत्रने थोड़े समय—लगभग सन् ५०० से ५१० तक राज्य किया। इसके अनन्तर कुछ ही समयमें राज्य-क्रान्ति हो गई और विदर्भपर कलचुरियोंकी सत्ता स्थापित हो गई।

१. क्रमांक २३, पं० १९। २. क्रमांक २५, पं० ८।

ज्ञात वाकाटक राजाओंका कालानुक्रम नीचे दिया गया है—

विन्ध्यशक्ति प्रथम (सन् २५० से २७०)

प्रवरसेन प्रथम (सन् २७०-३३०)

(ज्येष्ठ शाखा)
(गौतमीपुत्र)

रुद्रसेन प्रथम
(सन् ३३० से ३५०)

पृथिवीषेण प्रथम
(सन् ३५० से ४००)

रुद्रसेन द्वितीय
(सन् ४०० से ४०५)

दिवाकरसेन
(सन् ४०५ से ४२०)

दामोदरसेन उर्फ प्रवरसेन द्वितीय
(सन् ४२० से ४५०)

नरेन्द्रसेन
(सन् ४५० से ४७०)

पृथिवीषेण द्वितीय
(सन् ४७० से ४९०)

(वत्सगुल्म शाखा)

सर्वसेन
(सन् ३३० से ३५५)

विन्ध्यशक्ति द्वितीय
(सन् ३५५ से ४००)

प्रवरसेन द्वितीय
(सन् ४०० से ४१०)

पुत्र (नाम अज्ञात)
(सन् ४१० से ४५०)

देवसेन
(सन् ४५० से ४७५)

हरिषेण
(सन् ४७५ से ५००)

पुत्र (नाम अज्ञात)
(सन् ५०० से ५१०)

वाकाटकों का मूलस्थान

प्रचलित मतके अनुसार वाकाटक मूलतः उत्तर भारतके निवासी थे। उदाहरणार्थ, वाकाटक इतिहास विषयक अपने लेखमें विन्सेन्ट स्मिथने कहा है कि वाकाटक राजा विन्ध्यशक्ति तथा उसका पुत्र प्रवरसेन प्रथम पुराणोंमें उल्लिखित विन्ध्यशक्ति तथा प्रवीरसे अभिन्न हैं और इस वंशके मूलस्थानकी खोज मध्य भारतमें किसी स्थानपर करनी चाहिए।[1] इससे भी आगे बढ़कर डॉ० जायसवालने प्रतिपादित किया कि जिस प्रकार 'त्रैकूटक' यह वंशनाम 'त्रिकूट'से निकला है उसी प्रकार 'वाकाटक' सम्भवतः 'वकाट' अथवा 'वाकाट' से उत्पन्न हुआ है। उनके मतानुसार झांसी जिले में स्थित चिरगांवके पूर्वमें भूतपूर्व ओरछा राज्यमें बागाट नामक ग्राम आज भी विद्यमान है, तथा वही वाकाटकोंका मूलस्थान वाकाट होना चाहिए। वाकाटक नामकी उपपत्ति डॉ० जायसवालने इस प्रकार दी है—'वाकाटक वंशके ब्राह्मण सस्थापकने विन्ध्यशक्ति यह सार्थक नाम धारण कर स्वयमके मूलस्थान वाकाटसे अपना वंशनाम बनाया।'[2] अन्य अनेक लेखकोंने भी इस प्रश्न पर सूक्ष्म विचार न कर यही स्वीकार किया है कि वाकाटक मूलतः उत्तर भारतके थे। पहले हम इस मतके आधारभूत प्रमाणों का परीक्षण करेंगे।

वाकाटकोंके उत्तरभारतीयत्वके प्रमाणोंका परीक्षण

(१) यह मत मुख्यतः पुराणोंके निम्नलिखित श्लोकोंपर[3] आधारित है—

नृपान् वैदिशिकाश्चापि भविष्यांस्तु निबोधत।
शेषस्य नागराजस्य पुत्रः परपुरञ्जयः॥
भोगी भविष्यते राजा नृपो नागकुलोद्वहः।
सदाचन्द्रस्तु चन्द्रांशो द्वितीयो नखवांस्तथा॥
धनधर्मा ततश्चापि चतुर्थो वज्रकः स्मृतः।
भूतिनन्दस्ततश्चापि वैदिशे तु भविष्यति॥
तस्य भ्राता यवीयांस्तु नाम्ना नन्दियशाः किल।
तस्यान्वये भविष्यन्ति राजानस्ते त्रयस्तु वै॥
दौहित्रः शिशुको नाम पुरिकायां नृपोऽभवत्।
विन्ध्यशक्तिसुतश्चापि प्रवीरो नाम वीर्यवान्॥
भोक्ष्यते च समाः षष्टि पुरीं काञ्चनकां च वै।
यक्ष्यते वाजपेयैश्च समाप्तवरदक्षिणैः।
तस्य पुत्रास्तु चत्वारो भविष्यन्ति नराधिपाः॥

१. ज. रॉ ए. सो., १९१४, पृ० ३२९।
२. हि. ऑ. इं., पृ ६७ इत्यादि। ३. डा. क. ए., पृ. ४९-५०।

इस उद्धरणका आरम्भ 'विदिशाके भावी राजाओंकी चर्चा सुनो' इन शब्दों से होकर उसके अन्तमें विन्ध्यशक्ति और प्रवीर (अथवा प्रवरसेन) इन वाकाटक राजाओंके नाम आए हैं। इसलिए सामान्यतः यह अनुमान किया जाता है कि ये राजा विदिशा (सम्प्रति भेलसाके निकट बेसनगर) नगरीके निकट कहीं राज्य करते थे, किन्तु यह युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। इस उद्धरणमें अनेक प्राचीन राजाओंके नामोंका उल्लेख है, परन्तु उपरिनिर्दिष्ट दो वाकाटक राजाओंको छोड़कर और किसीके विषयमें अन्यत्र कोई जानकारी नहीं मिलती। इसके अतिरिक्त इस उद्धरणके आरम्भके 'नृपान् वैदिशिकांश्चापि भविष्यास्तु निबोधत' इस वाक्यका सम्बन्ध कहाँ तक जाता है यह भी स्पष्ट नहीं है। इस उद्धरणमें उल्लिखित सभी राजा विदिशामें राज्य नहीं करते थे, यह स्वयं पार्जिटरको भी मान्य था। इसी कारण उन्होंने इसका शीर्षक दिया है 'विदिशा तथा अन्य स्थानोंके राजवंश'। विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस उद्धरणके पाँचवें श्लोकमें पुरिकाके राजा शिशुकका निर्देश है। हरिवंशके वर्णनके अनुसार पुरिका नगरी ऋक्षवत् पर्वतकी उपत्यकामें बसी हुई थी[1]। ऋक्षवत् सातपुड़ा पर्वतका प्राचीन नाम था[2]। अतः पुरिका विन्ध्याचलके दक्षिणमें थी, इसमें सन्देह नहीं। उपर्युक्त उद्धरणमें शिशुकके अनन्तर विन्ध्यशक्तिके पुत्र प्रवीर (अर्थात् प्रवरसेन) का नाम आया है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि उसने शिशुकके अनन्तर पुरिकामें राज्य किया था। इसी नगरीका निर्देश अगले श्लोक में भी किया गया है। जायसवालके अनुसार इस श्लोकके द्वितीयार्धका शुद्ध पाठ होना चाहिए 'भोक्ष्यते च समाः षष्टि पुरिकां चनकां च वै'।[3] यह पाठ स्वीकार करने पर इस उद्धरणमें शिशुकके पश्चात् वाकाटक राजा प्रवीर अथवा प्रवरसेनके नामके उल्लेखकी उपपत्ति बैठाई जा सकती है। सम्भवत प्रवरसेनने शिशुकके राज्यको जीतकर पुरिकाको अपने विस्तृत राज्यकी द्वितीय राजधानी बनाया था। इस प्रकार इस उद्धरणके आधार पर यह सिद्ध नहीं होता कि वाकाटक मूलतः मध्यभारतके थे।

(२) कभी-कभी एक अन्य प्रमाण दिया जाता है। वह यह कि प्रयागके स्तम्भलेखमें समुद्रगुप्तने आर्यावर्तके जिन राजाओंका उच्छेद किया था उनमें रुद्रसेन नामक एक राजाका उल्लेख है। वह वाकाटक राजा रुद्रसेन प्रथम होना चाहिए। इस समीकरणको मानने पर यह सिद्ध होगा कि समुद्रगुप्तके पूर्व प्रवरसेन प्रथम और

१. हरिवंश, विष्णुपर्व, अ. ३८, श्लोक २२।

२. विष्णुपुराणके कथनानुसार तापी, पयोष्णी तथा निर्विन्ध्या नदियाँ ऋक्षवत् पर्वतसे निकलती हैं (तापीपयोष्णीनिर्विन्ध्याप्रमुखा ऋक्षसम्भवाः)। इससे उपर्युक्त कथनका समर्थन होता है।

३. हि. जॉ. इं, पृ० १८, टि. २।

रुद्रसेन प्रथमने उत्तर भारतमें राज्य किया था। किन्तु यह समीकरण असम्भव है। कारण इन आद्य वाकाटक राजाओंका एक भी उत्कीर्ण लेख आज तक उत्तर भारतमें नहीं मिला। रुद्रसेन प्रथमका अबतक एक ही लेख मिला है। वह है चांदा जिलेके देवटेक नामक स्थान पर प्राप्त शिलालेख।[1] इस प्रकार यह रुद्रसेन आर्यावर्तीय राजा न होकर विदर्भ पर राज्य करता था, यह स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त जैसा कि डॉ० अलतेकरने कहा है[2] यदि प्रयाग स्तम्भलेखके उल्लेखके अनुसार समुद्रगुप्तने रुद्रसेन प्रथमका समूल उच्छेद किया होता तो उसका पुत्र पृथिवीषेण प्रथम अपने पुत्र रुद्रसेन द्वितीयके लिए गुप्त राजकन्या प्रभावती गुप्ताको पसन्द न करता। अतः प्रयागके स्तम्भलेखमें उल्लिखित आर्यावर्तीय राजा रुद्रसेनका वाकाटक रुद्रसेन प्रथमसे समीकरण सम्भव दिखाई नहीं देता।

(३) किसी भी राजाका राज्यविस्तार जाननेका निश्चित साधन है उसके शिलालेखोंका मूलस्थान। ताम्रपट और मुद्राएँ सहज ही एक स्थान से दूसरे स्थानको ले जाए जा सकनेके कारण अपने मूलस्थानसे सैकड़ों मील दूर भी प्राप्त हो सकते हैं। वाकाटकोंका एक भी शिलालेख विन्ध्य पर्वतके उत्तरमें नहीं मिला है। परन्तु मध्यप्रदेशके नचना व गंज इन दो ग्रामोंमें वाकाटक महाराजा पृथिवीषेणके माण्डलिक व्याघ्रदेवके दो शिलालेख प्राप्त हुए हैं।[3] कतिपय विद्वानोंके मतमें इस राजाकी पहचान सन् ३५० और ४०० के बीच हुए पृथिवीषेण प्रथमसे की जानी चाहिए। इन दो शिलालेखोंके आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि गुप्तोंके उदयके पूर्व उत्तर भारतमें वाकाटकोंका साम्राज्य था। अभी-अभी एक विद्वान्ने इन शिलालेखोंके अक्षरोंकी बनावटको इस अनुमानके समर्थक प्रमाणके रूपमें प्रस्तुत किया है। किन्तु जैसा कि मैंने अन्यत्र दिखाया है,[4] यह प्रमाण निर्णायक नहीं है। पृथिवीषेण प्रथमके कालमें अथवा उसके पूर्व उत्तर भारतमें वाकाटक साम्राज्यके विस्तारके पक्षमें कोई भी प्रमाण नहीं है। इसके विपरीत इस व्याघ्रदेवकी पहचान उच्चकल्प राजा व्याघ्रसे अधिक संगत प्रतीत होती है। इस व्याघ्रके जयनाथ नामक पुत्रके ताम्रपट मध्यप्रदेशके नचना-गंजके निकट प्राप्त हुए हैं।[5] इसके कालोल्लेखसे प्रतीत होता है कि व्याघ्र ईसाकी पाँचवीं शताब्दीके अन्तिम चरणमें हुआ। परिणामतः उसका सन् ४७० से ४९० तक हुए पृथिवीषेण द्वितीयका माण्डलिक होना सम्भव है। अन्य उपलब्ध प्रमाण भी इस पक्षमें हैं कि वाकाटक साम्राज्य लगभग अन्तमें ही विन्ध्याचलके उत्तरमें विस्तृत हुआ। बालाघाट ताम्रपटमें पृथिवीषेण द्वितीयके पिता नरेन्द्रसेनका वर्णन 'कोसलामेकलामालवाभ्यर्चितशासनः' इन शब्दोंमें किया गया है।[6] इससे यह स्पष्ट

१. क्रमांक १। २. न्यू. हि. ई. पी, जि. ६, पृ० १०५।
३. क्रमांक २१ व २२। ४. देखिये क्रमांक २१ का विवेचन।
५. कॉ. इ. इं., ३, पृ० ११७, १२१। ६. क्रमांक १८, पं० २७-२८।

है कि विन्ध्य पर्वतके उत्तरमें स्थित मेकला और मालव देशोंके अधिपति नरेन्द्रसेनके माण्डलिक थे। अभी कुछ समय पूर्व उपलब्ध बह्मनी ताम्रपटसे ज्ञात होता है कि पाण्डववंशी भरतबल नामक मेकलाका राजा नरेन्द्रसेनका वर्चस्व स्वीकार करता था।[1] अतः नरेन्द्रसेनके पुत्र पृथिवीषेण द्वितीयने मेकला देशके उत्तरमें अपना साम्राज्य विस्तार कर उच्चकल्प राजा व्याघ्रको अपना स्वामित्व माननेके लिए बाध्य किया हो तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। विन्ध्यप्रदेशमे हुआ व्याघ्र नामक अन्य कोई राजा हमें ज्ञात नही है। इस प्रकार नचना व गंजके शिलालेखोंमें उल्लिखित व्याघ्रदेव और उच्चकल्पवंशी व्याघ्र एक ही होने चाहिए। फलस्वरूप यह व्याघ्रदेव जिसका माण्डलिक था उस पृथिवीषेणकी पहचान पृथिवीषेण द्वितीयसे ही करनी चाहिए, पृथिवीषेण प्रथमसे कदापि नहीं। और फलत. यह सिद्ध करनेके लिए कि वाकाटकोका राज्य प्रारम्भ में उत्तर भारतमें था, इस शिलालेखका प्रमाण निरर्थक है।

(४) जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, किसी राज्यवंशका राज्यविस्तार निश्चित करनेके लिए उसके ताम्रपटों और सिक्कोके प्राप्तिस्थानका प्रमाण विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। तथापि इस प्रश्नके निर्णायक अन्य आवश्यक प्रमाणोके अभावमे इस प्रमाणपर भी विचार करना चाहिए। वाकाटकोका केवल एक ही ताम्रपत्र उत्तर भारतमें मिला है। वह है प्रवरसेन द्वितीयका इन्दौर ताम्रपत्र।[2] यह ताम्रपत्र स्व० वामनशास्त्री इसलामपुरकरके संग्रहमे था। इन शास्त्रीजीने भारतके विभिन्न प्रदेशोमें विशेषतः महाराष्ट्रमें भ्रमणकर प्राचीन संस्कृत ग्रन्थोकी पाण्डुलिपियो और ऐतिहासिक साधनोका संग्रह किया था। इन्दौरके उनके संग्रहमे विद्यमान दो ताम्रपट मूलतः खानदेशके हैं एवम् उनमे उल्लिखित कुछ गाव आज भी खानदेशमें मिलते हैं, यह मैंने अन्यत्र दिखाया है।[3] वाकाटकोके अन्य सभी ताम्रपट विदर्भमें प्राप्त होनेके कारण यह ताम्रपट भी मूलत विदर्भका है, यह अनुमान करनेमें कोई हानि नही। इस ताम्रपटमे उल्लिखित एक भी ग्रामकी पहचान अब तक नर्मदाके उत्तरमें नहीं की जा सकी है।[4]

सिक्कोके बारेमे भी यही बात है। जायसवालने यह प्रतिपादित किया है कि उत्तर भारतीय बनावटकी कुछ मुद्राएँ वाकाटकोकी थीं।[5] जायसवालका कथन है कि इनमेंसे एकपर 'प्रवरसेनस्य' पाठ और ७६ वर्षसंख्याका निर्देश है तथा दूसरेपर 'रुद्र'

१. क्रमांक १९, पं. ३१-३४।
२. क्रमांक ९। ३ कॉ. इ. इं, जि ४, पृ. ४ इ.।
४. इस ताम्रपटके विषयमे अपने प्रास्ताविक लेखमें मैंने दिखाया है कि इस ताम्रपट में उल्लिखित कतिपय ग्राम बालाघाट जिलेमें प्राप्त होते हैं।
५. हि. ऑ. ई., पृ ५२ इ.।

पाठ और १०० वर्षसंख्याका निर्देश दिखाई देता है। जायसवालके मतानुसार ये दोनो कालनिर्देश सन् २५० के लगभग प्रवर्तित तथाकथित कलचुरि-चेदि संवत्के होनेसे यह संवत् वस्तुतः वाकाटकोंका था। यदि इन मुद्राओंके अक्षरों और वर्षसंख्याके वाचन तथा संवत्के विषयमें डॉ० जायसवालके मतको प्रामाणिक मान लिया जाय तो यह सिद्ध होगा कि वाकाटक राजा प्रवरसेन प्रथम तथा रुद्रसेन प्रथमके कालमें इस राजवंशकी सत्ता उत्तर भारतमें विस्तृत थी। परन्तु जायसवालका पाठ व उसका उनके द्वारा किया हुआ अर्थ अन्य विद्वानोंको मान्य नही है। जैसा कि डॉ० अलतेकरने सिद्ध किया है[1], जिसे जायसवाल प्रवरसेनका सिक्का समझते हैं वह वस्तुतः वीरसेनका है। जिन चिन्होका अर्थ वे ७६ करते हैं वे वस्तुतः कठघरेसे घिरे वृक्षके पत्ते हैं। रुद्रसेनके तथाकथित सिक्केपर 'रुद्र' पाठ न होकर 'त्रिरत्न' की आकृति है। जिस आकृतिका अर्थ वे सौ करते हैं वह वस्तुतः स्वस्तिककी है। अतः यह समझना निराधार है कि इन सिक्कोको वाकाटकोने ढलवाया था। सूक्ष्म रूपसे विचार करनेपर प्रतीत होता है कि स्वयम् सिक्के न ढालकर वाकाटकोंने अपने राज्यमें गुप्तोकी मुद्राओका व्यवहार चालू रखा था। सम्भवतः पश्चिमी क्षत्रपोकी रजतमुद्राएं भी उनके राज्यमें प्रचलित थीं क्योकि ऐसी मुद्राओके कुछ संचय छिंदवाड़ा व अन्य जिलोसे प्राप्त हुए हैं। उपरिनिर्दिष्ट मुद्राओपर वर्षसंख्याका डॉ० जायसवाल द्वारा प्रस्तावित वाचन स्वीकार कर लिया जाय तो भी वे वर्ष ई० सन् २५० के लगभग आरम्भ हुए तथाकथित कलचुरि सवत्के नहीं हो सकते, क्योकि न तो उस संवत्का प्रवर्तन ही वाकाटकोने किया था और न उनके ताम्रपटोमे भी कही उसका प्रयोग मिलता। वाकाटकोके सभी दानपत्रोमे उस उस राजाके राज्यारम्भके वर्षोंका ही उल्लेख मिलता है। वस्तुतः कलचुरिचेदि सवत् वाकाटकोके अन्तके पश्चात् ही विदर्भमें आया। इस सवत्का एक ही लेख विदर्भमे प्राप्त हुआ है। वह कलचुरि राजा कृष्णराजके माण्डलिक स्वामिराजका है।[2] अत. इन मुद्राओको वाकाटकोंकी मानना व उनके आधार पर वाकाटको को मूलतः उत्तरभारतीय मानना पूर्णतः निराधार है।

अभी तक यह प्रतिपादित किया गया कि वाकाटकोंका मूलस्थान उत्तर भारतमें होना सम्भव नहीं है। अब आगामी पृष्ठों में हम ऐसे प्रमाण प्रस्तुत करेंगे जो यह सिद्ध करते हैं कि वाकाटक मूलतः दक्षिण भारतके थे।

वाकाटक मूलतः दक्षिण भारतीय

(१) वाकाटक नामका उल्लेख करनेवाला सबसे प्राचीन शिलालेख आन्ध्र प्रदेशमें गुंटूर जिलेके अमरावती नामक ग्राममें एक अष्टकोण स्तम्भ खण्डपर उत्कीर्ण

१. ज. न्यू. सो. इं., जि. ५, पृ. १३ इ.।
२. कॉ. इ. इं., जि. ४, पृ. ६११।

है।[1] वह प्राकृत भाषामें है तथा उसके अक्षरोंकी बनावट खिस्तोत्तर तृतीय शताब्दी की है। उसका वाचन इस प्रकार है —

लेख क्रमाङ्क १२६

पंक्ति १ · · · · गामे वाथवस गहपतिस वाकाटकस गहपतिकिनि
२ · · · ना थेरेन बोधिकेन भरियाय चमुनाय सभतुकेहि
३ · · · · केहि सनातिमितबंधवेहि च अपनो आयुवधनिक-

दुर्भाग्यवश यह लेख खण्डित है। तथापि अवशिष्ट भागसे यह स्पष्ट है कि उसका प्रयोजन वाकाटक नामक गृहपति (गृहस्थ) व उसकी दो पत्नियों-चमुना व दूसरी-का दानकृत्य उस स्तम्भपर उत्कीर्ण करना था। यह दानकृत्य बोधिक नामक थेर अर्थात् भिक्षुके उपदेशसे किया गया था तथा उसका उद्देश्य था दाताओ और भिक्षु बोधिकके सम्बन्धियो, मित्रो और बान्धवोंके आयुष्यकी वृद्धि। इस लेखसे स्पष्ट है कि वाकाटक नामक कोई गृहपति अपनी दो पत्नियोके साथ बौद्धोके पुण्यक्षेत्र अमरावतीमें गया था तथा वहां उसने, अपनी पत्नियो, सम्बन्धियों और मित्रोंके दीर्घायुष्यके लिए कतिपय दानकृत्य किये थे। इस लेखमें वाकाटक वंशनाम न होकर व्यक्तिनाम है। इस वाकाटकके निवासस्थानका नाम प्रथम पंक्तिके आरम्भमें उत्कीर्ण था, किन्तु अब वह नष्ट हो चुका है। प्राचीन कालमें यात्राके कष्टोको ध्यानमें रखते हुए यह अनुमान करना सम्भवतः त्रुटिपूर्ण न होगा कि यह वाकाटक नामक गृहपति किसी निकटवर्ती प्रदेशसे अमरावती गया था। इस प्रसंगमें यह विशेष रूपसे उल्लेख्य है कि अमरावतीके उत्कीर्ण लेखोमे दक्षिण भारतके ही देशों, नदियों और स्थानो का उल्लेख मिलता है, जैसे द्रविड देश, कृष्णा और गोदावरी नदियां, तथा धनकटक और कण्टकशैल नगर। उत्तर भारतके केवल राजगृह और पाटलिपुत्र नगरोंका ही उल्लेख मुझे मिला है। इन नगरोका उल्लेख भी उन्हीं भिक्षुओ तथा उनके शिष्योके वर्णनमें मिलता है, जिन्होने अमरावतीमें दानकृत्य किये थे। अतः यह अनुमान सयुक्तिक प्रतीत होता है, कि सम्भवतः १२६ वें लेखमें उल्लिखित गृहपति वाकाटक दक्षिण भारतका निवासी था।

अक्षरों की बनावटके आधारपर इस लेखका काल खिस्तोत्तर तृतीय शतक निश्चित किया गया है। अतः इसका काल विन्ध्यशक्ति (सन् २५०) के कालके निकट पड़ता है। जिस प्रकार गुप्त नामक पुरुषसे गुप्तवंशका उदय हुआ उसी प्रकार सम्भवतः वाकाटक नामक गृहपतिसे वाकाटक वंशकी उत्पत्ति हुई। इस वाकाटककी सामाजिक स्थिति और राजकीय अधिकार क्या थे यह जाननेका

१. अमरावती स्कल्प्चर्स इन दि मद्रास गवर्नमेंट म्यूजियम, पृ. ३०४।

आज कोई साधन नहीं है। तथापि यह अनुमान अनुचित न होगा कि क्योंकि उसका नाम एक सुविख्यात वंशने स्वीकार किया वह उतना ही महत्त्वपूर्ण पुरुष होना चाहिए। यह वाकाटक उस समय बौद्ध था, किन्तु प्रतीत होता है कि उसके अथवा उसके वंशजोके धर्म परिवर्तन होनेपर वे वैदिक धर्मके एकनिष्ठ अनुयायी बन गये। भारतके प्राचीन इतिहासमें धर्म परिवर्तनके ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं।

(२) इसके अतिरिक्त वाकाटकोंके दाक्षिणात्यत्वके गमक अनेक प्रमाण दृष्टिगत होते हैं। वाकाटकोंके ताम्रपत्रोंमें प्रयुक्त अनेक पारिभाषिक संज्ञाएं पूर्ववर्ती पल्लव राजा शिवस्कन्दवर्माके हीरहदगल्ली[1] और मयिदवोलू[2] ताम्रपटोमें प्राप्त होती हैं। उनमेसे कुछ निम्ननिर्दिष्ट हैं।

वाकाटकोंके वाशीम ताम्रपटमें प्रयुक्त संज्ञाएँ	पल्लव राजाओंके ताम्रपटोंमें प्रयुक्त समानार्थक संज्ञाएँ
१. अरट्ठसंविनयिक	अरट्ठसंविनयिक
२. अलवणकेणक्खनक	अलोणगुलच्छोभं
३. अपुप्फक्खीरग्गहण	अदूधदधिगहणं
४. अभडप्पावेस	अभडपवेसं
५ अपरपरंगोबलिवद्दं	अपारंपरगोबलिवद्दगहणं
६. अखट्टाचोल्लकविणेसिक	अकरयोल्लकविनेसिखट्टावासं

इन संज्ञाओंमें निःसंशय आश्चर्यजनक साम्य है। इससे प्रतीत होता है कि कदाचित् पल्लव और वाकाटक राजाओंके बीच कोई सम्बन्ध था। कदाचित् इन दोनोने ये संज्ञाएं पूर्वकालीन सातवाहन लेखोंसे ली हैं। इस सम्बन्धमें यह स्मरणीय है कि ऐसी संज्ञाएं उत्तर भारतके किसी भी प्राचीन ताम्रपटमें दृष्टिगत नहीं होतीं।

(३) इसी प्रकार 'हारीतीपुत्र' तथा 'धर्ममहाराज' इन पदवियोंका प्रयोग वाशीम ताम्रपटमे वाकाटक राजा प्रवरसेन प्रथम, सर्वसेन तथा विन्ध्यशक्ति द्वितीयके लिए किया गया[3] है। यह भी वाकाटकोके दाक्षिणात्यत्वका अचूक प्रमाण है, क्योकि ये उपाधियां केवल विष्णुकड सातकर्णि[4], पल्लव[5], कदम्ब[6] तथा पूर्वकालीन चालुक्य[7] इन दाक्षिणात्य राजाओके लिए ही प्रयुक्त मिलती हैं। वे उत्तर भारतके किसी भी राजाके ताम्रपटमे प्राप्त नही होती।

१. ए. इं, जि. २, पृ. ५। २. पूर्वोक्त, जि. ६, पृ. ८७।
३. क्रमांक २३, पं. १-४। ४. ३. ए. इं., जि. १४, पृ. ३३३।
५. ए. इं., जि. १, पृ. ५ आदि। ६. पूर्वोक्त, जि. ६, पृ. ८६ आदि।
७. का. इ. इं, जि. ४, क्रमाङ्क २७, पंक्ति ३।

(४) अन्तिम प्रमाण यह है कि वाकाटकोने दक्षिण भारतके एक वंशके पुरूषोंको लगातार कई पीढ़ियो तक अपने सचिव पदपर नियुक्त किया था। इस वंशका नाम वल्लूर था जो इसके दक्षिण दिशा (दिशि दक्षिणस्याम्) में स्थित मूल निवासस्थानसे पड़ा था। यह वल्लूर ग्राम कहां था इसका पता निश्चित रूपसे अभी तक नही लग सका है। तथापि हैदराबाद राज्यमें हैदराबादसे ४० मील उत्तर-पूर्वमे स्थित वेलूरसे उसकी पहचान असम्भव नही है। यज्ञपति नामक एक ब्राह्मण इस वंशका मूल पुरुष था। उसका पुत्र देव विन्ध्यशक्ति प्रथमका व कुछ समयके लिए उसके पुत्र प्रवरसेन प्रथमका समकालीन था। देव एक अत्यन्त धार्मिक, राजनीति-निपुण और कर्मठ पुरुष था। घटोत्कच गुहाके लेखमे कहा गया है कि उसके प्रभावके कारण राजा समेत सम्पूर्ण राष्ट्र धार्मिक कृत्योमे संलग्न हो गया था[1]। वाकाटक ताम्रपटोके वर्णनसे भी पता चलता है कि इस कालमे वैदिक धर्मकी बड़ी धूमधाम थी। वाकाटक साम्राज्यके वास्तविक संस्थापक प्रवरसेन प्रथमने चार अश्वमेध, अग्निष्टोम, आप्तोर्याम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, वाजपेय, बृहस्पतिसव और साद्यस्क ये श्रौतयाग किये थे[2]। उत्तर अथवा दक्षिण भारतमे विष्णुकुण्डिवशी माधववर्मा प्रथमके अतिरिक्त अन्य किसी राजा द्वारा इतने श्रौतयाग किये जानेका उदाहरण इतिहासमे नही है। इन यज्ञोके करनेमे सम्भवतः वल्लूरके ब्राह्मण देवने प्रवरसेनको प्रोत्साहित किया था। घटोत्कच गुहाके लेखमे कहा गया है कि देवके पुत्र रविने उस सब प्रदेशपर स्वामित्व स्थापित किया। रवि वाकाटकोकी वत्सगुल्म शाखाके सस्थापक सर्वसेनका समसामयिक था। अतः प्रतीत होता है कि उसने सर्वसेनको नवीन प्रदेश जीतकर अपने राज्यविस्तारमे सहायता दी। इस वंशके अन्तिम दो पुरुष हस्तिभोज और वराहदेव क्रमशः वाकाटक राजा देवसेन और हरिषेणके मुख्य सचिव थे। इस विवरणसे यह स्पष्ट है कि राजाओ और सचिवोके ये दो वंश एक ही समय उदित होकर अनेक पीढियो तक परस्पर सम्बद्ध रहे। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, यह सचिववंश हैदराबाद राज्यके वल्लूर नामक ग्रामका मूल निवासी था। राजवंशके संस्थापक गृहपति वाकाटकके मूलस्थानका नाम अमरावतीके लेख क्रमाङ्क १२६ मे उत्कीर्ण था, किन्तु अब वह नष्ट हो चुका है। परन्तु यह अनुमान त्रुटिपूर्ण न होगा कि वह ग्राम कही दक्षिणके मध्यभागमे था। यह माननेपर सातवाहनोके अस्तके तत्काल पश्चात् वाकाटक वंशका उदय विदर्भमे किस प्रकार हुआ, इसकी उपपत्ति सहज हो बैठाई जा सकती है।

उपर्युक्त विविध प्रमाणोसे यह देखनेमे आएगा कि वाकाटक मूलतः दक्षिण भारतीय थे।

१. क्रमाक २६, पं. ५। २. क्रमांक ३, पं. १-२।

आद्य राजा

ईसाकी तृतीय शतीके मध्यमे दक्षिण भारतके राजनीतिक इतिहासमें एक नवीन युग आरम्भ हुआ। इसके पूर्व साढे चार सौ वर्षोंके दीर्घ कालतक दक्षिण भारतमें जिस सातवाहन वशने अपनी साम्राज्यसत्ताका विस्तार किया गया था उसका अन्त सन् २५० के लगभग हो गया। पुराणोके निर्देशानुसार पुलुमावि चतुर्थ आन्ध्र (अर्थात् सातवाहन) वशका अन्तिम राजा था। उसका प्रस्तरलेख आन्ध्र प्रदेशके बेल्लारी जिलेके अडोनी नामक ग्राममे[1] और मुद्राएं विदर्भमें अकोला जिलेके त-हाला नामक ग्राममे प्राप्त हुई हैं।[2] इससे यह स्पष्ट है कि उसका साम्राज्य उत्तरमें नर्मदासे दक्षिणमें तुंगभद्रातक विस्तृत था। उसकी मृत्युके पश्चात् उसका साम्राज्य अनेक भागोमे विभक्त हो गया तथा भिन्न-भिन्न प्रदेशोमे छोटे-छोटे राज्य अस्तित्वमें आए। पुराणोके अनुसार आन्ध्रों अथवा सातवाहनोंका राज्य नष्ट होनेपर उनके भृत्य (सेवक) आभीरो, श्रीपर्वतीयो, आन्ध्रो, गर्दभिलो, शको, यवनो, तुषारो, मुरुण्डो और हूणोंका उदय हुआ।[3] उत्कीर्ण लेखो और सिक्कोसे पुराणोके इस विधानकी थोड़ी बहुत पुष्टि होती है। उत्कीर्ण लेखोंसे यह स्पष्ट दिखाई देता है कि उत्तर महाराष्ट्र, कोकण और गुजरातपर आभीरोने अपनी सत्ता स्थापित की[4] तथा कृष्णा नदीके दक्षिण भागको श्रीपर्वतीय अथवा इक्ष्वाकु राजाओने अपने वशमें किया।[5] इसी प्रकार हैदराबाद राज्यके दक्षिण भागमे इसी समय शक राजाओका उदय हुआ, यह उनके सिक्कोके प्राप्तिस्थानके आधारपर सिद्ध हो चुका है।[6] मान महिष इस वंशका संस्थापक था। अपनी प्रबल सत्ता और प्रभावके कारण उसे पुराणोंकी वंशावलीमे नामोल्लेखका गौरव मिला है। सातवाहनोके समय वह महासेनापति पदपर था। प्रतीत होता है कि स्वतन्त्र हो जानेपरभी कुछ समय तक उसने अपने सिक्कोपर यह पदवी चालू रखी। पुराणोंके इस कथनके समर्थनमें कि इसी

१. इस शिलालेखके सम्पादक डॉ० वि० स० सुखठणकरके अनुसार यह लेख वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि द्वितीयका होना चाहिए। किन्तु अक्षरोकी बनावटके आधारपर यह लेख पुलुमावि चतुर्थका प्रतीत होता है।

२ ज. न्यू सो इं., जि २। त-हालाके सिक्कोंपर इस राजाका नाम 'पुलुहामवि दिया गया है।

३. डा. क. ए., पृ. ४५ इत्यादि।

४. कॉ. इ. इं., जि. ४, प्रस्तावना, पृ. ३३ इत्यादि।

५. ए. इं, जि. २०, पृ.।

६ ज. न्यू. सो. इं., जि. १५, पृ. १ और आगे। स्ट. इ. इं., जिल्द ३, पृ. ५६ आदि।

कालमें गर्दभिलो, यवनों, तुषारो, मुरुण्डो और हूणोका उदय हुआ अन्य कोई प्रमाण अभी तक नहीं मिला है। किन्तु पुराणोंके अनुसार इसी समयके लगभग शक राजाओंका उदय हुआ। महाभारतमें शकवंशी श्रीधरवर्माके शिलालेख और स्तम्भलेखकी प्राप्तिसे पुराणोंके इस विधानका समर्थन होता है। प्रतीत होता है कि श्रीधरवर्मा आरम्भमें महादण्डनायक था व उसने आगे चलकर राजाकी पदवी धारणकी[1]। यह आश्चर्यकी बात है कि सातवाहनोके अनन्तर अस्तित्वमें आए राजवंशोकी पुराणोमें दी हुई सूचीमे वाकाटकोका नाम नही मिलता। यह सत्य है कि पुराणोमे विन्ध्यशक्तिका उल्लेख है, किन्तु पुराणोके अनुसार वह सातवाहनोके पश्चात् अस्तित्वमें राजा किलकिल (अथवा कोलिकिल) के अनन्तर हुआ[2]। परन्तु इस किलकिल (अथवा कोलिकिल) का अन्यत्र कही भी उल्लेख नही है।

विन्ध्यशक्ति प्रथम

विन्ध्यशक्ति प्रथम वाकाटक वंशका पहला राजा था। पुराणों और अजंताकी सोलहवीं गुहाके लेखमें उसके नामका उल्लेख है। अजंताके लेखमे उसे द्विज अथवा ब्राह्मण कहा गया है और उसका वर्णन 'वाकाटकवंशकेतुः' (वाकाटक वंशका मानचिह्न) कहकर किया गया है[3]। बादके दानपत्रोमे वाकाटकोके विष्णुवृद्ध गोत्रका भी उल्लेख है। गृहानि वाकाटक और विन्ध्यशक्तिके बीच क्या सम्बन्ध था, यह कहना सम्भव नही है। किन्तु यह अनुमान करनेमे कोई हानि नही कि महासेनापति शक मान महिषकी भाति विन्ध्यशक्तिभी सातवाहनोके राज्यकालमे एक बड़े अधिकारपूर्ण पद पर था जिससे आगे चलकर उसके लिए राजसत्ता हथियाना सम्भव हो सका।

विन्ध्यशक्ति मूलतः कहाका था इस विषयमे विद्वान् एकमत नही है। पुराणोके वर्णनके आधारपर कुछ लोगोका अनुमान है कि वह मूलतः विदिशाका था[4]। किन्तु यह ठीक नही है। विदिशाके राजाओंके वर्णनमें विन्ध्यशक्तिका नही अपितु उसके पुत्र प्रवरसेन प्रथमका उल्लेख है। इसका कारण यह है कि विदिशाके नाग राजाओका दौहित्र जिस पुरिका नगरीपर राज्य करता था प्रवरसेनने उसे जीतकर अपनी राजधानी बनाया था। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, हैदराबाद राज्यके जिस वल्लूर ग्रामके एक सचिवकुलने अनेक पीढ़ियों तक वाकाटक राजघरानेकी एकनिष्ठतासे सेवाकी उसी ग्रामके निकट वाकाटकोके मूलस्थानकी खोज करनी

१. कॉ. इ. इं, जि. ४, प्रस्तावना, पृ० ३८ इत्यादि।
२. देखिए—'ततः कोलिकिलेभ्यश्च विन्ध्यशक्तिर्भविष्यति।' डा. क. ए., पृ० ४८।
३. क्रमांक २५, पं. २। ४. न्यू हि. इं. पी., जि ६, पृ० ९६।

चाहिए। पुराणोंमें प्रवरसेन प्रथमकी पुरिका और चनका इन दो राजधानियोंका उल्लेख है। इनमेंसे चनका सम्भवतः प्राचीन राजधानी थी और विन्ध्यशक्ति वहींसे राज्य करता था।

अजंताके लेखमें विन्ध्यशक्तिकी बड़ी स्तुति की गई है। 'उसने बड़े-बड़े युद्धोंमें विजय प्राप्त कर अपने सामर्थ्यकी वृद्धि की। उसके क्रुद्ध होने पर साक्षात् देव भी उसका निवारण नहीं कर सकते थे। उसके घोड़ोंकी टापोंसे उड़ी हुई धूलसे आकाशमें सूर्य भी आच्छन्न हो जाता था। उसके शौर्यसे पराभूत शत्रु उसके समक्ष विनम्र हो जाते थे' इत्यादि वर्णन अजंताके लेखमें मिलता है[1]। उसका राज्यविस्तार जाननेका कोई भी साधन इस समय उपलब्ध नहीं है। कुछ विद्वानोंके मतमें उसका वास्तविक नाम कुछ दूसरा ही था और विन्ध्याचल तक अपनी सत्ताका विस्तार कर उसने 'विन्ध्यशक्ति' का विरुद धारण किया था।[2] किन्तु पुराणोंके वर्णनके अनुसार यह विस्तार विन्ध्यशक्तिके राज्यकालमें न होकर उसके पुत्र प्रवरसेन प्रथमके कालमें हुआ। तथापि यह सम्भव है कि विन्ध्यशक्तिने विदर्भके एक बड़े भागपर विजय प्राप्त कर ली थी। वाकाटकोंके दानपत्रोंमें विन्ध्यशक्तिका नाम नहीं आता। उनमें वंशावली प्रवरसेन प्रथमसे आरम्भ होती है। अजन्ताके लेखमें भी विन्ध्यशक्तिको राजशब्दोपाधि (राजत्वसूचक उपाधि) का उल्लेख नहीं है। इस कारण कुछ विद्वानोंका मत है कि सम्भवतः विन्ध्यशक्तिका राज्याभिषेक नहीं हुआ था। किन्तु इसमें तथ्य दिखाई नहीं देता। वाकाटकोंके दानपत्रोंमें विन्ध्यशक्तिका उल्लेख न होने का कारण यह है कि वाकाटक साम्राज्यका वास्तविक संस्थापक विन्ध्यशक्ति नहीं, उसका पुत्र प्रवरसेन था। अजंताका लेख पद्यबद्ध होनेके कारण उसमें केवल विन्ध्यशक्तिके ही लिए नहीं, अपितु उसके वंशजोंके लिए भी राजशब्दोपाधिका प्रयोग नहीं मिलता। अतः यह मानना पूर्णतः निराधार है कि विदर्भमें विन्ध्यशक्तिने स्वतन्त्र राज्यकी स्थापना नहीं की थी। सम्भवतः वह सन् २५० से २७० के बीच हुआ। पुराणोंमें उसके नामपर उल्लिखित छियानबे वर्ष[3] उसके राज्यकालके न होकर उसकी आयुके हैं।

१. द्रष्टव्य --'महाविमर्देष्वभिवृद्धशक्तिः क्रुद्धः सुरैरप्यनिवार्य्यवीर्य्यः।··· रणदानशक्तिर्द्विज ≃ प्रकाशो भुवि विन्ध्यशक्तिः॥ रणेषु हर्युद्धतरेणुजालसञ्छादिताक्कस्स च [कर्म]···।···नरातीन् कृत्वाभिवादप्रवणांश्चकार॥ क्रमांक २५, पं० २, ४।

२. न्यू हि इं. पी., पृ. ९७।

३. समाः षण्णवतिं भूत्वा पृथिवीं तु समेष्यति। डा. क ए., पृ. ४८।

प्रवरसेन प्रथम

विन्ध्यशक्तिके अनन्तर उसका पुत्र प्रवरसेन प्रथम गद्दीपर बैठा। वह वाकाटक वंशका सर्वश्रेष्ठ राजा था। उसने अनेक दिशाओंमे अपने साम्राज्यका विस्तार किया। उत्तरमे नर्मदा तक अभियान कर उसने पुरिका नामक नगरीपर अधिकार किया। पुराणोके वर्णनसे पता चलता है कि पुरिकामे उस समय विदिशाके नाग राजाका दौहित्र शिशुक राज्य कर रहा था। प्रवरसेनने उसे पदच्युत कर उस प्रदेशको अपने राज्यमें मिलाया। इसके पश्चात् उसने पुरिकाको अपनी राजधानी बनाया। हरिवंशमें कहा गया है कि यह नगरी ऋक्षवत् अथवा सातपुड़ा पर्वतकी उपत्यकामें स्थित थी।[1] प्रवरसेनके अन्य अभियानोके विषयमे हमें कोई जानकारी नही। कुछ विद्वानोंने प्रतिपादित किया है कि प्रवरसेनने अपने समकालीन सौराष्ट्र और मालवाके पश्चिमी क्षत्रप रुद्रसिंह द्वितीय और रुद्रदामन् द्वितीयका पराभव किया था व इसी कारण उन्होने अपने पूर्वजोंकी भाति 'महाक्षत्रप' की पदवी धारण नही की।[2] परन्तु इस विषयमे निश्चित प्रमाण उपलब्ध नही है। यह सत्य है कि उपरिनिर्दिष्ट क्षत्रपोने इस कालमे 'महाक्षत्रप' को वरिष्ठ उपाधि धारण नही की, किन्तु इसका कारण यह था कि इसी समयके लगभग मध्यभारतमे एक नृपति श्रीधरवर्मन्का उदय हुआ जिसने अपनी स्वतन्त्रताकी घोषणा कर मालवामे पश्चिमी क्षत्रपोकी सत्ताका अन्त कर दिया।[3] कुछ विद्वानोके मतानुसार प्रवरसेनने नर्मदाके उत्तरमें अभियान कर बघेलखण्डमे अपनी सत्ता स्थापित की थी, किन्तु यह भी युक्तिसंगत प्रतीत नही होता। बघेलखण्डमे वाकाटक साम्राज्यके विस्तारके प्रमाण रूपमे व्याघ्रदेवके नचना व गज शिलालेखोका निर्देश किया जाता है। यह व्याघ्रदेव स्वयको वाकाटक महाराज पृथिवीषेणका अंकित अर्थात् माण्डलिक कहता है। जैसा कि मैंने अन्यत्र सिद्ध किया है, ये शिलालेख पृथिवीषेण प्रथमके कालके न होकर उसके सौ सवासौ वर्ष पश्चात् हुए पृथिवीषेण द्वितीयके कालके है। इस प्रकार प्रवरसेन प्रथम द्वारा नर्मदाके उत्तरमे अपनी सत्ताके विस्तार करनेका कोई प्रमाण उपलब्ध नही है।

१. ऋक्षवन्तं समभितस्तीरे तत्र निरामये।
निर्मिता सा पुरी राज्ञा पुरिका नाम नामतः॥
हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय ३८, श्लो. २१-२२।

२. न्यू. हि. इं. पो., जि. ६ पृ. ५८।

३. कॉ. इ. इं., जि. ४, प्रस्तावना, पृ. ३८ इत्यादि।

४ हि. क. इं. पी., भाग ३, पृ. २२०।

प्रवरसेन द्वारा पश्चिमकी ओर महाराष्ट्र, गुजरात और कोंकण प्रदेशोंकी विजय भी असम्भवनीय है, क्योंकि इन प्रदेशों पर उस समय आभीरोंका बलशाली राज्य था। सम्भवतः केवल दक्षिणकी ओर उत्तर कुन्तलके कोल्हापुर, सातारा और सोलापुरमें प्रवरसेनने अपनी सत्ताका प्रसार किया था। कलिंग और आन्ध्र देशके छोटे-छोटे राजाओंने भी सम्भवतः प्रवरसेनका प्रभुत्व स्वीकार किया था। किन्तु इस कालके बहुत कम लेख उपलब्ध होनेके कारण प्रवरसेनके साम्राज्यकी सीमाएँ निश्चित करना कठिन है।

प्रवरसेन प्रथम धार्मिक वृत्तिका राजा था। वह वैदिक धर्मका महान् आश्रयदाता था। उसने स्वयं अनेक श्रौत याग किये उसके चार अश्वमेधों और सप्तसोम संस्था[1]का उल्लेख मिलता है। पुराणोंमें उसके वाजपेय यज्ञ[2] व उसमें उसके द्वारा दी गई बहुमूल्य दक्षिणाओंका विशेष निर्देश किया गया है। वाजपेय यज्ञके अनुष्ठानके पश्चात् उसने सम्राट्की अत्यन्त सम्मानित उपाधि धारण की। उत्तर अथवा दक्षिण भारतमें अन्य किसी राजा द्वारा इस पदवीको धारण करनेका उदाहरण इतिहासमें नहीं है। पूर्ववर्ती राजाओंकी भाँति उसने अपने धर्मविजयकी सूचक 'धर्ममहाराज'की उपाधि भी धारण की। इसी प्रकार राजा विण्हुकड सातकर्णिकी भाँति वह 'हारीतीपुत्र' कहलाता था। इन दो उपाधियोंका उल्लेख वाशीम ताम्रपटमें आया है।[3] ये उसके दाक्षिणात्यत्वकी सूचक हैं।

चार अश्वमेध करके प्रवरसेनने दक्षिण भारतमें अपना सम्राट् पद उद्घोषित किया। बादमें अपनी सत्ताको अधिक सशक्त करनेके उद्देश्यसे उसने उत्तर भारतके भारशिवोंके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। ये नागवंशी भारशिव मूलतः विदर्भके प्रतीत होते हैं, क्योंकि भार राजा भगदत्तका ईसाकी द्वितीय शताब्दीका एक शिलालेख महाराष्ट्रमें भंडारा जिलेके पौनी नामक ग्राममें प्राप्त हुआ है।[4] बादमें सम्भवतः उसने उत्तरमें अभियान कर वहाँ अपना राज्य स्थापित किया। भारशिवोंके 'अधिराज' (अधिपति) भवनागके ताँबेके सिक्के मध्यप्रदेशकी सुप्रसिद्ध नाग राजधानी

१. ये सात सोमयाग इस प्रकार हैं—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम। वाकाटकोंके लेखोंमें अत्यग्निष्टोमको छोड़कर अन्य सभी यागोंका उल्लेख मिलता है। इनके सिवाय उनके लेखोंमें बृहस्पतिसव और साद्यस्क्रका भी निर्देश है। क्रमांक ३, पं० १-२।
२. वायुपुराणकी एक हस्तलिखित प्रतिमें 'वाजपेयैः' के स्थान पर 'वाजिमेधैः' पाठ है। देखिए—डा क. ए., पृ. ५०, टि ३५।
३. क्रमाक, २३, प० १ व ३। इस उपाधिका अर्थ अभी तक अनिश्चित है।
४. ए. इं., जि. २४, पृ. ११।

पद्मावती (वर्तमान पदमपवाया) मे प्राप्त हुए हैं।[1] वाकाटक ताम्रपटोके वर्णनसे ये भारशिव शिवोपासक प्रतीत होते हैं। वाकाटकोके ताम्रपटोमें कहा गया है कि वे अपने कंधे पर सदैव शिवलिङ्ग धारण करते थे जिससे प्रसन्न होकर भगवान् शंकरने उन्हे राजपद दिया था।[2] उन्होने दस अश्वमेध किये थे और अपने पराक्रमसे भागीरथीका पवित्र जल लाकर स्वयम्का मूर्धाभिषेक कराया था। इस वर्णनसे ऐसा प्रतीत होता है कि भारशिवोने मध्यभारतसे विदेशी कुषाण सम्राटोकी सत्ताका अन्तकर हिन्दुओ-की दृष्टिमें पवित्र पुण्यक्षेत्र प्रयाग और काशी अपने अधिकारमें कर लिए थे। भारशिवराजा भवनाग प्रवरसेन प्रथमका समकालीन था। उसने अपनी पुत्री प्रवरसेनके ज्येष्ठ पुत्र गौतमीपुत्रको विवाहमे दी।[3] इस वैवाहिक सम्बन्धके फलस्वरूप वाकाटको को उत्तर भारतके शक्तिशाली नागराजाओका संरक्षण प्राप्त हुआ होगा। इससे वाकाटक राजसत्ताके दृढ़मूल होनेमे सहायता मिली होगी। सम्भवत इसी कारण इस सम्बन्धका निर्देश गौतमीपुत्रके वंशजोके सभी ताम्रपटोमे किया गया है। पुराणोमे कहा गया है कि प्रवीर अर्थात् प्रवरसेन प्रथमने साठ वर्ष राज्य किया।[4] प्रवरसेनके चार अश्वमेधोको देखते हुए उसने इतने दीर्घकाल तक राज्य किया हो तो इसमे आश्चर्यकी कोई बात नही।

प्रवरसेनका प्रधानमन्त्री देव अत्यन्त धार्मिक, विद्वान् और कर्मठ था। उसका वर्णन घटोत्कच गुफाके लेखमे आया है।[5] इसमे कहा गया है कि उसके प्रभावके कारण राजा सहित सम्पूर्ण राष्ट्र धार्मिक कृत्योके अनुष्ठानमे मग्न हो गया था। प्रवरसेन प्रथमके राज्यकालके अनेक श्रौत यज्ञोका अनुष्ठान इस विद्वान् और धर्मशील मन्त्रीके उपदेशसे हुआ होगा।

पुराणोके अनुसार प्रवरसेनके चार पुत्र थे जो सभी राजा हुए।[6] वाशीम ताम्रपटकी प्राप्तिके पूर्व १९३९ तक इस विधानपर किसीको विश्वास नही होता था, क्योकि उस समय तक वाकाटक साम्राज्यके इतने शीघ्र विभक्त होनेका कोई प्रमाण नही मिला था। वाशीम ताम्रपटसे यह स्पष्ट देखनेमे आया कि गौतमीपुत्रके सिवाय

१. ज न्यू सो. इं, जि. ५, पृ. २८ इत्यादि।

२. द्रष्टव्य—'असंभारसन्निविष्टशिवलिङ्गोद्वहनशिवसुपरितुष्टसमुत्पादितराजवंशाना पराक्रमाधिगतभागीरथ्यमलजलमूर्द्धाभिषिक्तानान्दशाश्वमेधावभृथस्नातानाम्भारशिवानाम्महाराजश्रीभवनागदौहित्रस्य गौतमीपुत्रस्य···। क्रमांक ३, पं. ३-६।

३. पूर्वोक्त, पं. ७। ४. डा. क. ए., पृ. ५०।

५. क्रमाक २६, पं. ५।

६. तस्य पुत्रास्तु चत्वारो भविष्यन्ति नराधिपा;। डा क. ए., पृ. ५०।

प्रवरसेनका सर्वसेन नामक एक और पुत्र था[1]। अजंताकी सोलहवीं गुहाके लेखमें भी उसके नामका उल्लेख है[2]। अतः प्रवरसेनके निधनके पश्चात् उसका विस्तृत साम्राज्य सम्भवतः उसके चार पुत्रोंके बीच बंट गया। ज्येष्ठ पुत्र गौतमीपुत्रकी मृत्यु इसके पूर्व ही हो जानेके कारण उसका पुत्र रुद्रसेन गद्दीपर बैठा। वह कदाचित् पुरिकासे ही राज्य करता रहा अथवा नागपुरसे २८ मीलकी दूरीपर स्थित नन्दिवर्धन (वर्तमान नगरधन) नगरीको उसने अपनी राजधानी बनाया। उत्तर विदर्भ उसके अधिकारमें था। दूसरे पुत्र सर्वसेनने अकोला जिलेके वत्सगुल्म (वर्तमान वाशीम) नामक स्थानमें अपनी राजधानी स्थापित कर दक्षिण विदर्भपर राज्य किया। अन्तिम दो पुत्र निश्चित रूपसे कहां राज्य करते थे, यह ज्ञात नहीं है। उनमेंसे एकने सम्भवतः कृष्णा नदीकी घाटीमे उत्तर कुन्तलपर राज्य किया और दूसरेने दक्षिण कोसल (छत्तीसगढ) पर अपनी सत्ता स्थापित की। प्रतीत होता है कि इन दोनो शाखाओंका राज्य शीघ्र ही समाप्त हो गया और सम्भवतः इसी कारण उनके उत्कीर्ण लेख अभी तक नही मिले है। उत्तर कुन्तलमें सन् ३७५ के लगभग मानाङ्क नामक राष्ट्रकूट राजाका उदय हुआ। उसीने सम्भवतः वहाकी वाकाटक शाखाका उच्छेद किया।[3] प्रतीत होता है कि दक्षिण कोसलमे नलवंशी तथा अन्य राजाओं द्वारा अपनी सत्ता स्थापित किये जानेके कारण वहासे भी वाकाटकोका अन्त हो गया। पुराणोमे दक्षिण कोसलके नलवंशी राजाओका उल्लेख होनेसे[4] प्रतीत होता है कि ईसाकी चौथी शताब्दीमे इन राजाओका उदय हुआ। उनका एक ताम्रपटभी विदर्भमें प्राप्त हुआ है[5]। उसका उल्लेख आगे किया जायगा।

वाकाटकोंकी ज्येष्ठ शाखा

प्रवरसेन प्रथमके ज्येष्ठ पुत्र गौतमीपुत्रकी मृत्यु अपने पिताके राज्यकालमें ही हो गई थी। फलस्वरूप सन् ३३० के आसपास प्रवरसेनके निधनके पश्चात् उसका पौत्र रुद्रसेन प्रथम गद्दीपर बैठा। इसके वंशजोके सभी लेखोंमें इसे 'भारशिव महाराज भवनागका दौहित्र' कहा गया है[6]। इससे प्रतीत होता है कि उसको पद्मावतीके नागराजाका प्रबल आधार प्राप्त था। अभीतक इसका केवल एक लेख मिला है। पुण्यश्लोक सम्राट् अशोककी प्राणिहिंसाविरोधी आज्ञाको व्यक्त करनेवाला लेख उसके विदर्भस्थित महामात्रने चादा जिलेके देवटेक ग्राममे एक विशाल शिलापर उत्कीर्ण करवाया था। उसके एक बड़ेसे भागको छिलवाकर रुद्रसेन प्रथमने उसी

१. क्रमांक २३, पं. ४। २. क्रमांक [illegible] पं. ६।
३. अं. भां ओ रो. इ, जि. [illegible] पृ. [illegible] इ.।
४. डा. क. ए., पृ. ५१।
५. ए. इं, जि. १९, पृ. १०० आदि। ६. क्रमांक ३, पं. ७।

शिलापर अपना लेख उत्कीर्ण कराया है[1]। लेखका उद्देश्य यह व्यक्त करना है कि उस स्थानपर रुद्रसेनका धर्मस्थान (देवालय) था। रुद्रसेन भगवान् शङ्कर द्वारा दक्षयज्ञका विध्वंस करनेके लिए उत्पन्न किये हुए महाभैरवका उपासक था। अशोकके अहिंसाधर्मके प्रति उसे तनिकभी आस्था नही थी। अतः यदि उसने प्राणियोके बन्धन और हिंसाके निषेध करनेवाले अशोकके लेखको अपने लेखके लिए स्थान करनेके उद्देश्यसे नष्ट करा दिया हो तो कोई आश्चर्य नही।

रुद्रसेन गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्तका समकालीन था। उस समय नर्मदाके उत्तरमें अनेक राज्योकी उथल-पुथल हो रही थी। वैशालीके शक्तिशाली लिच्छवियोकी सहायतासे समुद्रगुप्तने उत्तर भारतके अनेक राज्योको जीतकर अपने राज्यमें मिला लिया। उसने आर्यावर्तके जिन राजाओका समूल उच्छेद किया उनमे नागराजा नागदत्त, गणपतिनाग और नागसेन भी थे[2]। इनमेसे गणपतिनाग सम्भवतः पद्मावतीमें राज्य करता था, क्योकि उसकी मुद्राएं वहा प्राप्त हुई है[3]। वह सम्भवतः भारशिव राजा भवनागका उत्तराधिकारी था। अन्य नागराजा मध्यभारतके छोटे-छोटे प्रदेशोपर राज्य करते रहे होगे। इन राजाओकी सहायताके लिए रुद्रसेनने क्या प्रयत्न किये वह जाननेका आज कोई साधन नही। तथापि अन्तमे उनके उच्छेदके फलस्वरूप रुद्रसेनको प्राप्त उत्तर भारतीय नाग राजाओका आधार समाप्त होनेसे उसकी शक्तिमे कमी हुई हो तो कोई आश्चर्य नही।

आर्यावर्त अथवा उत्तर भारतके राजाओको पादाक्रान्त कर समुद्रगुप्त दक्षिण दिग्विजयके लिए निकला। सर्वप्रथम उसने दक्षिण कोसलपर आक्रमण किया। इस देशका राजा महेन्द्र वाकाटकोका पूर्वमे प्रत्यन्त नृपति होनेके कारण उन्हे प्रायः करभार देता रहा होगा। रुद्रसेनने गुप्तोके आक्रमणका सामना करनेमें उसे कुछ सहायता की या नही, यह ज्ञात नही है। किन्तु अन्तमे उसे समुद्रगुप्तका प्रभुत्व स्वीकार करना पड़ा और उसे महाकान्तारके व्याघ्रराज तथा दक्षिणापथके अन्य राजाओपर अभियान करनेके लिए अपने राज्यसे होकर मार्ग देना पड़ा।

समुद्रगुप्तकी इस विजयसे वाकाटकोकी शक्तिको बडा धक्का लगा। महाकान्तार (वर्तमान बस्तर जिला) का व्याघ्रराज, कुराळका मण्टराज और पिष्टपुरका महेन्द्रगिरि जैसे राजाओने वाकाटकोकी प्रभुसत्ताको छोड़कर गुप्तराजाओका स्वामित्व

१. क्रमाक १। २ कॉ इ. इं., जि. ३, पृ. ७।

३. ज. न्यू. सो. इं., जि. ५, पृ. २१ इत्यादि।

स्वीकार किया[1]। इसके परिणामस्वरूप वाकाटकोंकी ज्येष्ठ शाखाका राज्य नर्मदा नदी तथा इन्ध्याद्रि पर्वतमालाके बीच सीमित हो गया।

इस प्रकार रुद्रसेनका राज्य बहुत छोटा हो जानेपर भी उसने अपना स्वातन्त्र्य अबाधित रखा तथा अन्य दाक्षिणात्य राजाओंकी भांति बलाढ्य समुद्रगुप्तके समक्ष अपनी गर्दन कभी न झुकाई। दक्षिणापथके राजाओंने समुद्रगुप्तका जो संगठित प्रतीकार किया उससे सावधान होकर सिकन्दरकी भांति समुद्रगुप्तने भी कदाचित् अपनी उद्दाम विजयलालसा रोक ली। उसने पश्चिमके क्षत्रप राजाओंका पराभव नहीं किया था। वाकाटकोंका राज्य दक्षिणमें क्षत्रपोंके राज्यसे लगा होनेसे आगेपीछे उनके युद्धका प्रसंग आनेपर वाकाटकोंकी सहायता बहुमूल्य सिद्ध हो सकती थी। कदाचित् इस कारणसे भी समुद्रगुप्तने उनके साथ प्रत्यक्ष संघर्षका प्रसंग टाला होगा। कारण कुछ भी हो, वाकाटकों द्वारा शक्तिशाली गुप्तोंकी सत्ता स्वीकार करनेका कोई भी प्रमाण नहीं है[2]। गुप्तोंके माण्डलिकोंकी भांति वाकाटकोंने गुप्त संवत्का उपयोग अपने एक भी लेखमें नहीं किया है। उन्होंने दानपत्रोंमें काल निर्देशनके लिए अपने-अपने राज्यारम्भके वर्षोंका उल्लेख किया है। उन्होंने स्वतःके सिक्के न ढालकर क्षत्रपोंकी मुद्राओंकी भांति गुप्तोंकी मुद्राओंका प्रसार भी अपने राज्यमें चालू रखा, किन्तु यह बात उनके माण्डलिकत्वकी सूचक नहीं प्रतीत होती। तथापि इसमें संशय नहीं कि गुप्त सम्राटोंके साथ उनके सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण थे।

सन् ३५० के लगभग रुद्रसेन प्रथमका पुत्र पृथिवीषेण प्रथम गद्दी पर बैठा। इसके लेख अभी तक नहीं मिले है। किन्तु इसके वंशजोंके लेखोंमें प्राप्त वर्णनसे ज्ञात होता है कि यह शिवोपासक था तथा सत्य, ऋजुता, करुणा, शौर्य, विक्रम, बुद्धिमत्ता, योग्यजनोंके प्रति आदरभाव, मनोनैर्मल्य इत्यादि गुणोंके लिए विख्यात था।

१. भीमसेन द्वितीयके आरंग ताम्रपटमें गुप्त संवत्के उपयोगसे स्पष्ट है कि दक्षिण कोसलमें गुप्तोंकी प्रभुसत्ता थी। देखिए—ए. इं, जि. ९, पृ. ३४२। ए. इं., जि. २६, पृ, २२८ पर मैंने यह सिद्ध किया है इस ताम्रपटमें उल्लिखित गुप्त संवत्का वर्ष २८२ न होकर १८२ है।

२. रुद्रसेन प्रथमको देवटेक लेखमें 'राजन्' व उसके वंशजोंके लेखोंमें 'महाराज' कहा गया है। इस कारण कुछ विद्वानोंका अनुमान है कि वाकाटक राजा माण्डलिक थे। किन्तु यह ठीक नहीं है। ग्यारह अश्वमेध करनेवाले विष्णुकुण्डी राजा माधववर्मा प्रथमके उदाहरणसे यह स्पष्ट है कि दक्षिणमें बलाढ्य सार्वभौम राजा भी 'महाराज' की ही पदवी धारण करते थे।

इसकी तुलना धर्मराज युधिष्ठिरसे की गई है तथा इसे धर्मविजयी कहा गया है।[1] इस आधारपर यह कहा जा सकता है कि पृथिवीषेणने कभी भी परराज्यापहरणके लिए युद्ध नहीं किया। उसके गद्दी पर आनेके समय वाकाटक राज्यकी स्थापनाको सौ वर्ष बीत चुके थे। वाकाटकोंके दानपत्रोंके वर्णनके अनुसार उसका कोश भरपूर था और सेना बड़ी व पूरी तरह तैयार थी। उत्तरमें समुद्रगुप्त तथा उसके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीयने आक्रामक नीतिका अवलम्बन कर अनेक राजाओंको जीता और अपने साम्राज्यकी सीमाका विस्तार किया था। इसके विपरीत वाकाटक ताम्रपटोंके वर्णनसे स्पष्ट दिखाई देता है कि पृथिवीषेणने शान्तिपूर्ण नीति स्वीकार कर अपना पूरा ध्यान प्रजाके कल्याणकी दिशामें केन्द्रित किया।

पृथिवीषेण प्रथमने सम्भवतः दीर्घकाल तक राज्य किया। सन् ४०० के लगभग उसका राज्यकाल समाप्त हुआ। इसके चार-पांच वर्ष पूर्व सन् ३९५ के लगभग चन्द्रगुप्त द्वितीयने मालवा और सौराष्ट्रमें राज्य करनेवाले क्षत्रपोंपर आक्रमण किया। ये क्षत्रप वाकाटकोंके उत्तरमें प्रत्यन्त नृपति थे। उन्होंने मालवा, सौराष्ट्र और गुजरातमें तीन शताब्दियोंसे भी अधिक समय तक राज्य किया था तथा अपनी सत्ता दृढमूल कर ली थी। अतः उनके साथ होनेवाले युद्धमें गुप्तोंने प्रबल वाकाटक राजाकी सहायता मांगी हो तो कोई आश्चर्य नहीं। गुप्त-वाकाटकोंके इस मेलके कारण क्षत्रपोंका पतन सहज ही हो गया तथा उत्तर भारतमें गुप्तोंका राज्य निष्कण्टक हो गया। बादमें चन्द्रगुप्तने मालवाको अपने राज्यमें मिलाकर उज्जयिनीको अपनी राजधानी बनाया। इस प्रसंगमें वाकाटकोंके साथ स्थापित अपनी मैत्रीको चिरस्थायी रूप देनेके उद्देश्यसे चन्द्रगुप्तने अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता पृथिवीषेणके पुत्र राजकुमार रुद्रसेनको दी। मालवा और विदर्भपर राज्य करनेवाले राजवंशोंके बीच इस प्रसंगमें जैसा वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हुआ उसी प्रकार पांच शती पूर्व शुङ्गोंके राज्यकालमें भी हुआ था। इस प्रसंगमें उस घटनाकी याद आना आश्चर्यजनक नहीं। इस पुरातन घटना पर आधारित कविकुलगुरु कालिदासका नाटक 'मालविकाग्निमित्र' रुद्रसेन-प्रभावतीगुप्ताके विवाहके मंगल अवसरपर उज्जयिनीके रंगमंचपर पहले-पहल अभिनीत हुआ होगा। इतिहासज्ञोंको ज्ञात है कि ऐसे ही विवाहोत्सवोंमें राजशेखरकी विद्धशालभञ्जिका, बिल्हणकृत कर्णसुन्दरी इत्यादि नाटकोंका प्रथम प्रयोग हुआ था।

१. सत्यार्जवकारुण्यशौर्य्यविक्रमनयविनयमाहात्म्यधीमत्त्वपात्रगतभक्तित्वधर्म-विजयित्वमनोनैर्म्मल्यादिगुणैः समुपेतस्य वर्षशतमभिवर्द्धमानकोशदण्ड-साधनपुत्रपौत्रिण. युधिष्ठिरवृत्तेर्व्वाकाटकानाम्महाराजश्रीपृथिवीषेणस्य ··। क्रमाक ३, पं. ७-१०।

२. इसी पुस्तक का पृष्ठ ८ देखिए।

अपने पिताकी भाँति पृथिवीषेण प्रथम भी शिवोपासक था।[1] प्रवरसेन प्रथमके कालमें वाकाटकोंकी राजधानी पुरीकामें थी। उसके निधनके पश्चात् वाकाटक साम्राज्यके बटवारेके समय अथवा बादमें पृथिवीषेण प्रथमके राज्यकालमें वह नागपुरसे २८ मील दूर नन्दिवर्धन (वर्तमान नगरधन) नगरीमें ले जाई गई। इस नगरके आसपास बुधुसगढ़, भिवगढ़ इत्यादि दुर्ग अब भी विद्यमान हैं।[2] संरक्षणकी दृष्टिसे उनके उपयुक्त होनेके कारण नन्दिवर्धन राजधानीके लिए पसन्द किया गया होगा।

पृथिवीषेण प्रथमके पश्चात् उसका पुत्र रुद्रसेन द्वितीय राज्य करने लगा। उसके पिता तथा पितामह शिवोपासक थे, किन्तु वह स्वयं चक्रपाणि (विष्णु) का भक्त था और उसका विश्वास था कि उसे विष्णुकी कृपासे राज्यश्री प्राप्त हुई थी।[3] उसके धार्मिक विश्वासमें इस परिवर्तनका कारण थी उसकी अग्रमहिषी पटरानी प्रभावतीगुप्ता। वह स्वयं अपने सुविख्यात पिता गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीयकी भाँति विष्णुकी उपासिका थी। वह राजधानी नन्दिवर्धनसे तीन मील दूर रामगिरि (वर्तमान रामटेक) पर प्रतिष्ठित भगवान् रामचन्द्रकी पादुकाओंकी अनन्य भक्त थी। इसी स्थानपर उसने अपने दोनो दानपत्र[4] प्रबोधिनी एकादशीको उपवास करके द्वादशीको पारणाके अवसरपर प्रदान किये थे।

राज्यारम्भके पश्चात् शीघ्र ही, सन् ४०५ के आसपास, सम्भवतः रुद्रसेन द्वितीयका देहावसान हो गया। इस समय उसके दो पुत्र—दिवाकरसेन और दामोदरसेन उर्फ प्रवरसेन—हो चुके। उन दोनोंके अल्पवयस्क होनेके कारण उनमेंसे ज्येष्ठ पुत्र दिवाकरसेनके नामपर प्रभावतीगुप्ता स्वयं राज्यकार्य देखने लगी। उसके द्वारा दिवाकरसेनके राज्यारम्भसे तेरहवें वर्षमें नन्दवर्धनसे दिये हुए पूना ताम्रपट[5] से यह पहली बार ज्ञात हुआ कि वह चन्द्रगुप्त द्वितीयकी पुत्री थी तथा वाकाटकोंके काल-निर्णयमें निश्चितता आई। वाकाटकोंके अन्य ताम्रपट पेटिकाशीर्षक लिपि

१ क्रमांक ३, पं ८।

२. ज. ए. सो बें. (नूतन माला), जि २८, पृ ५८ इत्यादि (एतद्विषक-वेल्स्टेडका लेख)।

३ भगवतश्चक्रपाणेः प्रसादोपार्जिताश्रीसमुदयस्य महाराजश्रीरुद्रसेनस्य ···। क्रमांक ३, पं. १०।

४. क्रमांक २, पं. १४; क्रमांक ८, पं. ३१।

५. महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तस्य दुहिता धारणसगोत्रा नागकुलसम्भूतायां श्रीमहादेव्यां कुबेरनागायामुत्पन्ना उभयकुलालङ्कारभूता अत्यन्तभगवद्भक्ता वाकाटकानाम्महाराजश्रीप्रवरसेनस्याग्रमहिषी युवराजश्रीदिवाकरसेनजननी प्रभावतीगुप्ता···। क्रमांक २, पं. ६-१०।

(Box-headed characters) में उत्कीर्ण हैं। किन्तु यह पूना ताम्रपट कीलकशीर्षक लिपि (Nail-headed characters) मे उत्कीर्ण है तथा इस लेखके आरम्भमें अन्य ताम्रपटोकी भाँति वाकाटकोंकी नही, गुप्तोकी वंशावली दी गई है।[1] इससे स्पष्ट है कि प्रभावतीगुप्ताके राज्यकार्य देखते समय वाकाटक दरबारमें गुप्तोंका अत्यधिक प्रभाव था। प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्तने राज्यकार्यभारमे अपनी पुत्रीकी सहायता करनेके लिए अपने निकटके विश्वस्त अधिकारी और दरबारी भेजे थे। सम्भवतः कविकुलगुरु कालिदास भी उनमेसे एक था। विदर्भमें रहते हुए उसने अपने सर्वोत्कृष्ट खण्डकाव्य मेघदूतकी रचनाकी। इस काव्यका शापित यक्ष रामगिरिके निकटवर्ती आश्रममे रहता था।[2] रामगिरि (वर्तमान रामटेक) के वाकाटक राजधानी नन्दिवर्धनसे अत्यन्त समीप होनेके कारण सम्भवतः कविको वहा जानेपर उक्त काव्यकी कल्पना सूझी होगी। रघुवंशके अठारहवें सर्गमें छः वर्षके सुदर्शन नामक बालराजाका मनोरम वर्णन आया है।[3] वह कालिदासको वाकाटक राजकुमार दिवाकरसेनके दरबारमे प्रत्यक्ष देखे हुए दृश्य परसे सूझा होगा।

दुर्दैववश दिवाकरसेन भी अल्पायु हुआ। सन् ४२० के लगभग उसके अकाल निधनके अनन्तर उसका छोटा भाई दामोदरसेन गद्दीपर बैठा। राज्यारोहणके अवसरपर उसने अपने सुप्रसिद्ध पूर्वज प्रवरसेनका नाम धारण किया।[4] उसी नामसे उसके सभी ताम्रपट दिये गये है। उसके बारह-तेरह दानपत्र उपलब्ध हुए हैं[5] जिनमे विदर्भके अमरावती, वर्धा, नागपुर, बैतूल, भंडारा जिलोमे स्थित ग्राम दानमें देनेका उल्लेख है। उनमेसे अन्तिम पाढुर्णा ताम्रपटपर उत्कीर्ण दानपत्र उसके राज्या-

१. प्रभावतीगुप्ता द्वारा इसके अनेक वर्ष पश्चात् दिये हुए ऋद्धपुर ताम्रपटोंमें भी ऐसी ही वशावली दी गई है। लगता है उसे अपने गुप्तवशज होनेका बडा अभिमान था।

२. मेघदूत श्लोक १। रामगिरिके स्थाननिश्चयके लिए मेरी पुस्तक 'मेघदूतमें रामगिरि अर्थात् रामटेक' देखिए।

३. रघुवंश, सर्ग १८, श्लो० ३९-४८।

४. कतिपय विद्वानोके मतमे प्रभावतीगुप्ताके तीन पुत्र थे—दिवाकरसेन दामोदरसेन और प्रवरसेन। किन्तु दामोदरसेनका एक भी उत्कीर्ण लेख अब तक नही मिला। इसके अतिरिक्त प्रवरसेन यदि दामोदरसेनसे भिन्न होता तो ऋद्धपुर ताम्रपटमें उसके नामके पूर्व भी 'वाकाटका-नाम्महाराज.' उपाधि लगाई जाती। किन्तु यह उपाधि नहीं लगाई गई है। अतः प्रतीत होता है कि प्रवरसेन तथा दामोदरसेन एक ही थे।

५. क्रमाक ३-१६।

रोहणके उन्तीसवें वर्षमें दिया गया था।[1] इस प्रकार प्रवरसेन द्वितीयने लगभग तीस वर्ष सन् ४२० से ४५० तक राज्य किया।

प्रवरसेन द्वितीय अपने राज्यकालके ग्यारहवें वर्ष तक प्राचीन राजधानी नन्दिवर्धनसे ही राज्य करता रहा, क्योंकि उस वर्षके उसके दो बेलोरा ताम्रपट नन्दिवर्धनसे ही दिये गये थे[2]। इसके अनन्तर उसने अपने नामसे प्रवरपुर नामक नवीन नगरकी स्थापनाकर उसे अपनी राजधानी बनाया। प्रवरपुरसे दिया हुआ उसका पहिला ताम्रपट उसके राज्यकालके अठारहवें वर्षका है।[3] इससे स्पष्ट है कि उसके राज्यारोहणके अनन्तर ग्यारहवें और अठारहवें वर्षके मध्यमें किसी समय वाकाटक राजधानी प्रवरपुर ले जाई गई होगी। प्राप्त प्राचीन अवशेषोंसे अनुमान होता है कि वर्धा जिलेमें वर्धाके निकट स्थित पवनार ही प्राचीन प्रवरपुर है।[4]

प्रवरसेन द्वितीय शिवोपासक था। उसने अपने ताम्रपटमें कहा है कि भगवान् शम्भुके प्रसादसे उसे अपने राज्यमे कृतयुग स्थापित करनेमे सफलता मिली।[5] वह महान् दानशूर था। उसके द्वारा प्रदत्त बारह-तेरह ताम्रपट अब तक प्राप्त हो चुके हैं। वाकाटक वंशके ही नहीं, अपितु अन्य प्राचीन भारतीय वंशके किसी भी राजाके इतने दानपत्र कदाचित् ही मिले होंगे। प्रतीत होता है कि कालिदासके वाकाटक दरबारमें रहते समय उसके सम्पर्कमे आनेसे प्रवरसेनको कवित्वकी स्फूर्ति मिली। उसकी अनेक प्राकृत गाथाएँ गाथासप्तशतीमें संकलित हैं।[6] वह स्वयम् शिवभक्त था, तथापि अपनी विष्णुभक्त माता—प्रभावतीगुप्ताकी आज्ञासे उसने भगवान् रामचन्द्रके चरित्रपर आधारित 'सेतुबन्ध' नामक काव्यकी रचना महाराष्ट्री प्राकृतमे की। इस काव्यके प्रथम आश्वासकी नवी गाथासे ज्ञात होता है कि गद्दीपर बैठनेके पश्चात् शीघ्र ही उसने इस काव्यकी रचना आरम्भकी। उसने स्वतः स्वीकार किया है कि इसकी रचना करते समय उसे बहुधा अड़चनोका सामना करना पड़ता, अनेक त्रुटियां होतीं और काव्य पूर्ण करना कठिन हो रहा था। ऐसे प्रसंगोमे उसे कविकुलगुरु कालिदासकी बहुमूल्य सहायता प्राप्त हुई होगी। इसी कारण यह किंवदन्ती प्रचलित हुई कि विक्रमादित्यकी आज्ञासे कालिदासने इस प्रवरसेनके लिए इस काव्यकी रचना की। काव्यके प्रत्येक सर्गके अन्तमे तथा रामदास नामक टीकाकारकी टीकाके आरम्भमें भी इस किंवदन्तीका उल्लेख मिलता है। राजधानी प्रवरपुरमें ले जानेके पश्चात् वहां प्रवरसेनने अपनी माताकी इच्छानुसार भगवान्

१. क्रमांक १४, पं. ५३। २. क्रमांक ४-५। ३. क्रमांक ६, पं. ६०।
४. देखिए, इस ग्रन्थका अध्याय ६।
५. 'शम्भोः प्रसादधृतकार्तयुगस्य,' क्रमांक ३, पं. १२।
६. परिशिष्ट देखिए।

रामचन्द्रका उत्तुङ्ग देवालय बनवाया और उसे सुन्दर शिल्पसे अलंकृत किया। उसके कुछ अवशेष पवनारमें अभी-अभी प्राप्त हुए हैं।

प्रवरसेन द्वितीयके पश्चात् सन् ४५० के लगभग उसका पुत्र नरेन्द्रसेन गद्दीपर बैठा। अबतक उसका एकभी लेख नहीं मिला। तथापि उसका नाम उसके पुत्र पृथिवीषेण द्वितीयके बालाघाट ताम्रपटमें आया है[1]। उसके माण्डलिक मेकलदेशाधिपति भरतबलनेभी अपने बम्हनी ताम्रपटमें प्रच्छन्न रूपमें उसका उल्लेख किया है[2]। बालाघाट ताम्रपटमें कहा गया है कि उसने अपने शारीरिक गुणोंसे अपने वंशकी राजलक्ष्मीका अपहरण किया था। इस वर्णनके आधारपर डॉ० कीलहॉर्नका अनुमान है कि सम्भवतः उसके राज्यारम्भके समय कलह उत्पन्न हुआ तथा नरेन्द्रसेनने अपने बड़े भाईको दूर हटाकर गद्दी हथियाली[3]। कतिपय अन्य विद्वानोंका कथन है कि वह बड़ा भाई था और अजंताका सोलहवीं गुहाके लेखमें उसका नाम था जो अब नष्ट हो चुका है[4]। किन्तु ये दोनों अनुमान सयुक्तिक प्रतीत नहीं होते। एकतो राज्यविषयक इस कलहका प्रमाण अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। दूसरे यह अब निर्विवाद रूपसे सिद्ध हो चुका है कि अजंताके लेखमें प्राप्त वंशावली नन्दिवर्धन-प्रवरपुर शाखाकी न होकर वत्सगुल्म शाखाकी है। अतः बालाघाट ताम्रपटके वर्णनको काव्यमय मानकर उसका केवल इतना ही अर्थ लेना चाहिए कि नरेन्द्रसेनने अपने शारिरिक गुणोंसे राजलक्ष्मीको अपनी ओर आकर्षित किया। इस प्रकारके वर्णन अन्य उत्कीर्ण लेखोंमें भी प्राप्त होते हैं।

नरेन्द्रसेनका विवाह कुन्तलकी राजकन्या अज्झितभट्टारिकाके साथ हुआ था। वह सम्भवतः मानपुरके तत्कालीन राष्ट्रकूट राजाकी पुत्री थी। कुन्तल देशमें कृष्णानदीकी उत्तर घाटीमें स्थित सातारा, कोल्हापुर और सोलापुरका अन्तर्भाव होता है। कोल्हापुरके निकटवर्ती एक ग्राममें कुछ वर्ष पूर्व पाडरंगपल्ली ताम्रपट प्राप्त हुआ था। उसमें इस वंशके मूल पुरुष मानाङ्कको 'समृद्ध कुन्तल देशका अधिपति' कहा गया है[5]। उसने अपने नामसे मानपुर नामक नगर स्थापितकर उसे

१. क्रमांक १८, पं. ३०। २. क्रमांक १९, पं. ३२-३४।

३. ए. इं., जि ९, पृ. २६९।

४. कृष्णस्वामी आयंगार, एन्शएट इण्डिया, भा. १, पृ. १३२।

५. डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार 'श्रीमत्कुन्तलाना प्रशासिता' का अर्थ करते हैं 'समृद्ध कुन्तलोंको दण्ड देनेवाला। किन्तु यह सयुक्तिक नहीं है। शास् धातुका देशवाचक कर्म होनेपर बहुधा उसका अर्थ होता है 'उस (देश) पर राज्य करनेवाला'। देखो, रघुवंश, सर्ग ६, श्लो. ७६ इत्यादि।

अपनी राजधानी बनाया। फलतः यह वंश 'मानपुरके राष्ट्रकूट' नामसे प्रसिद्ध है[1]। ये राष्ट्रकूट अत्यन्त प्रबल थे तथा उनका राज्य वत्सगुल्मकी वाकाटक शाखाके राज्यसे लगा हुआ था। अतः परस्पर उनमें बहुधा संघर्ष होते रहे हो तो कोई आश्चर्य नहीं। उनका उल्लेख दोनो राजवंशोंके उत्कीर्ण लेखोंमें प्राप्त होता है। कतिपय प्राचीन आख्यायिकाओंसे प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीयके राज्यकालमें यह राष्ट्रकूटवंश गुप्तोंकी राजनीतिक सत्ताके अन्तर्गत आ गया था तथा उन्हीं राजाओंकी आज्ञासे वहां राज्यकार्य चलता था। चन्द्रगुप्त द्वितीयने अपने दरबारके कविकुलगुरु कालिदासको राजदूतके रूपमें कुन्तलेशकी राजसभामें भेजा था। कालिदासके 'कुन्तलेश्वरदौत्य' नामक ग्रन्थके अभी-अभी प्राप्त उद्धरणोंसे स्पष्ट दिखाई देता है कि उसने वहाँकी परिस्थितिका निरीक्षण कर अपने स्वामीसे निवेदन किया कि 'राज्यका कार्यभार तुम्हे सोपकर कुन्तलेश स्वयम् विलासमें मग्न रहता है'[2]। यह कुन्तलेश सम्भवतः राष्ट्रकूट राजा देवराज था। चन्द्रगुप्तकी सहायतासे राष्ट्रकूट व वाकाटक वंशोंके बीच पारस्परिक द्वेष समाप्त होकर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो गया। वाकाटकराजा नरेन्द्रसेनने अज्झितभट्टारिका नामक जिस कुन्तल राजकन्यासे विवाह किया था[3] वह सम्भवतः राष्ट्रकूटवंशी देवराजके पुत्र अविधेयकी कन्या थी। यह अविधेय लगभग सन् ४०० और ४५५ के बीच हुआ।

प्रतीत होता है कि नरेन्द्रसेनने अपने राज्यके पूर्व और उत्तरमें आक्रामक नीतिका अवलम्बन किया था। पृथिवीषेण द्वितीयके बालाघाट ताम्रपटमें कहा गया है कि नरेन्द्रसेनने शौर्यसे अपने शत्रुओंका पराभव किया था तथा कोसला, मेकला व मालव देशोके अधिपति उसकी आज्ञा शिरसावन्द्य मानते थे।[4] इनमेंसे मालव देश पश्चिमी क्षत्रपोके उच्छेदके समयसे स्वतः गुप्तोके अधिकारोमें था। ईसाकी पाँचवीं शताब्दीके मध्यके लगभग हूणोके आक्रमणोसे गुप्त साम्राज्य शिथिल हो गया था। और यद्यपि स्कन्दगुप्तने बड़ी वीरतासे उनकी टोलियोको पराजित कर दिया था

१. अं. भा. ओ. री. इ., जि. २५, पृ ३६ इत्यादिमे मेरा लेख 'मानपुरके राष्ट्रकूट' देखिए। स्ट. इ इं, भाग १, पृ १७८ इ।

२. असकलहसितत्वात् क्षालितानीव कान्त्या
मुकुलितनयनत्वाद् व्यक्तकर्णोत्पलानि।
पिबति मधुसुगन्धीन्याननानि प्रियाणा
त्वयि विनिहितभारः कुन्तलानामधीशः॥

इस विषयके विस्तृत विवेचनके लिए देखिए मेरी 'संशोधनमुक्तावलि,' भा. १, पृ ६५-६८। स्ट. इ इं, भाग १, पृ. १ इ।

३. क्रमांक १७, पंक्ति. ३०-३१। ४. पूर्वोक्त, पंक्ति २७-२८।

तथापि देशमें बहुधा अस्थिरता और अशान्तिका वातावरण पैदा हो गया था। इसके प्रमाण मन्दसोरमें प्राप्त विक्रम संवत् ५२९ के शिलालेखमें प्राप्त होते हैं।[1] उसमें कहा गया है कि विक्रम संवत् ४९३ से ५२९ तकके ३६ वर्षोंके स्वल्पकालमें दशपुरमें अनेक राजा हुए। कुछ समय पूर्व प्रकाशित विक्रम संवत् ५२४ के मन्दसोर शिलालेखमें कहा गया है कि दशपुर (मन्दसोर) में स्थित गुप्तोंके माण्डलिक प्रभाकरको अपने स्वामीके अनेक शत्रुओंके साथ युद्ध करना पड़ा। इनमेंसे कुछने सम्भवतः राजा नरेन्द्रसेनका स्वामित्व स्वीकार कर गुप्तोंकी सत्ता उतार फेंकनेका प्रयत्न किया होगा। मालवामे अपनी सत्ता स्थापित करनेके प्रयत्नमें अन्ततो गत्वा नरेन्द्रसेनको कितनी सफलता मिली यह कहना कठिन है।

मेकला अमरकंटकके आसपासका प्रदेश है। यह प्रसिद्ध है कि अमरकंटकसे निकलनेवाली नर्मदा नदी मेकलसुता कहलाती है। गुप्तोके उदयके पूर्व यह प्रदेश मघ राजाओंके अधिकारमें था। इन राजाओका साम्राज्य उत्तरमें फतेहपुरसे दक्षिणमें बान्धवगढ़ पर्यन्त विस्तृत था।[2] इन प्रदेशमे उनके शिलालेख और मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। मघोंका उच्छेद कर समुद्रगुप्तने उनके राज्यके समृद्ध वत्सदेशको अपने राज्यमें मिला लिया और बघेलखंडका डोगराल प्रदेश अपने परिव्राजक, उच्चकल्प तथा पाण्डव-वंशी माण्डलिकोमें बाँट दिया। ये पाण्डववशी राजा पहले मघोके माण्डलिक थे। बान्धवगढ़में प्राप्त एक शिलालेखमें राजा वैश्रवण और उसके पिता महासेनापति भरतबलका उल्लेख है। प्रतीत होता है कि सम्भवतः वे पाण्डववंशी थे और मघ राजाओंके सेनानायक तथा माण्डलिक थे। गुप्तोके उदयके पश्चात् उन्होने उनका (गुप्तोंका) आधिपत्य स्वीकार कर लिया होगा। मध्यप्रदेशमें अमरकंटकके उत्तरमें कुछ मीलकी दूरीपर स्थित बम्हनी ग्राममे प्राप्त ताम्रपटमे[3] निम्नलिखित वंशावली दी गई है - जयबल, उसका पुत्र वत्सराज, उसका पुत्र नागबल, उसका पुत्र भरतबल। इनमेसे प्रथम दो सम्भवतः गुप्तोंके माण्डलिक थे। जब हूणोके आक्रमणोके कारण गुप्त साम्राज्य डगमगाने लगा तब नागबलने गुप्तोकी सत्ता उतार फेकी और अपने सामर्थ्यकी सूचक 'महाराज' पदवी धारण की। उसने दक्षिण कोसलके राजा भीमसेन प्रथमकी पुत्री लोकप्रकाशाके साथ अपने पुत्र भरतबलका विवाह कर कोसल देशके राजवंशके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। भरतबल सम्भवतः सन् ४६० और ४८० के बीच हुआ। उसने अपने बम्हनी ताम्रपटमें अपने सम्राट् वाकाटक

१. कॉ इ. इं, जि० ३, पृ. ७९ इत्यादि।

२. इंडिका (इंडियन हिस्टॉरिकल रीसर्च इंस्टिट्यूटका रौप्यमहोत्सव ग्रन्थ), पृ. २६८ इत्यादिमे मेरा लेख देखिए।

३. क्रमांक १९।

नरेन्द्रसेनका प्रच्छन्न रीतिसे उल्लेख किया है।[1] इस प्रकार उसने भी सम्भवतः गुप्तोंका प्रभुत्व त्याग कर वाकाटकोंके साथ सम्बन्ध स्थापित किये। बालाघाट ताम्रपटके इस कथनसे कि मेकलाधिपति नरेन्द्रसेनकी आज्ञाको शिरोमान्य करता था उक्त अनुमानका समर्थन होता है।

कोसला यह दक्षिण कोसल अथवा छत्तीसगढ़का प्राचीन नाम है। इसमें रायपुर, बिलासपुर और दुर्ग जिलोंका अन्तर्भाव होता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, खिस्तोत्तर चतुर्थ शतकमें इस प्रदेशमें महेन्द्र नामक राजा राज्य करता था। समुद्रगुप्तने उसे पराजितकर अपना स्वामित्व स्वीकार करनेके लिए बाध्य किया। उसके वंशजोंने साम्राज्यसत्ताके चिह्नके रूपमें गुप्तसंवत् स्वीकार किया। इस कालमें जब गुप्तोंकी सत्ता निर्बल होने लगी तो मेकलाधिपतिकी भांति कोसला देशके राजाने भी वाकाटकोंका माण्डलिकत्व स्वीकार कर लिया होगा। इस वंशके राजा भीमसेन द्वितीयने गुप्त संवत् १८२ (ई० स० ५०१-०२) में[2] प्रदत्त एक ताम्रपटमें अपनी वंशावली दी है जिससे ज्ञात होता है कि कोसला देशमें इस वंशकी निदान छह पीढ़ियोंने राज्य किया था। इस वंशका भीमसेन प्रथम सम्भवतः वाकाटक नरेन्द्रसेन का समसामयिक तथा माण्डलिक था। इसके अतिरिक्त यह सम्भव है कि जब नरेन्द्रसेनने मालव देशमें अपना प्रभुत्व स्थापित किया तभी माहिष्मती (महेश्वर) नगरके आसपासका अनूप देश भी उसने अपने राज्यमें मिला लिया हो।

गद्दीपर बैठते समय नरेन्द्रसेनकी आयु काफी अधिक रही होगी, क्योंकि उसके पिता प्रवरसेन द्वितीयने दीर्घकाल तक राज्य किया था। नरेन्द्रसेनका राज्यकाल बीस वर्षके पश्चात् सन् ४७० के आसपास समाप्त हुआ होगा। उसका अन्त होनेके पूर्व वाकाटक राज्यपर एक संकट आया। नलवंशी भवदत्तवर्माने वाकाटकोंके प्रदेशपर आक्रमणकर उसके एक बड़े भागपर अधिकार कर लिया। पुराणोंके कथनानुसार नल राजा कोसला देशमें राज्य करते थे।[3] नलोंके उत्कीर्ण लेखों और

१. 'योसौ संपूर्णशक्तित्रयविनिपतितानेकसामन्तमूर्द्ध-
प्रोद्घृष्टोत्फुल्लपद्मद्युतिचरणयुगाक्रान्तदिक्चक्रवालः।
सौम्यः सोमश्च वंशः प्रभव इति जनैः कीर्त्यते यस्य चोच्चैः
सः श्रीमान् सार्वभौमप्रथितगुणगणोदीर्णवैरो नरेन्द्रः॥'

क्रमांक १९, श्लोक ११।

इस श्लोकमें नरेन्द्र शब्द पर श्लेष है। इसके दो अर्थ विवक्षित हैं—(१) राजा भरतबल, और (२) वाकाटक सार्वभौम नृपति नरेन्द्रसेन।

२. ए. इं., जि. २०, पृ. २२७ इत्यादि। ३. डा. क. ए., पृ. ५१।

मुद्राओंके प्राप्ति स्थानोंसे पुराणोंके इस विधानकी पुष्टि होती है। वराह, भवदत्त-वर्मा और अर्थपति इन तीन नल राजाओंकी स्वर्ण मुद्राएं मध्य प्रदेशके बस्तर जिलेकी कोडेगाव तहसीलमें स्थित एडेंगा नामक ग्राममें प्राप्त हुई थी।[1] इन राजाओंमें वराहने सम्भवतः सर्वप्रथम राज्य किया और अर्थपतिने अन्तमें। भवदत्तवर्माने वाकाटकोंके राज्यपर आक्रमणकर उनकी भूतपूर्व राजधानी नन्दिवर्धनके उस ओरके प्रदेशपर भी अधिकार कर लिया। उसका एक ताम्रपट अमरावती जिलेके ऋद्धपुर नामक स्थानपर मिला है,[2] जिसमें भवदत्तवर्मा द्वारा यवतमाल जिलेके कदंबगिरि ग्रामको दानमें देनेका उल्लेख है। यात्राके उद्देश्यसे प्रयाग जानेपर भवदत्तवर्माने अपने व अपनी रानीके पुण्योपार्जनके निमित्त यह दान दिया था। उसका ताम्रपट भवदत्तवर्माके पुत्र[3] अर्थपतिने नन्दिवर्धनमें दिया है। इस ताम्रपटके स्थानोल्लेखोंसे यह स्पष्ट है कि नल राजाओंने वाकाटकोंकी ज्येष्ठ शाखाके अधीन प्रदेशका एक बड़ा भाग जीत लिया था।

स्वयम् वाकाटक भी मानते हैं कि इस कालमें उनके वंशके बुरे दिन आ गए थे। नरेन्द्रसेनके पुत्र पृथिवीषेण द्वितीयके बालाघाट ताम्रपटमें उसे 'निमग्न वंशका उद्धर्ता' कहा गया है।[4] प्रतीत होता है कि इस कठिन समयमें वह (नरेन्द्रसेन) अपनी राजधानी प्रवरपुरसे हटाकर भंडारा जिलेमें ग्रामगावके निकट पद्मपुर नगरीमें ले गया। उस स्थानसे देनेके लिए उत्कीर्ण एक अपूर्ण ताम्रपट दुर्ग जिलेमें प्राप्त हुआ है।[5] इस नगरीमें अपनी शक्ति बढ़ाकर पृथिवीषेण द्वितीयने नल राजाओंको केवल विदर्भसे खदेड़ बाहर ही नहीं किया, अपितु शत्रुके राज्यपर आक्रमण कर उसकी राजधानी पुष्करी उद्ध्वस्त कर दी। नल नृपति स्कन्दवर्माके आन्ध्र-प्रदेशके पोडागढ़ नामक स्थानपर प्राप्त शिलालेखमें शत्रुके द्वारा पुष्करीके उद्ध्वस्त किये जानेका उल्लेख है।[6] यह शत्रु सम्भवतः पृथिवीषेण द्वितीय ही था।

इस विजयके अनन्तर पृथिवीषेण द्वितीय अपनी राजधानी पद्मपुरसे पुनः प्रवरपुर ले गया अथवा नहीं, यह कहना असम्भव है। तथापि पद्मपुरको इस कारण जो

१. इन मुद्राओंपर मेरा लेख (ज. न्यू. सो. इं., जि. १, पृ. २९ और स्ट. इ. इं, जिल्द ३, पृ. ९७ इं.) देखिए। नल राजाओंके सम्बन्धमें विस्तृत जानकारीके लिए देखिए 'संशोधनमुक्तावलि' (मराठी), भाग २, पृ. ७९।
२. ए. इं, जि. १९, पृ १००।
३. डॉ दिनेशचन्द्र सरकार अर्थपतिको भवदत्तवर्माका पौत्र कहते हैं, किन्तु यह गलत है। देखिए, इं. हि क्वॉ, जि. २६, पृ. १४२।
४. क्रमांक १८, पं. ३३। ५. क्रमांक १७, पं. १।
६. ए. इं., जि. २१, पृ. १५६।

महत्त्व हुआ था वह आगे दीर्घकाल तक टिका रहा। विद्वान् ब्राह्मण वहाँ आकर रहने लगे। सुप्रसिद्ध संस्कृत कवि भवभूतिके पूर्वज द्वारा पद्मपुरमें वाजपेयादि श्रौत याग किये जानेका उल्लेख 'महावीरचरित' नाटकमें प्राप्त होता है।[1] भवभूतिने अपने नाटक 'मालतीमाधव'में कहा है कि पद्मपुर दक्षिणापथके विदर्भ प्रदेशमें स्थित था।[2] आमगाँवके निकटवर्ती पद्मपुरमें आज भी विशाल भवनोंके अवशेष तथा प्राचीन मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं।[3] इस कारण यह अनुमान होता है कि वही सम्भवतः भवभूतिका जन्मस्थान था।

पृथिवीषेण द्वितीयने उत्तरमे भी अपनी सत्ता दृढ़ की तथा मेकलादेशके उत्तरमें चेदि देश पर्यन्त अपने साम्राज्यका विस्तार किया। उसके माण्डलिक व्याघ्रदेवके दो शिलालेख मध्यप्रदेशके नचना और गंज नामक ग्रामोमें प्राप्त हुए हैं।[4] यह व्याघ्रदेव सम्भवतः उच्चकल्पवंशी था, क्योंकि इस वंशके कई ताम्रपट उस प्रदेशमें प्राप्त हुए हैं।[5] उनमे व्याघ्र नामक राजाका उल्लेख है। इस व्याघ्रके पुत्र जयनाथमे लगभग गुप्तसंवत् १७० से १९० (ई० सं० ४९० से ५१०) तक राज्य किया। अतः उसके पिता व्याघ्रका काल गुप्तसंवत् १५० से १७० (ई० सं० ४७० ४९०) तक निश्चिय होता है। इसी कालमें पृथिवीषेण द्वितीयने भी राज्य किया। अतः उच्चकल्पवंशी व्याघ्र ही उसका माण्डलिक होना चाहिए। पाण्डववंशी राजाओंके समान उच्चकल्प राजा भी अपने गुप्त सम्राटोके माण्डलिक थे, किन्तु बादमें ईसाकी पांचवी शताब्दीके अन्तमें गुप्तोकी सत्ता निर्बल होनेपर सम्भवतः उन्होने वाकाटकोंकी सत्ता स्वीकार कर ली।

वाकाटक राजा सामान्यतः शैव थे। इसके केवल दो अपवाद ज्ञात हैं। एक रुद्रसेन द्वितीय और दूसरा पृथिवीषेण द्वितीय। बालाघाट ताम्रपटमें पृथिवीषेणको 'परमभागवत' (विष्णुका अनन्य उपासक) कहा गया है।[6] उसका अन्त सन् ४९० के लगभग हुआ होगा। इसके अनन्तर इस ज्येष्ठ शाखाका प्रदेश वत्सगुल्म शाखाके राजा हरिषेणके साम्राज्यमें विलीन हो गया।

इस प्रकार लगभग १६० वर्षोंके (लगभग सन् ३३० से ४९० पर्यन्त) शासनके पश्चात् इस ज्येष्ठ शाखाका अन्त हुआ। इस शाखामे शूर, राज्यशासनकुशल, दानशील

१. महावीरचरित (निर्णयसागर प्रेस, १९१०), पृ. ७।
२ मालतीमाधव (निर्णयसागर, १९००), पृ ७।
३. देखिए मेरा लेख 'भवभूतिका जन्मस्थान,' संशोधनमुक्तावलि, भाग १, पृ ७६ इत्यादि। स्ट. इ. इं, भाग १, पृ. २१ इ.।
४. क्रमांक २१ और २२। ५. कॉ. इ. इं., जि. ११७ इत्यादि।
६. क्रमांक १८, पं ३४।

तथा साहित्य और शिल्पादि कला के उदार आश्रयदाता राजा उत्पन्न हुए, जिन्होंने अपने वंशकी कीर्ति दिग्दिगन्तमें फैलाई। उनके द्वारा बनवाये हुए मन्दिर आज विद्यमान नहीं हैं, किन्तु रामटेक और पवनारमें जो अवशेष प्राप्त हुए हैं उनसे तत्कालीन शिल्पकी रमणीयताका अनुमान सहज ही किया जा सकता है। उनके कालमें अनेक काव्योंका निर्माण हुआ जिससे वैदर्भी रीतिको सर्वत्र मान्यता प्राप्त हुई। उनमें से केवल दो काव्य इस समय अवशिष्ट हैं। एक तो संस्कृतमें कालिदासप्रणीत मेघदूत और दूसरा माहाराष्ट्री प्राकृतमें प्रवरसेन द्वितीय द्वारा रचित सेतुबन्ध अथवा रावणवहो। इन काव्योंके कारण इस ज्येष्ठ शाखाका नाम संस्कृत तथा प्राकृत साहित्यके इतिहासमें अजरामर हो गया है।

वाकाटकोंकी वत्सगुल्म शाखा

सन् १९३९ मे वाशीम ताम्रपट[1] प्राप्त होनेके पूर्व वत्सगुल्म शाखाके विषयमें कुछ भी जानकारी नहीं थी। यह सत्य है कि इस शाखाके कई राजाओंके नाम अजंताकी सोलहवी गुहाके लेखमे[2] आए हैं, किन्तु इस लेखके अत्यन्त त्रुटित हो जानेके कारण ये नाम ठीक पढे नहीं जा सके थे। सम्प्रति वाशीम ताम्रपटमें प्राप्त सूचनाके आधारपर अजंताके लेखके शुद्ध राजनाम उपलब्ध हो सके हैं। इससे यह सिद्ध हो गया है कि इन्ध्याद्रि पर्वतमालाके दक्षिणमें वाकाटकोंकी दूसरी शाखा राज्य कर रही थी।

प्रवरसेन प्रथमका पुत्र सर्वसेन इस शाखाका संस्थापक था उसका नाम वाशीम ताम्रपट तथा अजंताके लेखमे आया है। यह सम्भवतः प्रवरसेनका कनिष्ठ पुत्र था। उसका राज्य उत्तरमें इन्ध्याद्रि पर्वतमालासे दक्षिणमें गोदावरी नदी तक विस्तृत था। इस प्रदेशपर अपना स्वामित्व स्थापित करनेमें उसे ब्राह्मण सोमकी क्षत्रिय पत्नीसे उत्पन्न रवि नामक सचिवका साहाय्य प्राप्त हुआ था।[3] इस रविके वंशज अनेक पीढ़ियो तक वत्सगुल्मके वाकाटकोंके मुख्य सचिव रहे तथा उन्होने उनकी एकनिष्ठापूर्वक सेवा की।

सर्वसेनने अपनी राजधानीके लिए प्राचीन पुण्यक्षेत्र वत्सगुल्मको चुना। इस वत्सगुल्मकी पहचान अकोला जिलेमे स्थित वाशीम नामक स्थानसे की गई है। इसके आसपासके प्रदेशको वत्सगुल्म कहते थे। वात्स्यायनके कामसूत्रमें इसका उल्लेख मिलता है।[4] वत्सगुल्म एक पवित्र पुण्यक्षेत्रके रूपमें प्रसिद्ध था। 'वत्सगुल्म-माहात्म्य' में कहा गया है कि उस स्थानपर वत्स नामक ऋषिने अपने आश्रमके निकट

१. क्रमांक २३। २. क्रमाक २५। ३. क्रमांक २६, पं. ७।
४. कामसूत्र (काशी संस्कृत सीरीज), पृ. २६१।

देवोंके गुल्म (समूह) का वास कराया था, जिससे उसका नाम वत्सगुल्म पड़ा। 'कामसूत्र' की जयमंगला नामक टीकामें इस स्थलनामकी दूसरी ही व्युत्पत्ति दी गई है। उसमें कहा गया है कि वत्स और गुल्म ये दो सगे भाई दक्षिणापथके राजपुत्र थे। उनके द्वारा बसाये हुए देशका वत्सगुल्म नाम पड़ गया।[1] वाकाटकोंके राज्यकालमें राजधानी वत्सगुल्म विद्या और संस्कृतिके प्रमुख केन्द्रके रूपमें प्रसिद्ध हुई तथा वहांके उत्कृष्ट प्राकृत काव्योंके कारण 'वच्छोमी' रीतिकी सर्वत्र मान्यता प्राप्त हुई।[2]

दक्षिण भारतकी प्रथाका अनुसरण कर प्रवरसेन प्रथमने 'धर्ममहाराज' की जो उपाधि धारण की थी उसे सर्वसेनने भी स्वीकार किया। अजंताके लेखमें उसका वर्णन एक विशिष्ट प्रकारका है। उसने माहाराष्ट्री प्राकृतमें 'हरिविजय' नामक महाकाव्यकी रचना की थी। संस्कृत कवियों तथा आलङ्कारिकोंने मुक्तकण्ठसे इसकी स्तुति की है। सर्वसेनने लगभग सन् ३३० से ३४५ पर्यन्त राज्य किया।

सर्वसेनके अनन्तर विन्ध्यसेन गद्दीपर बैठा। वाशीम ताम्रपटमें उसका नाम विन्ध्यशक्ति (द्वितीय) दिया गया है। उसने सम्भवतः आक्रामक नीति स्वीकार की, क्योंकि अजंताके लेखके कथनानुसार उसने कुन्तलेशका पराभव किया। जैसा कि हम इसके पूर्व कह चुके हैं, इस कालमे कुन्तल देशमें एक राष्ट्रकूट वंशका उदय हो चुका था। उसके मूल पुरुष मानाङ्कने बहुधा प्रवरसेन प्रथमके एक अन्य पुत्रके अधीन गोदावरी नदीके दक्षिणका प्रदेश जीता तथा अन्य विजय भी प्राप्त की। उसके एक वंशजके लेखमें मानाङ्कको 'समृद्ध कुन्तल देशका अधिपति' तथा 'विदर्भ और अश्मक देशोका विजेता' कहा गया है।[3] गोदावरीके तटपर स्थित अश्मक देशमें अहमदनगर और बीड जिलों का समावेश था। अश्मकाधिपति सम्भवतः वत्सगुल्मके वाकाटकोंका माण्डलिक था। मानाङ्कने अपने नामपर मानपुर नामक नगरकी स्थापना कर उसे अपनी राजधानी बनाया। इस मानपुरकी पहचान सातारा जिलेमें माण नदीके तटपर स्थित वर्तमान माण नामक ग्रामसे की गई है। मानाङ्कके वंशजोंके कुछ ताम्रपट महाराष्ट्र राज्यमें प्राप्त हुए हैं। उनके अक्षरोंकी बनावटसे यह अनुमान है कि मानाङ्क ईसाकी चौथी शताब्दीके अन्तिम चरणमें हुआ। अतः वह विन्ध्यसेनका समकालीन प्रतीत होता है। विन्ध्यसेन और मानाङ्क दोनों भी एक दूसरेको पराजित करनेका दावा करते हैं। इस प्रकार प्रतीत होता है कि उनमेंसे

१ बृहत्कथाके कथनानुसार वत्स और गुल्म नामक ब्राह्मण गुणाढ्यके मामा थे। देखिए, कथासरित्सागर, १, ६, ९ और बृहत्कथामंजरी, १, ३, ४।

२. राजशेखर, कर्पूरमंजरी, १, १।

३. अं. भां. ओ. री. इ., जिल्द २५, पृ. ३१ और आगे। स्ट. इ. इं., भाग १, पृ. १७८ इ.।

किसीको भी पूर्ण विजय प्राप्त नहीं हुई। मानाङ्कके पुत्र देवराजके राज्यकालमें कुन्तलका यह राष्ट्रकूट वंश गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीयके राजनैतिक प्रभुत्वमें आ गया और उसका राज्यकार्य चन्द्रगुप्तके आदेशानुसार होने लगा। फलस्वरूप वह वत्सगुल्मके वाकाटकोंका विरोधी नहीं रहा।[1]

विन्ध्यसेनने वाशीम ताम्रपट अपने राज्यकालके सैंतीसवें वर्षमें अपनी राजधानी वत्सगुल्मसे दिया था।[2] इस ताम्रपटपर उत्कीर्ण लेखमें नान्दीकट विषयमें (अर्थात् जिलेमें) स्थित एक ग्राम दानमे देनेका निर्देश है। इस नान्दीकटकी पहचान हैदराबाद राज्यमें स्थित वर्तमान नादेडसे की गई है। इस ताम्रपत्र लेखका प्रारम्भिक प्रशस्तिपर भाग संस्कृतमें है और बादका दानविषयक भाग प्राकृतमें। इसके पूर्वके शिलालेख तथा ताम्रपट प्रायः प्राकृतमे ही लिखे गये हैं। इस प्रकार वाकाटकोंके कालमें संस्कृत भाषा राजदरबारमे किस प्रकार धीरे-धीरे मान्यता प्राप्त करने लगी, यह इस ताम्रपटसे स्पष्ट दिखाई देता है। अपने दो पूर्वजोकी भाति विन्ध्यसेनने भी 'धर्ममहाराज'की पदवी धारण की थी। घटोत्कच गुहाके लेखमें उसके प्रधान सचिव प्रवरका उल्लेख है।[3] विन्ध्यसेन नन्दिवर्धनके पृथिवीषेण प्रथमका समकालीन था। अतः पृथिवीषेणकी भांति उसका राज्यकाल भी सन् ४००के लगभग समाप्त हुआ होगा।

विन्ध्यसेनके अनन्तर उसका पुत्र प्रवरसेन द्वितीय गद्दी पर बैठा। उसके राज्यकालके विषयमे अधिक जानकारी नही है। अजताके लेखमें कहा गया है कि अपनी उत्कृष्ट और उदार राज्यशासनके लिए वह विख्यात था। उसने सम्भवतः केवल पन्द्रह वर्ष तक—सन् ४०० से ४१५ पर्यन्त—राज्य किया, क्योकि उसकी मृत्युके समय उसका पुत्र केवल आठ वर्षका था। उसके श्रीराम नामक सचिवका उल्लेख घटोत्कच गुहाके लेखमे आया है।

प्रवरसेन द्वितीयके पश्चात् जो बालराजा वत्सगुल्मके राजसिंहासनपर बैठा उसका नाम अजंताके लेखमे नष्ट हो गया है। तथापि उसमें कहा गया है कि उसने उत्तम रीतिसे राज्य किया। घटोत्कच गुहाके लेखसे ज्ञात होता है कि उसके सचिवका नाम कीर्ति था। इसके पश्चात् सन् ४५० के लगभग उसका पुत्र देवसेन गद्दीपर बैठा। दक्षिण विदर्भमे किसी स्थानपर प्राप्त उसका एकमात्र अपूर्ण ताम्रपट

१. 'संशोधनमुक्तावलि', भाग १, पृ. ६५ पर मेरा लेख 'कालिदासका कुन्तलेश्वरदौत्य' देखिए। स्ट. इ इ., भाग १, पृ. ३ इ.।
२. क्रमाक २३, पं. २८। ३. क्रमाक २६, पं. ६।

लेख इस समय लंदनके ब्रिटिश संग्रहालयमें सुरक्षित है।[1] यह वत्सगुल्मसे दिया गया था। इससे स्पष्ट है कि वत्सगुल्म अन्त तक इस शाखाकी राजधानी रही।

हस्तिभोज नामक देवसेनका एक अत्यन्त दक्ष, विनीत और गुणी सचिव था। उसपर राज्यका सम्पूर्ण कार्यभार सौंपकर देवसेनने स्वयम् अपना समय भोग-विलासमें व्यतीत किया। हस्तिभोजने भी माता-पिताके समान प्रजाका पालन किया। अजंता गुहालेखके कथनानुसार उसका द्वार सबके लिए खुला हुआ था।[2] घटोत्कच गुहालेखमें भी उसकी प्रशंसा की गई है। इन दोनो लेखोको उसके पुत्र वराहदेवने उत्कीर्ण कराया था।

सन् ४७५ के आसपास देवसेनके अनन्तर उसका पुत्र हरिषेण सिंहासनपर बैठा। वत्सगुल्म शाखाका यह अन्तिम ज्ञात राजा है। वह शूर और महत्त्वाकांक्षी था और उसने अपने राज्यकी समस्त दिशाओंमें विजय प्राप्त की। अजंता लेखकी १४-१५ पंक्तियोमें उसकी विजयोका वर्णन था, किन्तु दुर्दैववश उसका अधिकांश भाग सम्प्रति नष्ट हो चुका है। अवशिष्ट भागमे उसके द्वारा विजित अथवा कर देनेके लिए बाध्य किए हुये विदर्भकी चारो दिशाओंमें स्थित निम्ननिर्दिष्ट देशोंका उल्लेख है। उत्तरमे अवन्ति (मालवा), पूर्वमें कोसला (छत्तीसगढ़ और उससे लगा हुआ प्रदेश), कलिंग (उड़ीसाका कुछ भाग) और आन्ध्र, पश्चिममें लाट (मध्य और दक्षिण गुजरात) और त्रिकूट (नासिक जिला); दक्षिणमें कुन्तल (दक्षिण महाराष्ट्र)।[3] इस प्रकार उत्तरमें मालवासे दक्षिणमें कुन्तल पर्यन्त तथा पश्चिममें अरब समुद्रसे पूर्वमें बगालकी खाड़ी तकके विस्तृत भूभागपर हरिषेणकी निर्बाध सत्ता थी।

इस विस्तृत प्रदेशको हरिषेणने अपने अधिकारमें किया हो, यह सम्भवतः नहीं दिखाई देता। सम्भवतः प्राचीन भारतीय परम्पराका अनुसरण कर उसने इन प्रदेशोंके राजाओंपर विजय प्राप्तकर वार्षिक कर देने की शर्तपर उन्हे उनके राज्य लौटा दिये थे। यह स्पष्ट है कि अवन्ति (मालवा) देशपर विजय प्राप्त करनेके लिए हरिषेणने ज्येष्ठ शाखाके अधिकारमें स्थित उत्तर विदर्भको अपने राज्यमें सम्मिलित कर लिया होगा। प्रतीत होता है कि हरिषेणके आक्रमणके परिणाम-स्वरूप कलिंग तथा आन्ध्र देशमें राज्यक्रान्ति होकर नवीन राजवंशोका उदय हुआ, क्योंकि इसी कालमें सन् ४९८ में कलिंग देशमे गंगोकी राज्यस्थापनाके सूचक गंग संवत्का आरम्भ हुआ[4]। आन्ध्रदेशमे अपने समसामयिक शालंकायन वंशके राजाको

१. क्रमांक २४। २. क्रमांक २५ पंक्ति १०-१३।
३. पूर्वोक्त, पं. १४।
४. ए. इं, जि. २६, पृ. ३२६-३३६ पर मेरा लेख 'गंग संवत्का आरम्भकाल' देखिए। स्ट. इ. इं., भाग २, पृ. ११० इ.।

पदच्युत कर हरिषेणने उसका राज्य विष्णुकुण्डिवंशी गोविन्दवर्माको दिया। गोविन्दवर्माके पुत्र माधववर्मा प्रथमने वाकाटक राजकन्यासे विवाह किया था[1]। वह सम्भवतः हरिषेणकी पुत्री अथवा निकट सम्बन्धी थी। दक्षिण कोसलमें आरंग ताम्रपटमें उल्लिखित प्राचीन राजवंशका अन्त होकर शरभपुरका राजवंश उदित हुआ[2]। पश्चिममें ऋषिक (खानदेश) का राजा हरिषेणका माण्डलिक था जैसा कि उसके द्वारा अजंताकी सतरहवी गुहामें उत्कीर्ण कराये हुए लेखसे स्पष्ट है[3]। दक्षिणकी ओर राष्ट्रकूट वंश हरिषेणके माण्डलिकके रूपमें राज्य कर रहा था; वह आगे चलकर दीर्घकाल तक टिका रहा। हरिषेणने लगभग ४७५ से ५०० तक राज्य किया।

वराहदेव नामक हरिषेणका एक अत्यन्त धार्मिक, उदार व दक्ष सचिव था। वह राजा और प्रजा दोनोको समान रूपसे प्रिय था। वह उपरिनिर्दिष्ट हस्तिभोजका पुत्र तथा बौद्धधर्मका अनुयायी था। उसने अजंताकी सोलहवीं गुहाको खुदवाकर उसे शिल्पचित्रादिसे अलंकृत कराया। उसमें उसके द्वारा उत्कीर्ण कराये हुए लेखसे वत्सगुल्म शाखाके इतिहासकी महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुई है। उसने अजंताके पश्चिममे दस मीलकी दूरीपर स्थित गुलवाडाकी टेकडीपर घटोत्कच गुहा खुदवाकर उसमें अपने वंशका आद्यन्त वृत्तान्त देनेवाला लेख उत्कीर्ण कराया। वह इस समय जीर्णावस्थामें होते हुए भी तत्कालीन इतिहासके लिए अत्यन्त उपयोगी है।

हरिषेण वत्सगुल्म शाखाका अन्तिम ज्ञात राजा है। इसके अनन्तर सम्भवत एक-दो राजा और हुए। किन्तु इस समय उनके नामभी ज्ञात नहीं हैं। प्रतीत होता है कि अन्तमें सन् ५५० के लगभग वाकाटकोके अस्तके पश्चात् माहिष्मतीके कलचुरियोने विदर्भमें अपना राज्य स्थापित किया। आद्य कलचुरि वंशके प्रथम ज्ञात राजा कृष्णराजका राज्य उत्तरमें विदिशासे दक्षिणमे कन्हाड-नासिक तक तथा पश्चिममे बम्बईसे पूर्वमे अमरावती-बैतूल तक विस्तृत था[4]। उसकी मुद्राएँ इस सम्पूर्ण भूभागमे प्राप्त हुई हैं। अतः इसमे सशय नही कि वाकाटक साम्राज्यके नाशके अनन्तर विदर्भमे इस कलचुरि राजाने अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी। पन्द्रह वर्ष पूर्व स्वामिराज नामक राजाका ताम्रपट नन्दरधन अथवा नगरधनमें प्राप्त हुआ

१. ए. इं., जि. ४, पृ. १०३।
२. इन राजाओके कालके विषयमे देखिए मेरा लेख 'महाकोसलके तीन राजवंश,' बुलेटिन ऑफ दि डेक्कन कॉलेज रीसर्च इन्स्टिट्यूट, जि. ८, पृ. ४७ इत्यादि।
३. क्रमांक २७, पं. २१।
४. कॉ इ. इं, जि ४, प्रस्तावना, पृ. ४६ और आगे।

था। वह उस राजाने कलचुरि संवत्के ३२२वें वर्षमें (सन् ५७३-७४) दिया था। इस संवत्का यह एकही लेख विदर्भमें मिला है।[1] कलचुरि राजाओंके अधिकांश लेख इसी संवत्के हैं। अतः यह स्पष्ट है कि स्वामिराज कलचुरि राजा कृष्णराज (सन् ५५०–५७५) का माण्डलिक था।

हरिषेणके पश्चात् शीघ्र ही उसके विस्तृत साम्राज्यका नाश किस प्रकार हुआ, यह इतिहाससे ज्ञात नहीं होता। तथापि वाकाटकोंके अस्तके पश्चात् सौ-सवासौ वर्षके भीतर लिखे हुए दण्डीके दशकुमारचरितमें विदर्भके एक राजाकी कथा आई है। उसमें वर्णित राजनीतिक परिस्थिति वाकाटकोंके अन्तिम कालकी प्रतीत होती है। उसके आधारपर कुछ अनुमान किये जा सकते हैं।

दशकुमारचरितके अन्तिम अर्थात् अष्टम उच्छ्वासमें मगधके पदच्युत राजा राजहंसके पुत्र राजवाहनके अनुयायी विश्रुतकी कथा दी गई है। उससे ज्ञात होता है कि एक समय दक्षिणमें एक विशाल साम्राज्य था। इस साम्राज्यका अधिपति स्वतः विदर्भपर राज्य करता था और कुन्तल (दक्षिण महाराष्ट्र), अश्मक (गोदावरीके दक्षिण तटका प्रदेश), ऋषीक (खानदेश), मुरल (गोदावरीका निकटवर्ती प्रदेश), नासिक्य (नासिक), कोंकण इत्यादि प्रदेश उसके माण्डलिकोंके अधिकारमें थे। इस प्रकार इस विदर्भनृपतिका साम्राज्य उत्तरमें नर्मदासे दक्षिणमें तुंगभद्रापर्यन्त तथा पश्चिममें अरब सागरसे पूर्वमें लगभग वैनगंगा नदी तक विस्तृत था। उसका तरुण पुत्र बुद्धिमान् और कलाकुशल था, किन्तु दण्डनीति अथवा राजशास्त्रकी ओर उसका ध्यान बिलकुल नहीं था। उसके पिताके वृद्ध मन्त्रीने कई बार उसे दण्डनीतिका अध्ययन करनेके लिए कहा। परन्तु अपने पैशुन्यपण्डित व बहिर्बुद्धि खुशामदीकी इच्छाका अनुसरण करते हुये उसने वृद्ध मन्त्रीके उपदेशकी अवहेलना की तथा राज्यकार्यकी ओर तनिक भी ध्यान न देकर वह विषयोपभोग और नानाप्रकारके व्यसनोंमें अपना समय व्यतीत करने लगा। उसके अधिकारी और प्रजाजन भी उसके व्यसनोंका अनुकरण करने लगे। इसके फलस्वरूप राज्यमें सर्वत्र अव्यवस्था व अराजकता फैल गई। इस अवसरका लाभ उठाकर पड़ोसके अश्मक देशके राजाने अपने मन्त्रीके पुत्रको विदर्भराजके दरबारमें भेजा। अश्मकराजकी इच्छाओंको ध्यानमें रखते हुये उसने राजाका मन और भी अधिक व्यसनोंकी ओर आकृष्ट किया। इसी प्रकार उसने अनेक उपायोंसे विदर्भराजके सैनिकोंका नाश करना प्रारम्भ किया। अन्तमें उस राज्यमें सर्वत्र अतिशय अव्यवस्था फैली हुई देखकर अश्मकाधिपतिने वनवासी (उत्तर कानडा जिला) देशके राजाको

१. इस कथासे प्राप्त ऐतिहासिक जानकारीके लिए संशोधनमुक्तावलि, भा. २, पृ. ८४-१००, में मेरा लेख देखिए। स्ट. इ. इं., भाग १, पृ. १९५ इ.।

विदर्भपर आक्रमण करनेके लिए उत्तेजित किया। वनवासीके राजाने भारी सेनाके साथ अभियान करके विदर्भके दक्षिण भागपर अधिकार कर लिया। इसपर विदर्भनृपतिने अपनी सेनाओंको जमा किया तथा अपने सब सामन्तोंको सहायताके लिए बुलावा भेजा। तदनुसार अनेक सामन्त एकत्रित हुए। उनमेंसे विश्वासघाती अश्मकराज सर्वप्रथम वहाँ पहुँचा। इसके अतिरिक्त कुन्तल, मुरल, ऋषीक, नासिक्य, कोंकण इत्यादि देशोंके माण्डलिक भी विदर्भसम्राट्को सहायताके लिए आए। इन सामन्तोंकी सहायतासे शत्रुका सामना करनेके लिए विदर्भनृपतिने वरदा (वर्धा) नदीके तटपर अपनी सेनाका पड़ाव डाल दिया। अश्मकाधिपतिने कुन्तलनृपतिको विदर्भराजके विरुद्ध भड़काया तथा अन्य सामन्तोंके मनोंमें भी असन्तोष उत्पन्न किया। इसके फलस्वरूप जब विदर्भनृपति शत्रुओंके साथ युद्ध कर रहा था तभी स्वयं उसके सामन्तोंने उसकी सेनाके पिछवाड़ेपर हल्ला बोल दिया। फलतः उसका पराभव हुआ और वह युद्धमें मारा गया। इसके पश्चात् अश्मकाधिपतिने अन्य सामन्तोंमें लूटके बटवारेके निमित्त कलह उत्पन्न कर उनका परस्पर नाश करवा डाला। अन्तमें उसने वनवासीनृपतिको लूटका थोड़ा सा भाग देकर उसे दूर हटा दिया और स्वत विदर्भका राज्य हथिया लिया। इस बीच विदर्भके वृद्ध मन्त्रीने रानी व उसकी दो सन्तानों--पुत्र और पुत्री--को माहिष्मती पहुँचा दिया। वहाँ विदर्भनृपतिका सौतेला भाई राज्य कर रहा था। उसने उन्हें आश्रय दिया। किन्तु बादमें सौन्दर्यसे आकृष्ट होकर उसने रानीपर बुरी दृष्टि डाली। किन्तु रानीने उसकी भर्त्सना की। इसपर उसने राजपुत्रको मारनेका निश्चय किया। किन्तु विश्रुतने उसका पक्ष लेकर राजाको मार डाला और राजपुत्रको माहिष्मतीकी गद्दीपर बैठाया।

यहाँ तककी कथा दशकुमारचरितके आठवें उच्छ्वासमें आई है। इस उच्छ्वासके अपूर्ण होनेके कारण दण्डीने इस कथाका अन्त किस प्रकार किया था, राजकुमारको विदर्भके सिंहासनपर पुनः आरूढ़ करनेमें विश्रुतको सफलता मिली अथवा नहीं, यह जाननेका कोई साधन नहीं है।

उक्त कथामें सन् ५०० के आसपास हरिषेण की मृत्युके अनन्तर उत्पन्न परिस्थिति यथार्थ रूपमें प्रतिबिम्बित प्रतीत होती है। परवर्ती कालमें दक्षिणमें माहिष्मती, बदामी, मान्यखेट, कल्याणी इत्यादि स्थानोंपर साम्राज्यसत्ताके केन्द्र स्थापित हुए, किन्तु वाकाटककालके पश्चात् विदर्भमें कभी नहीं। इसके अतिरिक्त इस कथामें उल्लिखित कतिपय देशनाम परवर्ती कालमें व्यवहारमें नहीं रहे। उदाहरणार्थ, ऋषीकको ही लीजिए। महाभारत, रामायण, बृहत्संहिता और पुलुमाविके नासिक गुहालेखमें इस देशका उल्लेख प्राप्त होता है, किन्तु बादके ग्रन्थों अथवा उत्कीर्ण लेखोंमें वह कभी भी नहीं मिलता। इन प्रमाणोंसे यह अनुमान होता है कि विश्रुतचरितकी घटना सम्भवतः ईसाकी षष्ठ शताब्दीमें घटी होगी।

दण्डीके पूर्वज विदर्भके निवासी थे।[1] फलतः उसे इस कथामें उल्लिखित देशकी तत्कालीन परिस्थितिकी विश्वसनीय जानकारी रही हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

दण्डीकी कथासे यह स्पष्ट दिखाई देता है कि उत्तरमें नर्मदासे दक्षिणमें तुंगभद्रा तक फैला हुआ विशाल वाकाटक साम्राज्य हरिषेणके पुत्रकी नादानी तथा सामन्तोंके विश्वासघातके कारण एकाएक छिन्न-भिन्न हो गया। दण्डीकी कथाके अपूर्ण होनेके कारण हरिषेणके पौत्रको अन्तमे विदर्भका राज्य वापिस मिला या नहीं, यह ज्ञात नहीं है। कदाचित् विष्णुकुण्डिवंशी माधववर्मा प्रथमकी सहायतासे वह उसे वापिस मिल गया होगा, क्योंकि यह आन्ध्र राजा हरिषेणका सम्बन्धी था।[2] तत्कालीन उत्कीर्ण लेखोंके वर्णनानुसार उसने ग्यारह अश्वमेध और अनेक श्रौत याग किये थे। अतः उसके अत्यन्त शक्तिशाली होनेमें सन्देह नही। इस राजाकी सहायतासे वाकाटक राजपुत्रको अपना पैतृक राज्य मिल गया हो तो भी उसके अथवा उसके पुत्रके हाथमे राज्यका दीर्घकाल तक रहना सम्भव नही प्रतीत होता। जैसा कि इसके पूर्व कहा जा चुका है, कलचुरिवंशी कृष्णराजने माहिष्मतीमें अपनी सत्ता दृढ़ कर सन् ५५० के आसपास उत्तर महाराष्ट्र और विदर्भ प्रदेशोको भी अपने राज्यमें सम्मिलित कर लिया था। सोमवंशी, गंग तथा विष्णुकुण्डी राजाओने पूर्वकी ओर कोसल, कलिंग और आन्ध्र देशमे अपना स्वातन्त्र्य उद्घोषित किया। दक्षिणमें कुन्तलाधिपति राष्ट्रकूट भी धीरे-धीरे प्रबल होने लगे। इस प्रकार लगभग तीन सौ वर्षोंके उज्ज्वल शासनके पश्चात् सन् ५५० के लगभग वाकाटकवंश नामशेष रह गया।

१. अवन्तिसुन्दरीकथामें कहा गया है कि दण्डीका प्रपितामह संस्कृत कवि दामोदर अचलपुरमें रहता था। यह अचलपुर विदर्भके अमरावती जिलेका एलिचपुर होना चाहिए।

२. चिक्कुला ताम्रपटमें माधववर्माका वर्णन इन शब्दोंमें किया गया है— 'विष्णुकुंडिवाकाटकवंशद्वयालङ्कृतजन्मनः,' देखिए, ए. इं, जि. ४, पृ. १९६।

२. राज्य-शासन

वाकाटकोंकी नन्दिवर्धन तथा वत्सगुल्म इन दोनो शाखाओंके प्रत्यक्ष अधिकारमें स्थित प्रदेश उत्तरमें नर्मदासे दक्षिणमे गोदावरी तक और पश्चिममें ऋषीक (खानदेश) की पूर्वी सीमासे पूर्वमें दक्षिण कोसल (छत्तीसगढ़) की पश्चिमी सीमा तक फैला हुआ था। यह विस्तृत प्रदेश 'राष्ट्र' अथवा 'राज्य' नामक कुछ विभागोमें बंटा हुआ था। इनमें से कुछका उल्लेख उत्कीर्ण लेखोमे प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, बेलोरा ताम्रपटमें पाक्कण राष्ट्रका[1] चम्मक ताम्रपटमें भोजकट राज्यका[2] दुदिया ताम्रपटमे आरम्भि राज्यका[3] निर्देश है। तत्कालीन माण्डलिकोंके राज्य सामान्यतः छोटे थे; अतः उनके विभागोंका उल्लेख उस-उस दिशाके नामपर किया गया है। उदाहरणार्थ, पाण्डववंशी भरतबलके ब्रह्मनी ताम्रपटमें उत्तर राष्ट्रका[4] और महाजयराजके आरंग ताम्रपट[5] तथा महासुदेवराजके रायपुर ताम्रपटमें पूर्वराष्ट्रका[6] उल्लेख है। वाकाटकोके ताम्रपटोमे इस प्रकारके विभाग प्राप्त नही होते। आजकलके जिलोकी भांति इन 'राष्ट्रो' अथवा 'राज्यो'के उपविभाग थे। उन्हें 'विषय' कहा जाता था। उदाहरणार्थ, ब्रह्मनी ताम्रपटमे मेकला देशके उत्तरराष्ट्र नामक विभागमें स्थित पञ्चगर्ता विषयका उल्लेख है।[7] विषयोंके नामोंके अन्तमें सामान्यतः 'कट' अथवा 'कटक' शब्द प्रयुक्त मिलता है। उदाहरणके लिए, भोजकट[8] (अमरावती जिला), वेन्नाकट[9] (भंडारा और बालाघाट जिला), नाङ्गरकटक[10] तथा नान्दीकट[11] (नादेड) इन विषयनामोका उल्लेख किया जा सकता है। किसी विषयके बहुत बड़ा होनेपर दिशाओको ध्यानमें रखते हुए उसे छोटे-छोटे भागोंमें विभक्त कर दिया जाता था। तिरोडो ताम्रपटमें वेन्नाकटके अपरपट्ट (पश्चिमी भाग) का उल्लेख है।[12] विषयोके भी 'आहार' तथा 'भोग' अथवा 'भुक्ति' ये छोटे विभाग थे। वाकाटक ताम्रपटोमें सुप्रतिष्ठाहार नामक

१. क्रमाक ५, पं. १३। २. क्रमांक ६, पं. १८।
३ क्रमांक १०, पं १३। ४. क्रमांक १९, पं. ३४।
५. कॉ इ इ, जि. ३, पृ १९३। ६. पूर्वोक्त, पृ. १९८।
७. क्रमांक १९, पं ३४-३५।
८. हरिवंश (विष्णुपर्व ६०, श्लो. ३२) के अनुसार भोजकट नामक नगर कृष्णके साले रुक्मीने स्थापित किया था।
९. क्रमांक ११, पं. १३। १०. क्रमांक २४, पं. २।
११. क्रमांक २३, पं. ५। १२. क्रमांक ११, पं. १३।

एकमात्र आहारका उल्लेख मिलता है।[1] उसमें वर्तमान हिंगणघाट, वरोडा और यवतमाल तहसीलोंका कुछ भाग समाविष्ट था। आहार तथा भोग अथवा भुक्तिके बीच पारस्परिक सम्बन्ध जाननेके निश्चित साधन वाकाटकोंके लेखोंमें प्राप्त नहीं होते। वाकाटकोंके ताम्रपटोंमें वेण्णाकापरभोग,[2] लोहनगरभोग[3] और हिरण्यपुरभोग[4] इन तीन भोगोका तथा असिभुक्ति[5] नामक एक भुक्तिका उल्लेख है। कतिपय लेखोंमें 'मार्ग' नामक विभागका उल्लेख मिलता है। यह विभाग विषयकी अपेक्षा छोटा और भुक्तिकी अपेक्षा बड़ा था।[6] 'भोग' अथवा 'भुक्ति' नामक विभागमें नगर, उपनगर तथा गाव थे। नगरों तथा उपनगरोके अन्तमें पुर अथवा नगर शब्दका प्रयोग होता था। उदाहरणार्थ देखिए अश्वत्थनगर, हिरण्यपुर, और चन्द्रपुर। नवीन नगरोंके नाम बहुधा उन्हें बसानेवालोके नामपर रखे जाते थे। उदाहरणके लिए, प्रवरसेन द्वितीय द्वारा बसाए हुए नगर प्रवरपुरका उल्लेख किया जा सकता है। ग्रामोके नामके अन्तमें 'ग्राम' (उदाहरणार्थ, दंगुणग्राम, शीर्षग्राम मण्डुकिग्राम), 'खेट' अथवा 'खेटक' (जैसे वरदाखेट, अश्वत्थखेटक), 'वाटक' (जैसे बोंथिकवाटक, पवरज्जवाटक इत्यादि) और 'वीरक' (जैसे करञ्जवीरक, दर्भवीरक इत्यादि) इनमेंसे एक शब्द प्रयुक्त होता था। कुछ विभागोंके नाम उनमें स्थित ग्रामोकी संख्याके आधारपर पड़ गये थे। उदाहरणके लिए प्रवरेश्वरषड्-

१. क्रमांक, २, पं १०; क्रमांक ३, पं. १७; क्रमांक १२, पं. १७।
२. क्रमांक ७, पं. १७-१८। ३ क्रमाक १३, पं. २०।
४. क्रमाक १०, पं. १६। ५. क्रमाक ४, पं. १३; क्रमांक ५, पं. १३।
६ अनेक लेखोसे ज्ञात होता है कि प्राचीन कालमें 'पथक'की भांति 'मार्ग' भी भूविभागके अर्थमें प्रयुक्त होता था। उदाहरणार्थ, शरभपुरीय राजाओके एक ताम्रपटमें 'सुन्दरामार्गीय'का उल्लेख लीजिए। इन राजाओके ताम्रपटोमें भूविभागके सूचक तद्धित रूपोका (उदाहरण विषयीय, भोगीय इत्यादि) उल्लेख मिलता है। एतत्सदृश 'मार्गीय' रूपके उल्लेखसे 'मार्ग'का 'भूविभाग'के अर्थमें प्रयोग स्पष्ट है। वाकाटक लेखोंमें ऐसे अनेक भागोंका उल्लेख है। उदाहरणार्थ देखिए बेलोरा ताम्रपटका शैलपुर मार्ग (क्रमांक ४ और ५, तं. १३), ऋद्धपुर ताम्रपटका कौशिकमार्ग (क्र. ८, पं. १२), इन्दौर ताम्रपटका गेपुरमार्ग (क्र. ६, पं. ८), पट्टन ताम्रपटका वरदाखेटमार्ग (क्र. १३, पं. २०), पटना संग्रहालय ताम्रपटके सुन्धातिमार्ग और यशपुरमार्ग (क्र. १५, पं. २, ६), वाशीम ताम्रपटका नान्दीकटमें अन्तर्भूत उत्तरमार्ग (क्र. २३, पं. ५) और इंडिया ऑफिस ताम्रपटका नाङ्गरकटकमें स्थित उत्तरमार्ग (क. २४, पं. १)।

विशतिवाटकको ले सकते हैं।[1] प्रवरसेन प्रथमने जहां अपने नामसे प्रवरेश्वर नामक शिवालय बनवाया था उस विभागको यह नाम दिया गया था।

सातवाहनकालमें भौगोलिक नाम प्राकृत भाषामें थे। वाकाटकोंने अपने उत्कीर्ण लेखोके लिए संस्कृतका उपयोग किया। अतः उनमें उल्लिखित प्रादेशिक नाम भी संस्कृतमें ही हैं। जिस सातमाला पर्वतमालामें अजंताकी गुहाएं हैं, उसे अजंता लेखमें 'सह्यपाद' नामसे कहा गया है।[2] कतिपय नदियोंके तत्कालीन नाम आज पूर्णतः परिवर्तित हो चुके हैं। उदाहरणार्थ, जाब ताम्रपटमे जिस नदीका नाम 'उमा' दिया गया है,[3] आजकल वन्ना कहते हैं। इसीप्रकार चर्माङ्क नामक ग्राम (वर्तमानचम्मक) जिस नदीके तटपर बसा हुआ था उसे पहले 'मधुनदी' कहते थे[4], किन्तु अब उसका नाम चन्द्रभागा है। कुछ नदियोंके प्राचीन नाम थोड़े बहुत परिवर्तित होने पर भी पहचाने जा सकते हैं। उदाहरणार्थ प्राचीन 'बेण्णा'[5] वर्तमान वाइनगगा है और प्राचीन 'हिरण्या'[6] आजकी एरई।

वाकाटकोके कालमें विदर्भमें भी अन्य देशोकी भाति राजसत्तात्मक पद्धति प्रचलित थी। सम्पूर्ण सत्ता राजामे केन्द्रित थी, किन्तु उसपर स्मृतिविहित नियमोंका नियन्त्रण था। वाकाटकोके लेखोमें मन्त्रिपरिषद् का उल्लेख कहीं भी नही मिलता, फिर लोकसभाका तो कहना ही क्या? किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि तत्कालीन राजाओका राज्य केवल मनमाना अथवा अत्याचारपूर्ण था। धर्मशास्त्रो तथा अर्थशास्त्रोमे सदैव भारतीय राजाओको लोककल्याणकारी राज्यका ध्येय अपने समक्ष रखनेका आदेश दिया गया है। कालिदास आदि कवियोने अपने काव्य-नाटकादि ग्रन्थोमे इसी आदर्शको दुहराया है।[7] प्रतीत होता है कि वाकाटकोने इस ध्येयको कार्यरूपमें परिणत करनेका प्रयत्न किया था। सब राजाओकी शासन पद्धतिके विषयमे हमे जानकारी नही है, किन्तु पृथिवीषेण प्रथमका जो वर्णन अनेक ताम्रपटोंमें प्राप्त होता है वह सामान्यतः तत्कालीन शासनपद्धतिका सूचक माना

१. क्रमांक ५, पं. १४।
२. 'नित्यं वितानार्थधिया वहद्भिरम्भोधरै. श्रीमति सह्यपादे', क्रमांक २७, पं. २३।
३. क्रमाक ३, पं. १७। ४. क्रमांक ६, पं. १८।
५. क्रमांक ११, पं. १३। ६. क्रमांक १२, पं. १।
७. उदाहरणके लिए रघुवंशका निम्नाकित श्लोक लीजिए—

प्रजाना विनयाधानाद् रक्षणाद् भरणादपि।
स पिता पितरस्तासा केवलं जन्महेतवः॥

(सर्ग १, श्लो. २४)

जा सकता है। यह पृथिवीषेण अपने शौर्य, बुद्धिमत्ता और राजनीतिनैपुण्यके लिए ही नहीं अपितु सत्यवादिता, ऋजुता, दयाशीलता आदि गुणोंके लिए भी विख्यात था। धर्मविजयी होनेका उसे यथार्थ अभिमान था[1]। इसका अर्थ यह है कि उसने लोभ अथवा बलात्कारसे कभी भी परराज्यापहरण नहीं किया। वह योग्य जनोका आदर करता था उसका व्यवहार अजातशत्रु युधिष्ठिरके समान था। प्रवरसेन द्वितीयने अपने उत्कृष्ट राज्यशासनसे प्रजाको कृतयुगमें रहनेकी प्रतीति कराई थी[2]। उत्कीर्ण लेखोसे इतर राजाओंके शासनके विषयमें सूचना प्राप्त नही होती, किन्तु विपरीत प्रमाणोंके अभावमे यह माननेमें कोई क्षति नहीं कि उन्होंनेभी इसी ध्येयको अपने समक्ष रखा था। वाकाटक नृपति हरिषेणको उसके एक माण्डलिकके लेखमें 'प्रजाका हितकारी' कहा गया है[3]। वाकाटक राजाओके सचिवभी इसी उद्देश्यसे प्रेरित प्रतीत होते हैं। देवसेनके सचिव हस्तिभोजके विषयमे अजंता लेखमें कहा गया है कि उसके मनमें सदैव प्रजाके हितकी प्रबल इच्छा रहती थी तथा वह उत्तम रीतिसे प्रजाका पालन करता था। अतः वह सबको माता-पिताके समान प्रिय था तथा वे उसके पास कभी भी निःसंकोच भावसे जा सकते थे।

उत्तर भारतमे उस समय कुषाण तथा गुप्त राजाओंने[4] शाहानुशाहि, परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर सदृश अत्युच्च उपाधियाँ धारण की थी, किन्तु स्वतन्त्र होनेपर भी वाकाटक राजाओने राजन् अथवा महाराजकी अपेक्षा उच्चतर पदवीकी अभिलाषा नहीं की।[5] इसी प्रकार उन्होने कभी किसी देवताका अवतार

१ क्रमांक ४, पं. ८, प्रवरसेन प्रथम तथा उसके कुछ वंशजोंने अपनी धार्मिकता तथा वैदिकधर्मानुयायिताकी निदर्शक 'धर्ममहाराज' की पदवी धारण की थी।

२. 'शम्भो ॅप्रसादधृतकार्त्तयुगस्य' ' प्रवरसेनस्य', क्रमांक ३, पं. ११-१२।

३. 'हरिषेणे हितकारिणि प्रजानाम्', क्रमांक २७ पं. २१।

४. कॉ. इ. इ, जि. ३, पृ. ८।

५. वाकाटक ताम्रपटोमें चन्द्रगुप्त द्वितीयके लिए 'महाराजाधिराज' तथा तत्कालीन वाकाटक राजाके लिए 'महाराज' की पदवीका प्रयोग किया गया है। इस आधारपर कुछ विद्वानोंका मत है कि सम्भवतः वे गुप्तोके माण्डलिक थे। किन्तु यह युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता, क्योकि समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्तके उदयके पूर्व भी वत्सगुल्म शाखाके राजाओंने 'महाराज' की ही पदवी धारण की थी। उस समय गुप्तोके प्रभुत्वका प्रश्न ही नही था। केवल प्रवरसेन प्रथमने वाजपेय यज्ञ करनेपर सम्राट्की पदवी धारण की थी।

होनेका भी दावा नहीं किया। उनका विश्वास था कि उन्हें अपने इष्ट देवताकी कृपासे राज्यलक्ष्मी प्राप्त हुई थी। उदाहरणार्थ, रुद्रसेन द्वितीयके विषयमे कहा गया है कि उसे उसका ऐश्वर्य चक्रपाणिकी कृपासे प्राप्त हुआ था।[1] प्रवरसेन द्वितीयके एक ताम्रपत्रमें कहा गया है कि भगवान् शंकरकी कृपासे शूलायुध प्राप्त हुआ था।[2] गुप्त सम्राटोंके साथ सम्पर्कके कारण पाण्डववंशी राजाओंने भी गुप्तोकी भाँति बड़ी-बड़ी पदवियाँ धारण की थी। उदाहरणार्थ, भरतबलने अपने ताम्रपटमें 'परमगुरुदेवताधि-दैवतविशेष' कहकर अपना वर्णन किया है।[3] इस भरतबलकी रानी लोकप्रकाशाको भी 'अमरजकुलजा' (दैवी कुलमें उत्पन्न) कहा गया है।[4] वाकाटकोंने अपने उत्कीर्ण लेखोमें कहीं भी किसी सुप्रसिद्ध पौराणिक वंशके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित नहीं किया। इसके विपरीत अन्य दाक्षिणात्य राजाओकी भाति वे स्वयम्को 'हारीतीपुत्र' कहते हैं। किन्तु उनके मेकलदेशाधिपति माण्डलिक सोमवंशी होने तथा पाण्डवकुलमे उत्पन्न होनेका दावा करते है। महाकान्तार (बस्तर जिला) के राजा भी अपनेको नलवंशी कहनेमें गौरवका अनुभव करते हैं।[5]

वाकाटकोके दानपत्रोमे तीन प्रकारके माण्डलिकोका उल्लेख है: (१) सम्राटका विजय करनेका निश्चय जानने मात्र पर उसका प्रभुत्व स्वीकार करनेवाले; (२) सम्राट् द्वारा आक्रमण किये जानेपर शरणमे आनेवाले; और (३) जिन्हे सम्राट्ने शौर्यसे जीत लिया है।[6] प्रतीत होता है कि उत्तर भारतके गुप्त साम्राज्यकी तुलनामें वाकाटक साम्राज्यमें माण्डलिकोपर अपेक्षाकृत कम बन्धन थे, क्योकि उनके उत्कीर्ण लेखोमे सम्राट्का नामोल्लेख भी नही मिलता।[7] सम्भवतः उन्हे केवल सम्राट्को कर देना और युद्धके अवसरपर बुलावा आनेपर सेनासमेत सम्राट्की सहायताके लिए जाना पडता था।[8]

१ 'भगवतश्चक्रपाणे-प्रसादोपार्जितश्रीसमुदयस्य', क्रमाक ३, पं. १३।
२. देखिए —'शम्भो-प्रसादधृतशूलायुधस्य', क्रमांक १५, प. १।
३ क्रमांक १९, पं. ९, १४। ४ क्रमाक १९, पं. १९।
५. ए इं, जि. १९, पृ १०२।
६. क्रमांक ८, पं २६-२७।
७. क्रमाक २६, पं. २१ में वाकाटक सम्राट्का स्पष्ट निर्देश है। क्रमाक १९, पं. ३२-३४ मे उसका नाम श्लेष द्वारा सूचित किया गया है। शरभपुरीय राजा बहुधा वाकाटकोके मांडलिक थे, किन्तु उनके लेखोमे वाकाटक सम्राटोका नामनिर्देश नहीं आता।
८. दशकुमारचरितके अष्टम उच्छ्वासमें वर्णन है कि विदर्भपर परकीय आक्रमण होनेपर विदर्भके सामन्त अपने सम्राट्की सहायताके लिए एकत्रित हुए।

वाकाटकोंकी शासनपद्धतिके विषयमें हमें अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती। गुप्तोंके दानपत्रों तथा मुद्रालेखोंमें उनकी रानियोंका उल्लेख मिलता है। वाकाटकोंके दानपत्रोंमें ऐसे उल्लेख नहीं मिलते। इस नियमके केवल दो अपवाद हैं रुद्रसेन द्वितीयकी अग्रमहिषी प्रभावती गुप्ता[1] तथा नरेन्द्रसेनकी रानी अज्झितभट्टारिका।[2] इनमेंसे प्रथम एक कर्मण्य स्त्री थी जिसने अपने अल्पवयस्क पुत्रके नामपर लगभग तेरह वर्ष तक राज्यकार्यकी देखभाल की थी। अन्य रानियोंने कभी राज्यशासनमें भाग लिया प्रतीत नहीं होता। युवराज सम्भवतः अपने पिताको राज्यके कार्यभारमें सहायता देता था, किन्तु उसका भी उल्लेख उत्कीर्ण लेखोंमें नहीं मिलता।[3]

राज्यकार्यमें सम्भवतः अनेक मन्त्रियों और अधिकारियोंकी सहायता ली जाती थी, किन्तु उत्कीर्ण लेखोंमें उनमेंसे कुछका ही उल्लेख मिलता है। दशकुमारचरितके अष्टम उच्छ्वासमें वाकाटककालीन परिस्थिति वर्णित है। उसमें मन्त्री (परामर्शदाता) व अध्यक्षों (भिन्न-भिन्न विभागोंके मुख्य) का उल्लेख है, किन्तु उत्कीर्ण लेखोंमें वे प्राप्त नहीं होते। अजंताकी सोलहवीं गुहाके लेखमें सचिवका निर्देश है।[4] राष्ट्र अथवा राज्यनामक देशके बड़े विभाग थे। उनके मुख्य 'राज्याधिकृत' कहलाते थे। तिरोडी ताम्रपटमें उल्लिखित चमिदास एक राज्याधिकृत था।[5] वाकाटकोंके अनेक दानपत्रोंमें सर्वाध्यक्षका उल्लेख प्राप्त होता है।[6] यह तत्कालीन सचिवालय (सेक्रेटेरियट) का मुख्य था। उसे अपने अधीन कुलपुत्र नामक अधिकारियोंको नियुक्त करने और उन्हें राजाज्ञा कार्यान्वित करनेके लिए आवश्यक आदेश देनेका अधिकार था।[7] कुलपुत्रोंके पास अनेक कार्य थे। उनका मुख्य कार्य था राज्यमें शान्ति तथा सुव्यवस्था कायम रखना। इस प्रयोजनके लिए उनके अधीन भट और छात्र दिये गये थे[8]। भट सैनिक थे और छात्र पुलिस सिपाही। किन्हीं लेखोंमें 'छात्र' के स्थानपर 'चाट शब्द प्रयुक्त है। ये कुलपुत्र, छात्र और भट आजकलके तहसील-दारोंकी भांति अपने-अपने विभागमें दौरा कर भूमि-कर तथा राज्यके अन्य कर वसूल करते थे। उन्हें भूमिगत निधि जप्त करने, नमक व अन्य खानोंकी संचालनकी व्यवस्था करने तथा राज्यके कार्योंके लिए बेगार लेनेका अधिकार था[9]। अपने-

१. क्रमांक २, पं. ९। २. क्रमांक १८, पं. ३१।
३. नलनृपति भवदत्तवर्माका ऋद्धपुर ताम्रपट उसके अर्थपति नामक पुत्रने दिया था। वह उस समय युवराज रहा होगा।
४. क्रमांक २५, पं. १५। ५. क्रमांक ११, पं. ३३।
६. क्रमांक ३, पं २०। ७. वही।
८. द्रष्टव्य—'आज्ञासञ्चारिकुलपुत्राधिकृता भटाश्छात्राश्च,' क्रमांक ३, पं. २१।
९. क्रमांक ३, पं २६।

अपने विभागोंमें राज्यकार्यसे दौरा करते समय उनके भोजन और निवासका व्यय गांववालोंको वहन करना पडता था। फलतः जब राजा ब्राह्मणोंको अग्रहारके रूपमें ग्राम अथवा भूमिका दान करता था तो कुलपुत्रादिकोंको उनसे उपर्युक्त कार्योंके लिए द्रव्य लेने अथवा उनके अग्रहारमे प्रवेश करनेका निषेध कर दिया जाता था। किन्तु उस अग्रहारोंमें शरण प्राप्त किये हुए किसी व्यक्तिको राजद्रोह, ब्रह्महत्या, चोरी, परस्त्रीसम्बन्ध जैसे अपराधोंके लिए बन्दी बनानेके उद्देश्यसे अग्रहारमें भट तथा छात्रों (चाटो) के प्रवेशपर कोई प्रतिबन्ध न था[1]। जिस ब्राह्मणको अग्रहार दिया जाता था वह ब्राह्मण जब तक राजद्रोहका कार्य अथवा ग्रामवासियोंके विरुद्ध अन्य कोई अपराध न करता तब तक उसे भटो और छात्रोसे परेशानीकी कोई आशंका नहीं थी। इन कारणोसे भटों व छात्रोको प्रत्येक दानपत्रके विषयमें सूचना देना आवश्यक माना जाता था।

वाकाटककालमे रजुक नामक एक और अधिकारी था। उसका उल्लेख केवल एक ताम्रपटमें आया है।[2] 'रजुक' शब्द रस्सी अथवा डोरीके अर्थमें प्रयुक्त रज्जु शब्दसे निकला है। अत. आरम्भमें यह अधिकारी सम्भवतः भूमिका माप लेकर उसपर कर निश्चित करता था। अशोकके शासन लेखोंमें रजुकोका निर्देश मिलता है। मौर्यकालमे ये उच्च राज्याधिकारी थे जिनकी नियुक्ति लाखो लोगोपर होती थी। कालान्तरमे उनके अधिकार सीमित हो गए, क्योकि वाकाटकोके ताम्रपटोंमें उल्लिखित रजुक एक लेखक (क्लार्क) था। बम्हनी ताम्रपटमे 'राहसिक' नामक अधिकारीका निर्देश है।[3] वह राजाका व्यक्तिगत मन्त्री अथवा गुप्त पत्रादिका लेखक प्रतीत होता है।

वाकाटककालीन उत्कीर्ण लेखो मे उल्लिखित मुख्य सैनिक और पुलिस अधिकारी थे सेनापति और दण्डनायक। प्रायः सभी दानपत्रोंमे सेनापतिका उल्लेख मिलता है, क्योकि वे उसके कार्यालयमें लिखे जाते थे।[4] वाकाटक राजाओकी भाति उनके सैनिक अधिकारियोकी पदविया भी साधारण थीं। उत्तर भारतमें

१. तुलनीय--'राज्ञा सप्ताङ्गे राज्ये अद्रोहप्रवृत्तानां अब्रह्मघ्नचौरपारदारिकराजापथ्यकारिप्रभृतीनां सङ्ग्राममकुर्वतां अन्यग्रामेष्वनपराद्धानां आचन्द्रादित्यकालीय.। क्रमाक ६, पं ४०-४३।

२. क्रमाक ९, पं. ३४। ३. क्रमाक १९, पं. ४८।

४. उदाहरणके लिये देखिए क्रमांक ५, पं. ३०।

५. याज्ञवल्क्यस्मृति, अध्याय २ श्लोक ३१९-२० की मिताक्षरा टीकामें उद्धृत एक स्मृतिवचनमें कहा गया है कि दानपत्र सन्धिविग्रहकारी अथवा परराष्ट्रमन्त्रीको लिखने चाहिए।

गुप्तोंने अपने प्रशासकीय तथा सैनिक अधिकारियोंके लिए कुमारामात्य, सान्धिविग्रहिक, महादण्डनायक जैसी बड़ी-बड़ी अधिकारसूचक संज्ञाओंका उपयोग किया,[1] किन्तु वाकाटकोंने पहलेकी सादी संज्ञाओंको ही चालू रखा। अधिकारियोंकी बदली प्रायः होती थी। प्रवरसेन द्वितीयके राज्यकालमें भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न कालमें सेनापति पदपर अधिष्ठित थे। इसी प्रकार वही पुरुष उस पदपर भिन्न-भिन्न वर्षोंमें पाया जाता है। उदाहरणार्थ, चित्रवर्मा प्रवरसेनके राज्यकालके ग्यारहवें तथा तेरहवें वर्षमें[2], बाप्प अठारहवें और पच्चीसवें वर्षमें[3], नमिदास और चमिदास तेईसवें वर्षमें[4], कात्यायन सत्ताइसवें वर्षमें,[5] सेनापति पदपर थे। कभी-कभी दानपत्रकी आज्ञा राजा स्वयम् सेनापतिको देता था। ऐसे प्रसंगमें दानपत्रके अन्तमें 'आज्ञा स्वयम्' ये शब्द लिखे जाते थे। अन्य समयमें जो व्यक्ति राजाज्ञा सेनापतिके कार्यालयमें पहुँचाता था उसे दूतक अथवा आज्ञप्ति कहते थे।[6] एक ताम्रपटमें उन लोगोंके नाम भी दिये गये हैं जिन्होंने राजशासनको ताम्रपटपर उत्कीर्ण कराकर तैयार कराया था।[7] कभी-कभी ताम्रपत्रपर लेख उत्कीर्ण करनेवाले सुनारका नाम भी अन्तमें पाया जाता है।[8]

बह्मनी ताम्रपटमें कतिपय ग्रामाधिकारियोंका उल्लेख आया है।[9] 'ग्रामकूट' वर्तमान पटेलकी भांति ग्रामका प्रमुख अधिकारी था। 'द्रोणाग्रनायक' सम्भवतः उस द्रोणाग्र अथवा द्रोणमुखका प्रमुख था जिसमें दानमें दिया हुआ ग्राम अन्तर्भूत होता था,[10] क्योंकि उसे भी दानपत्रकी सूचना दी जाती थी। इसके अतिरिक्त बह्मनी ताम्रपटमें 'देववारिक' नामक अधिकारीका निर्देश है। यह और दौवारिक सम्भवतः एक ही थे। दौवारिक अथवा प्रतीहार सम्भवतः गांवके पुलिस थानेका प्रमुख था और करवसूली करने तथा ग्राममे शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित रखनेमें

१. कॉ. इ. इं., जि. ३, पृ. १०।
२. क्रमांक ५, पं. ३०; क्रमांक ६, पं. ६०।
३. क्रमांक ७, प. ३५; क्रमांक १२, प. ४२।
४. क्रमांक १०, पं. २८; क्रमांक ११, पं. ३३। ५. क्रमांक १३, पं. २४।
६. सामन्तवर्माके पोन्नुदुरू ताम्रपटमें 'दूतक' के स्थानपर 'राजाज्ञाप्रद' शब्दका उपयोग किया गया है।
७. क्रमांक १३, पं. ४६-४७।
८. क्रमांक १३, पं. ४५-४६; क्रमांक १९, पं. १९।
९. क्रमांक १९, पं. ३५।
१०. कौटिलीय अर्थशास्त्र (शामशास्त्री द्वारा सम्पादित, द्वितीयावृत्ति, पृ. ४६) के अनुसार ४०० ग्रामोंका मुख्यस्थान द्रोणमुख कहलाता था— 'चतुःशतग्राम्या द्रोणमुखम्'।

ग्रामकूटकी सहायता करता था।[1] अन्य ताम्रपटोमे उल्लिखित भटोकी भाति 'गण्डक' सम्भवतः सैनिक थे। प्रतीत होता है कि ये अधिकारी ग्राममें सुव्यवस्था करके करवसूली करते थे।

आयस्थान :—वाकाटकोके उत्कीर्ण लेखोमें कतिपय आयस्थानोका निदेश मिलता है। राज्यकी आय मुख्यतः भूमिकर तथा अन्य प्रत्यक्ष करोसे ही होती थी। वाकाटक ताम्रपटोमें उनके लिए 'क्लृप्त' और 'उपक्लृप्त' शब्दोका प्रयोग किया गया है। क्लृप्त अथवा निश्चित करका उल्लेख कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें आया है।[2] उसका अभिप्राय सम्भवतः भूमिकी उपजसे है। उपक्लृप्तका आशय सम्भवतः मनुस्मृति (७, १३१-१३२) मे उल्लिखित विविधप्रकारके फुटकर करोसे है।[3] एक ताम्रपटमे 'सपञ्चाशत्क.' (पचासवे भागके सहित) शब्दका प्रयोग किया गया है।[4] उसका अर्थ मनुस्मृतिकी 'पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः' (७, १३०) इस पक्तिकी सहायतासे लगाना चाहिए। प्रतीत होता है कि ग्राममें पशुओके विक्रयसे तथा अन्य रीतिसे प्राप्त फुटकर धनपर वर्तमान प्राप्तिकरकी भाति दो प्रतिशत कर देना पडता था। इसके अतिरिक्त गुप्त धन अथवा भूमिमे गड़ा हुआ निक्षेप प्रकट होनेपर उसपर राजाका अधिकार माना जाता था। नमककी खानोके उत्पादनपर राज्यका स्वामित्व था। बुलढाना जिलेमें लोणार नामक स्थानपर व अन्यत्र नमककी खानें कुछ दिन पूर्व तक चालू थीं। मद्य तैयार करनेका अधिकार राजामे निहित था। इसके अतिरिक्त अनेक फुटकर कर थे। उनका निर्देश वाकाटक ताम्रपटोमे 'पुष्पक्षीरसन्दोह' इन शब्दोमे किया गया है।[5] मनुस्मृतिके सप्तम अध्यायके १२८ वे श्लोकके कथनानुसार ग्रामाधिकारी इन करोको वसूल करते व अपने वेतनके रूपमे ले लेते थे। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक कार्योके लिए राजाको प्रजासे बेगार लेनेका भी अधिकार था। उपरोक्त कथनानुसार राजाके अधिकारी और सिपाही जब दौरेपर होते थे तो उनके घोडो और बैलोको दाना देने,

१. दौवारिकका समानार्थक प्रतीहार शब्द इस अर्थमे शुक्रनीतिसारमे प्रयुक्त है (२, १०० २१; १७०-७५)।

२ अर्थशास्त्र, पृ ६०।

३. तुलनीय आददीताथ षड्भागं द्रुमासमधुसर्पिषाम्।
गन्धौषधिरसाना च पुष्पमूलफलस्य च॥
पत्रशाकतृणाना च चर्मणा वैदलस्य च।
मृन्मयाणा च भाण्डाना सर्वस्याश्ममयस्य च॥
(मनु, ७, १३१-१३२)

४. क्रमांक १५, पं. १०।

५. उदाहरणार्थ, क्रमाक ५ पं. २०।

उनके आसनके लिए चमड़ा देने तथा उनकी रसोईके लिए ईंधनकी व्यवस्था करनेका उत्तरदायित्व ग्रामवासियोंपर था।[1] केवल अग्रहार ग्राममें ये कर राजाको नहीं देने पड़ते थे। वे अग्रहारके स्वामीको प्राप्त होते थे।

अन्य तत्कालीन राजवंशोंकी भांति वाकाटक वंशमें कभी गृहकलह होनेका उदाहरण नहीं मिलता। प्रतीत होता है कि वाकाटक राज्यशासनके कार्यक्षम होनेके कारण प्रजाजनोंको समृद्धि, शान्ति तथा सुव्यवस्थाका लाभ हुआ था। अजंताकी सोलहवीं गुहाके लेखके कथनानुसार वाकाटकोंके सचिव अपने उत्कृष्ट शासनके कारण प्रजाजनोंको उनके मातापिता तथा मित्रके समान प्रतीत होने लगे थे।[2] उन्होंने देशका राज्यकार्य न्यायपूर्वक चलाया तथा अपने गुण, पुण्योपार्जन तथा कीर्तिसे अपने आपको उज्ज्वल किया। रघुवंशमें विदर्भ देशका 'सौराज्यरम्य'[3] तथा विदर्भकी राजधानीका 'समृद्ध'[4] कहकर वर्णन करते हुए कविकुलगुरु कालिदासने वस्तुत अपने समकालीन वाकाटकोंके उत्कृष्ट राज्यशासनकी प्रशंसा की है, यह कल्पना किये बिना रहा नहीं जाता।

१. पूर्वोक्त, पं. २०-२१।
२. द्रष्टव्य — तथैव लोकस्य हिताशयत्वात् सुखेन सम्यक् परिपालनेन।
पितेव मातेव सखेव नित्यं प्रियोभिगम्यश्च बभूव सत्यम्॥
क्रमांक २५, पं. १२।
३. द्रष्टव्य — 'सौराज्यरम्यानपरो विदर्भान्', रघुवंश, ५ ६०।
४. 'ऋद्धां विदर्भाधिपराजधानीम्', रघुवंश, ५. ४०।

३. सामाजिक परिस्थिति

वाकाटकोके उत्कीर्ण लेखोसे तत्कालीन सामाजिक परिस्थितिपर अधिक प्रकाश नहीं पड़ता। उस कालमें भी हिन्दू समाजमें वर्णव्यवस्था प्रचलित थी, किन्तु वह थोडी-बहुत लचकदार थी। उस कालके कुछ राजवंश ब्राह्मणजातीय थे और कुछ क्षत्रियजातीय। वाकाटक नृपति स्वतः विष्णुवृद्धगोत्रीय ब्राह्मण थे।[1] मेकला देशपर शासन करने वाले उनके माण्डलिक अपने आपको सोमवंशी पाण्डवोंका वंशज मानते थे।[2] फलतः यह कहनेकी आवश्यकता नही कि वे क्षत्रिय थे। महाकान्तार (वर्तमान बस्तर जिला और उसके पूर्वका कुछ प्रदेश) के शासक अपने आपको राजा नलका वंशज कहते थे। उनकी गणना भी सम्भवतः क्षत्रियोमे ही थी। शरभपुरीय राजा तथा ऋषीक देशके अधिपति किस जातिके थे, यह जाननेका कोई साधन उपलब्ध नही हैं।

सामान्यतः अपने-अपने वर्णके अन्तर्गत वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करनेकी प्रवृत्ति थी। तथापि कभी-कभी अनुलोम विवाह भी होते थे।[3] उदाहरणार्थ, ब्राह्मणजातीय वाकाटक राजपुत्र रुद्रसेन द्वितीयका विवाह वैश्य राजकन्या प्रभावती-गुप्ताके साथ हुआ था। इस विवाहके फलस्वरूप उसे (प्रभावतीगुप्ताको) अथवा उसके पुत्रोको कोई निम्न स्थान प्राप्त नही हुआ। प्रभावतीगुप्ता अग्रमहिषी (पटरानी) हुई तथा उसके पुत्र दिवाकरसेन और दामोदरसेन यथासमय विदर्भकी गद्दीपर बैठे। एक अन्य अन्तर्जातीय विवाहका उल्लेख घटोत्कच गुहाके लेखमें प्राप्त होता है। वल्लूरके विद्वान् ब्राह्मणकुलमे उत्पन्न सोमने ब्राह्मण और क्षत्रिय स्त्रियोके साथ विवाह किया था। ब्राह्मण स्त्रियोसे उत्पन्न पुत्रोने वेदविद्यामे पारगत होकर अपने वल्लूर कुलको यशस्वी बनाया। क्षत्रिय पत्नीमे उत्पन्न रवि नामक पुत्रके अंगमे राजचिन्ह दृष्टिगत होते थे। उसने आसपासके सम्पूर्ण प्रदेशपर अपना अधिकार स्थापित किया।[4] बादमे वह वाकाटक राजाका सचिव बन गया। उसके वंशजोंने भी एकनिष्ठतापूर्वक वाकाटक राजाओंकी सेवा की। उनमेंसे अन्तिम दोका वर्णन अजंता तथा गुलवाडाके लेखोमे आया है।

१. क्रमाक ३, पं. २। २. क्रमाक १९, पं. ३२-३३।
३. इस प्रकारके विवाह धर्मशास्त्रसम्मत थे। देखिए मनुस्मृति, अध्याय ३, श्लोक १३।
४. क्रमाक २६, पं. ७-८।

वेदशास्त्रोंमें पारंगत ब्राह्मणोंको समाजमें अत्यन्त मानका स्थान प्राप्त था। कुछ ब्राह्मण एकसे अधिक वेदोंका अध्ययन करते थे। उनके नामके आगे 'द्विवेद' जैसे उपपदोंका प्रयोग होता था।[1] किन्तु वे उपपद उस समय तक कुलनामके रूपमें परिणत नहीं हुए थे। कुछ ब्राह्मण श्रौत तथा गृह्य यागोका पौरोहित्य करते थे। दूसरोंके लिए गणयाग सदृश कतिपय यागोका अनुष्ठान करना धर्मसूत्रोंमें निषिद्ध माने जानेके कारण उनके करनेवालोको बड़े-बड़े दान मिलते थे[2], किन्तु उन्हे समाजमें मान्यता नही मिलती थी और वे श्राद्धादिके अवसरोंपर आमन्त्रित नहीं किये जाते थे। कुछ ब्राह्मण नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका पालन करते थे। जांब ताम्रपट जिसे दिया गया था वह कालुट्टक ब्राह्मण ऐसा ही एक ब्रह्मचारी प्रतीत होता है। कुछ ब्राह्मण अपने विशुद्ध धार्मिक आचरणके लिए प्रसिद्ध थे। प्रभावतीगुप्ताका पूना ताम्रपट जिसे दिया गया था वह आचार्य चनालस्वामी इस प्रकारका एक ब्राह्मण प्रतीत होता है।[3] उसके लिए 'भगवद्भक्त' विशेषणका प्रयोग किया गया है। वह रामगिरिका निवासी था और प्रतीत होता है कि उसे भगवान् रामचन्द्रकी पादुकाओकी पूजा-अर्चाकी व्यवस्थाका कार्य सौंपा गया था, क्योकि प्रभावतीगुप्ताने अपना दान भगवान् रामचन्द्रके पादमूल (पादुका) को अर्पण करनेके पश्चात् उसे दिया था।

उत्कीर्ण लेखोसे विदर्भके तत्कालीन ब्राह्मणोके विषयमें कुछ सूचना प्राप्त होती है। शर्मन्, आर्य, आचार्य, स्वामिन् जैसा एकाध शब्द उनके नामके अन्तमें लगा रहता था। वे भिन्न-भिन्न वेदो तथा शाखाओ अथवा चरणोके अनुयायी थे।[4] सब लेखोमे ब्राह्मणोकी वेदशाखाओंका उल्लेख न होनेके कारण यह जानकारी स्वभावतः अपर्याप्त है, किन्तु उपलब्ध उल्लेखोके आधारपर कुछ अनुमान किये जा सकते हैं। यह एक आश्चर्यका विषय है कि वाकाटकोंके लेखोमें ऋग्वेदी तथा सामवेदी ब्राह्मणों का स्पष्ट उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता। यजुर्वेदकी शाखाओमें से तैत्तिरीय शाखाके ब्राह्मण काफी बड़ी संख्यामें मिलते हैं। उनको छह दानपत्र दिये गये थे।[5] एक ब्राह्मण शुक्ल यजुर्वेदकी माध्यन्दिन शाखाका था। वह मेकला देशमें रहता था।[6] दान पानेवाले दो अन्य ब्राह्मण भी वाजसनेय शाखा अथवा शुक्ल यजुर्वेदके अनुयायी रहे

१ क्रमांक ३, पं १९।

२. क्रमांक १२, पं. २२। ३. क्रमांक २, पं. १४।

४. प्रवरसेन द्वितीयका चम्मक ताम्रपट अनेक गोत्रों और चरणोंके सहस्र ब्राह्मणोंको दिया गया था। किन्तु उसमें जिन थोड़ेसे ब्राह्मणोंका नामनिर्देश आया है उनके वेदों और शाखाओका उल्लेख नही है।

५. क्रमांक ३-५, ७, ८, १४। ६. क्रमांक १९, पं. ३९-४०।

होंगे, क्योंकि उनके गोत्रके पश्चात् 'वाजि' उपपदका प्रयोग किया गया है।[१] सम्प्रति अथर्ववेदीय ब्राह्मण अत्यन्त अल्पसंख्य है। किन्तु उस समय ऐसी बात नहीं थी। वाकाटकोंके तिरोडी और वाशीम ताम्रपट इस वेदके ब्राह्मणोंको दिये गये थे।[२] इसमेंसे एक ब्राह्मण बालाघाट जिलेमे और दूसरा अकोला जिलेमे रहता था।

कुछ ब्राह्मण राज्य शासनमें उच्चपदोपर रहे होंगे। उत्कीर्ण लेखोमें कहीं भी राजसेवकोंकी जातिका उल्लेख न होनेके कारण इस सम्बन्धमें अधिक सूचना प्राप्त नहीं होती। तथापि प्रभावतीगुप्ताके ताम्रपटमे दूतकके रूपमें उल्लिखित देवनन्दस्वामी सम्भवतः ब्राह्मण था।[३] इसी प्रकार यह सम्भव है कि कुछ दानपत्रोके दासान्त नामवाले लेखक भी ब्राह्मण थे।[४]

वर्णव्यवस्थामें ब्राह्मणोके पश्चात् क्षत्रियोका स्थान आता है। क्षत्रिय बड़ी संख्यामे राज्यशासनमे नियुक्त किए गये होगे। प्रवरसेन द्वितीयके राज्यकालके ग्यारहवें और तेरहवें वर्षमे दिये हुये दानपत्रोमे उल्लिखित सेनापति चित्रवर्मा[५] अपने नामसे क्षत्रिय दिखाई देता है। यह भी सम्भव है कि चमिदास, नमिदास, बाप्पदेव और कात्यायन जैसे अन्य अनेक सेनापति भी क्षत्रिय रहे हो, किन्तु उनके विषयमें निश्चित रूपसे कुछ भी कहना असम्भव है। ऋद्धपुर ताम्रपटका लेखक प्रभुसिंह उसके नामसे क्षत्रिय प्रतीत होता है।[६]

अन्य जातियोके विषयमे हमे अधिक जानकारी नही मिलती। प्रवरसेन द्वितीयके इन्दौर ताम्रपटमें चन्दनामक एक धनाढ्य व्यापारी (वाणिजक) का उल्लेख है।[७] उसने एक ग्रामका अर्धभाग खरीदकर एक ब्राह्मणको दिया था। कुछ ताम्रपत्रोमे उन्हें उत्कीर्ण करनेवाले सुनारोका उल्लेख मिलता है।[८] किन्तु अजंता और गुलवाड़ाकी सुन्दर गुहाओको खोदनेवाले तथा उन्हे चित्रो और मूर्तियोसे अलंकृत करनेवाले सूत्रधार, चित्रकार और शिल्पी दुर्दैववश अज्ञात ही रह गये हैं।

अजंताकी सतरहवी गुहाके लेखमे हरिषेणके एक माण्डलिक द्वारा अपने बन्धुके अकाल निधनसे अत्यन्त दुःखित होकर अपरिमित धन व्ययकर कितने ही

१. क्रमांक ९, पं. १५; क्रमांक १२, पं. २१।
२. क्रमाक ११ और १२। ३. क्रमांक ८, पं ३१।
४. कालिदासका नाम इस श्रेणीमें आता है और यह सुप्रसिद्ध है कि वह ब्राह्मण था। क्रमाक १३ के लेखकका नाम भी कालिदास ही था।
५. क्रमाक ५, पं. ३०; क्रमाक ६, पं. ६०। ६. क्रमांक ८, प ३२।
७. क्रमांक ९, पं. २०। ८. क्रमाक १३, पं. ४५-४६।

लोगोंको बन्धनमुक्त करनेका वर्णन आया है।[1] लेखके कथनानुसार भयके कारण इन बन्दियोंके नेत्र अश्रुपूर्ण थे (भयविप्लुताक्ष)। उक्त लेखके अन्य श्लोककी भाँति इस श्लोकके भी खण्डित हो जानेके कारण यह स्पष्ट नहीं है कि इस श्लोकमें किन बन्दियोंका वर्णन किया गया है। ये बन्दी कदाचित् धनी परिवारोंमें दास रहे होंगे। इसमें संशय नहीं कि प्राचीन भारतमें दासप्रथा प्रचलित थी। दासको धनस्वामित्वका अधिकार न था।[2] उसे घरेलू काम करना पड़ता था। साधारणतः उनके साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था। फलतः मेगास्थेनीज जैसे विदेशी लेखकोंने कहा है कि भारतमें दाससंस्थाका अस्तित्व नहीं है। इन दासोंकी मुक्तिके अनेक उपाय थे। याज्ञवल्क्यस्मृतिमें कहा गया है कि जो बलात्कारसे अथवा चोरोंके द्वारा बेंचे जानेके कारण दास बनाए गए हैं उन्हें बन्धनमुक्त कराना राजाका कर्तव्य है।[3] संकटके समय अपने स्वामीकी प्राणरक्षा भी दासत्वसे मुक्त होनेका एक उपाय था। पैसेके लिए बिके हुये व्यक्ति अपने स्वामीको धन देकर स्वतन्त्र हो सकते थे। मृच्छकटिकमें शर्विलक इसी उपायसे अपनी प्रेमिकाको वसन्तसेनाकी दासतासे मुक्त करनेका प्रयत्न कर रहा था। अजंताके लेखमें उल्लिखित दास सम्भवतः इस अन्तिम श्रेणीके थे। प्रतीत होता है कि दयाके वशीभूत होकर हरिषेणके माण्डलिकने पैसा भरकर ऐसे अनेक दासोंको बन्धनमुक्त किया तथा उन्हें स्वतन्त्र नागरिकका पद दिलाया।

उत्कीर्ण लेखोंमें लोगोंके रहन-सहन, उनके वस्त्र और अलंकार, केशरचना, शिरोभूषण, शस्त्रास्त्र, घर, घरेलू उपयोगका सामान, बरतन, वाद्य इत्यादिका उल्लेख नहीं मिलता। इस सूचनाके लिए हमें तत्कालीन वाङ्मय, शिल्प और चित्रोंका अध्ययन करना चाहिए। वाकाटककालीन विदर्भमें अनेक संस्कृत और प्राकृत काव्य लिखे गये थे। किन्तु उनमेंसे अधिकांश अब नष्ट हो चुके हैं। कालिदासका संस्कृत 'मेघदूत' तथा प्रवरसेनका प्राकृत काव्य 'सेतुबंध' केवल ये दो काव्य इस समय उपलब्ध हैं। कालिदासके अन्य काव्य और नाटक विदर्भके बाहर, मालवामें, लिखे गये हैं। अतः निश्चित रूपसे यह कहना सम्भव नहीं है कि उनका वर्णन विदर्भपर पूरी तरह लागू हो सकता है या नहीं। तथापि उनका युक्तिपूर्वक उपयोग करना अनुचित न होगा। तत्कालीन सामाजिक परिस्थितिको जाननेके सर्वोत्तम साधन हैं

१. द्रष्टव्य '· · · भयविप्लुताक्षान्। अमूमुचद्वित्तविसर्गशक्त्या पुत्रानिवेष्टान् करुणाभिमृष्टः' ॥ क्रमांक २७, पं. १७।

२. भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः।
यत् ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम् ॥
मनुस्मृति, अध्याय २, श्लोक ४१६।

३. याज्ञवल्क्यस्मृति, अध्याय २, श्लोक १८२।

अजंताकी सोलहवीं, सत्रहवीं और उन्नीसवीं गुहाएँ। ये गुहाएँ वाकाटककालमें खोदी गई थीं और उनके चित्र भी उसी कालमें अंकित किये गये थे। सौभाग्यसे ये गुहाएँ और इनके बहुतेक चित्र आज भी अच्छी स्थितिमें हैं। अतः तत्कालीन सामाजिक स्थितिके अध्ययनके लिए ये अत्यन्त उपयोगी हैं।

वाकाटककालमें पत्थरो और कहीं-कहीं ईंटोसे मन्दिर बाँधनेकी पद्धति प्रचारमें आने लगी थी। इन देवालयोका वर्णन अन्यत्र किया गया है। किन्तु राजप्रासाद और धनाढ्य तथा निर्धन लोगोके घर बनानेके लिए सम्भवत. पत्थर और मिट्टीका उपयोग अधिक नही किया जाता था। अजताकी उपरिनिर्दिष्ट गुहाओके चित्रोंसे ज्ञात होता है कि तत्कालीन राजप्रासाद, घर और दूकान आदि लकड़ीके होते थे। बौद्धोके चैत्यगृह वाकाटककालमे तथा उसके पूर्व भी पहाड़ियोमें खोदे जाते थे। किन्तु अनावश्यक बल्लियो और कोडोके कोरे जानेसे स्पष्ट है कि उनमें पूर्ववर्ती काष्ठ-चैत्योका अनुकरण किया गया था। किम्बहुना, कार्ला जैसी कुछ अत्यन्त प्राचीन चैत्यगुहाओमे आज भी लकडीके कुछ भाग अवशिष्ट है, जिनसे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है।

अजताके भित्तिचित्रोसे यह स्पष्ट दिखाई देता है कि तत्कालीन राजप्रासाद और धनी लोगोके घर लकडीके ऊँचे खंभोंपर आधारित होते थे।[1] ये स्तम्भ तीन स्थानो पर नीचे, मध्यभाग और शिरोभागपर पच्चीकारी अथवा रंगकी पट्टियोसे अलंकृत किये जाते थे। उनके नीचे आधार (base) होते थे। ऊपरके शीर्षक (capitals) गोल, चपटे अथवा खडे आकारके होते थे। छानपर चैत्यवातायनकी आकृतियोसे दीवानखाने अथवा आस्थानमण्डपोको सुशोभित किया जाता था। दीवानखाने बहुधा चौकोन और कभी-कभी गोल होते थे। क्रमाक १६ की गुफामे जहाँ मायादेवी राजा शुद्धोदनसे अपने स्वप्नके विषयमे कह रही हैं वह दीवानखाना वर्तुल दिखाया गया है।[2] दीवानखानोमे विविध रंगके परदे डालकर उसे सुशोभित करते थे।[3]

१. ऊपर गुम्बज और उसपर आमलक और कलशसे युक्त कुछ एक कमरेकी छोटी इमारतें बीच-बीचमे अजंताके चित्रोमे दृष्टिगत होती हैं। उदाहरणार्थ देखिए, अजता, भाग ३, फलक ६१, और भाग ४, फलक ४४ (अ)। वे देवकुली अथवा छोटे मन्दिर प्रतीत होते है। बुद्धगयाके प्राचीन मन्दिरपर इसी प्रकारका गुम्बज और कलश था। देखिए, फर्ग्यूसन, हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन अँण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, द्वितीय सस्करण, भा. १, पृ. ७८।

२. अजंता, भा. ३, फलक ६१।

३. अजंता, भाग ४, फलक १७ (अ)।

कुछ घरोंपर तिकोंने छप्परके कबूतरखाने होते थे।[1] उनका वर्णन कालिदासने अपने मेघदूतमें 'ता कस्यांचिद् भवनवलभौ सुप्तपारावतायां नीत्वा रात्रिम्' इत्यादि शब्दोंमें किया है।[2] राजभवनके एक भागसे दूसरे भागमें जानेके लिए जो दरवाजा होता था उसपर लंबे पीपेका (barrel-shaped) छप्पर होता था जिसे दोनों ओरसे चैत्यवातायनकी आकृतियोसे अलंकृत किया जाता था।[3] आवश्यकता पड़नेपर खंबोंपर शामियाने (उपकार्या) और तंबू (पटमण्डप) खड़े कर दिये जाते थे। उनका उल्लेख कालिदासके रघुवंशमें विदर्भराजने अजका जो स्वागत किया था उसके वर्णनमें आया है।[4] दूकान छोटी और चौकोर होती थी तथा उनके सामनेकी ओर धूप और वर्षासे रक्षाके लिए बासपर कपड़े अथवा तट्टीके आवरण लगाये जाते थे। गरीबोके घर आजकलकी तरह घासके छप्परके होते थे।[5]

दीवानखानेका सामान (फर्नीचर) आजकलकी तरहका था। बैठनेके लिये चौरंगकी तरह चिकने पैरोके मंच काममें लाये जाते थे। पीछे टिकनेके लिये गोल पृष्ठ और पैर टेकनेके लिये पादपीठ होते थे। रसोई घरमे छीकेपर एकके ऊपर एक घड़ा रखनेकी पद्धति आजकलकी ही तरह प्रचलित थी।[6] भोजन करते समय बैठनेके लिए मंच और सामने थाली रखनेके लिए वर्तुल आकारकी छोटी-सी मेज काममे आती थी।[7]

अजंताकी गुहाओमे अंकित चित्रोसे तत्कालीन समाजके भिन्न-भिन्न वंशोके लोगोकी कल्पना की जा सकती है। कुछ लोग काले रगके, कुब्ज और चपटी नाक वाले दिखाये गये हैं।[8] वे इस प्रदेशके मूल आदिवासी थे। कुछ नागवंशी थे। अजंताकी गुहाओकी कोरनेका काम सम्भवतः इसी वंशके लोगोने किया था। इसी कारण उन्होने अनेक गुहाओमे सिरपर फणसे युक्त नागराजोकी मूर्तियाँ और चित्र बनाये हैं।[9] राजा, रानी, ब्राह्मण, दास, दासी इत्यादि आर्यवंशके लोग सर्वत्र दृष्टिगत होते हैं। ये गौरवर्ण, लम्बे और दर्शनीय हैं। इनके अतिरिक्त शक, कुषाण, पह्लव, यवन आदि विदेशी लोग भी महाराष्ट्रमें आकर स्थायी रूपसे बस गये थे। उनके चित्र भी कुछ स्थानोंपर मिलते हैं। सत्रहवीं गुहामें बुद्धके धर्मोपदेशके समय उनके श्रोतृवर्गके बिम्बिसार अजातशत्रु आदि राजाओंके साथ दाढी-मूछसे युक्त सिरपर

१. अजंता, भाग ३, फलक ६३। २. मेघदूत, श्लो. ४०।
३. अजंता, भाग ३, फलक ५०; भाग ४, फलक २१।
४ रघुवंश, सर्ग ५, श्लो. ६३, ८३।
५. अजंता, भाग ४, फलक ४ (क)।
६. अजंता, भाग ४, फलक ५। ७. पूर्वोक्त, भाग ४, फलक ३६।
८. पूर्वोक्त, भाग ४, फलक १५। ९. इस ग्रन्थका प्रकरण ६ देखिए।

ऊँचा और नुकीला टोप पहने तथा शरीरमें पूरी बाहका कोट पहने कुछ पुरुष भी बैठे हैं।[1] वे सम्भवतः इस विदेशी वर्गके प्रतिनिधि हैं। इसके अतिरिक्त एक-दो स्थानोपर चिपटे चेहरो और छोटो-छोटो मूछ और आंखोमे युक्त तथा लम्बा अंगरखा पहने कुछ पुरुष दृष्टिगत होते हैं। श्री याजदानीके मतमे वे सम्भवतः चीनी हैं।[2] यह प्रसिद्ध है कि पवित्र बौद्ध स्थानोकी यात्राके लिए अनेक चीनी भारतमें समय-समयपर आते रहते थे।

अजन्ताकी मूर्तियो और चित्रोमे स्त्री-पुरुषोके वाकाटककालीन वस्त्रालङ्कारोंकी उत्तम कल्पना की जा सकती है। अनेक छोटा सा अन्तरीयक या अधोवस्त्र पहिने दिखाये गये हैं। घुटनेके ऊपर होनेके कारण इसे अर्धोरुक कहते थे। बाणने अपने हर्षचरितमें इसका वर्णन 'प्रकटितोरुत्रिभाग' (जिसमे जांघका तृतीयांश उघड़ा है) शब्दसे किया है[3]। यह वस्त्र विविध रगोकी पट्टियोंका होता था। पवनारसे प्राप्त शिल्पपट्टोमे राम, लक्ष्मण, भरत और सीताके वस्त्र भी इसी प्रकारकी आड़ी पट्टियोसे बने हुए दिखाये गये हैं, किन्तु वे अधिक चौड़े है और लगभग घुटने तक पहुचे हुए दिखाई देते हैं[4]। इस वस्त्रके एक छोरको बायी जाघके ऊपरसे ले जाकर उसके पीछे उसका कच्छ (कछोटा) बनाते थे। दूसरा छोर दोनो जाघोको आगे और पीछे ढकनेके पश्चात् पीछे खोंसा जाकर पूंछके समान लटकता रहता था। इस प्रकारकी परिधान पद्धतिमे सामनेके भागमे कनकती नही दिखाती थी, किन्तु केवल पीठपीछे अधोवस्त्रका छोर पूंछकी तरहसे लटकता रहता था। उत्तर भारतमे अन्तरीयक पहननेकी पद्धति इसके ठीक विपरीत थी। साची और भरहूतकी मूर्तियोंमे कनकतीके छोर सामने लटकते हुए दिखाई देते है। अजन्ताकी वाकाटककालीन गुहाओमे इस प्रकारकी सामने लटकती हुई कनकतिया कही भी दृष्टिगत नही होतीं,[5] किन्तु पीछे पूछके जैसे छोर अनेक स्थलोपर दिखाये गये है[6]। दाक्षिणात्योकी इस परिधान पद्धतिका विनोदपूर्ण वर्णन कल्हणने निम्नलिखित श्लोकमे किया है—

> क्षितिभृद् दाक्षिणात्याना तिर्यक्त्वज्ञापनाय सः।
> पुच्छं महीतलस्पर्शि चक्रे कौपीनवाससि[7]॥

१. अजता, भाग ४, फलक ३९।
२. अजंता, भाग ४, पृ. ४६, फलक २३।
३. हर्षचरित (निर्णयसागर, १९१२), पृ. २२।
४. द्रष्टव्य – भरतभेटका फलक।
५. अजन्ताकी इससे प्राचीन ९ वी गुहामें इस प्रकारकी कनकतिया दृष्टिगत होती हैं। द्रष्टव्य—अजंता, भाग ३, फलक १६।
६. अजंता, भाग ४, फलक ४८। ७. राजतरंगिणी, ४।१८०।

अर्थात् दाक्षिणात्योंका पशुत्व सूचित करनेके लिए काश्मीरके उस राजाने उनके कौपीनवस्त्रमें भूमितलका स्पर्श करनेवाली पूंछ लगा दी।

कुछ चित्रोंमें पीठकी ओरसे बैठी हुई अथवा खड़ी हुई स्त्रियोंके नीचे लटकते हुए कछोटोसे स्पष्ट है कि स्त्रियोंकी अधोवस्त्र पहननेकी पद्धति भी इसी प्रकारकी थी[1]। अजन्ताकी गुहाओंके चित्रोंसे यह भी स्पष्ट है कि कुछ स्त्रियां कच्छरहित रीतिसे भी अधोवस्त्र पहनती थीं[2]। कुछ पुरुष वर्तमान हाफपंट जैसा जांघिया पहनते थे और उसे कटिबन्धसे कमरमें बांध लेते थे। उसे चण्डातक कहते थे। सतरहवी गुहामें दाहिनी भीतके निकटवर्ती स्तम्भपर अंकित यक्ष इसी प्रकारका चण्डातक पहिने हैं[3]। बाणके हर्षचरितसे ज्ञात होता है कि स्त्रियां भी इस प्रकारका चण्डातक पहिनकर उसके ऊपर पैरो तक पहुँचनेवाला कञ्चुक अथवा चोगा पहिन लेती थीं[4]।

पुरुष घोड़ेपर सवार होते समय अथवा शिकारके लिए जाते समय चुस्त पायजामा पहिनकर ऊपर पूरी बाहोंका घुटने तक नीचे आनेवाला कोट पहनते थे। सतरहवी गुहामे मृगजातकमे शिकारके लिए गये हुए राजाकी वेशभूषा इसी प्रकारकी है[5]। अनेक मुद्राओ पर गुप्त सम्राटोका वेशभी इसी प्रकारका है। कतिपय चित्रोमें नौकरोंने भी पुरो बांहका अगरखा पहिन रखा है।

पुरुष साधारणतः उत्तरीय वापरते थे। यज्ञोपवीतकी भांति वह बायें कन्धेके ऊपरसे और दायीं काखके नीचे होकर जाता था[6]। इसके फलस्वरूप दाहिना हाथ उघड़ा रहता था। कुछ चित्रोंसे यह उत्तरीय पुनः मोड़कर बायें कन्धेपर रखा हुआ दिखता है[7]। कुछ लोग उत्तरीयकी घड़ी करके उसे वैकक्षककी तरह काममें लेते थे[8]। अन्य कुछ लोग उसे कमरमें बांधकर बद्धपरिकर होते थे[9]। मैसूरकी राजसभामें समस्त सेवकोके लिए इस रीतिसे बद्धपरिकर होकर रहनेका नियम है। कुछ लोग एक ही लम्बे वस्त्रको पहिनकर बादमें उसीका उत्तरीयके रूपमें उपयोग

१. अजंता, भाग ४, फलक ३६ ; पन्तप्रतिनिधि, अजंठा, चित्रांक ५४।
२. पन्तप्रतिनिधि, अजंठा, चित्रांक ७०। ३. पूर्वोक्त चित्रांक ६८।
४. हर्षचरित (निर्णयसागर, १९१२), पृ. ३१-३२।
५. अजन्ता, भाग ४, फलक ६८ (क)।
६. पूर्वोक्त, भा. ४, फलक २३ ; पन्तप्रतिनिधि, अजठा, चित्रांक ६६।
७. अजन्ता, भा. ३, फलक ४८। ८. पूर्वोक्त, भा. ४, फलक ४ (क)
९. पूर्वोक्त, भा. ४, फलक २१ (ब)।

करते थे[1]। कुछ पुरुष पूरी बांहका अंगरखा पहिनकर उसके ऊपर उत्तरीय ओढ़ते थे। सतरहवीं गुहामें हंसजातकके प्रधान पात्रका वेश इसी प्रकारका है[2]।

अजन्ताकी गुहाओंके चित्रोंमे अनेक राजा, रानी आदि श्रीमन्त स्त्रीपुरुषोंके शरीरका ऊपरी भाग अनावृत दिखाया गया है। केवल उनके दास और दासियां वस्त्रावृत दिखती हैं। पहली बार देखनेपर यह चमत्कारिक प्रतीत होता है। किन्तु इसका कारण सम्भवतः चित्रकारका समाजके इस उच्च स्तरके स्त्रीपुरुषों द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म वस्त्रोंके परिधानके प्रदर्शनका उद्देश्य है। संस्कृत कवियोंने इन वस्त्रोंका वर्णन करते हुए 'निश्वासहार्य'[3] (श्वास मात्रसे उड़नेवाला) और 'निर्मोकलघुतर'[4] (सांपकी केंचुलीसे भी अधिक सूक्ष्म) जैसे शब्दोंका प्रयोग किया है। इसी प्रकार अनेक स्थलोंपर वर्णन आता है कि इन वस्त्रोंके पहिननेपर भी स्त्रियोंके कुच-मण्डल, जघाएं, शरीरपर लगाया चन्दन तथा पहिने हुए अलङ्कार इत्यादि स्पष्ट पड़ते थे। यही प्रकार चित्रकारोंने भी अपने चित्रमे व्यक्त किया है।

कुछ स्त्रियां अपने स्तनोंपर चौडी पट्टी बांधती थी। इन पट्टियोंको 'पयोधरपट' कहते हैं[5]। मरणोन्मुख सुन्दरीके चित्रमे उसपर पंखा झलती हुई स्त्रीने इस प्रकारका पयोधरपट बांध रखा है। विश्वन्तरजातकके दृश्यमे जूजक जब राजदरबारमे पैसे लेता है उस समय राजाके समीप बैठी हुई रानीने भी ऐसा ही पयोधरपट पहिन रखा है[7]। अभिज्ञान शाकुन्तलमे शकुन्तला प्रियवदासे तकरार करती है कि उसने उसका वल्कल कडा बांध दिया है। इसपर प्रियंवदा कहती है, 'पयोधरोंका विस्तार करनेवाले अपने यौवनको दोष दे' (पयोधरविस्तारयितृकमात्मनो यौवनमुपालभस्व)।[8] इसमें सन्देह नही कि यहा पयोधरपट ही विवक्षित है। इसकी गाठ पीठपर बांधी जाती थी। अतः उसे ढीली करनेके लिए शकुन्तलाको अपनी सखीकी सहायताकी आवश्यकता पड़ी। चोली (कूपसिक) पहिननेका सार्वजनिक प्रचार नही था।

१. पूर्वोक्त, भा ४, फलक १५। २. पूर्वोक्त, भा. ४, फलक १७ (अ)।
३. अथास्य रत्नग्रथितोत्तरीयमेकान्तपाण्डुस्तनलम्बिहारम्।
निश्वासहार्यांशुकमाजगाम घर्मः प्रियावेषमिवोपदेष्टुम्॥
रघुवंश, सर्ग १६, श्लोक ४३।
४. 'धौतधवलनेत्रनिर्मितेन निर्मोकलघुतरेण कञ्चुकेन तिरोहिततनुलता, छातकञ्चुकान्तरदृश्यमानैराश्यानचन्दनधवलैरवयवैः ...', हर्षचरित, पृ. ३१ ३२।
५. प्रियदर्शिका, अंक २, श्लोक ७।
६. पन्तप्रतिनिधि, अजंठा, चित्रांक ३४। ७. पूर्वोक्त, चित्रांक ६७।
८. शाकुन्तल, अंक १।

तथापि कुछ स्त्रियां निस्संशय उसका उपयोग करती थीं। सोलहवीं गुहाके एक चित्रमें मायादेवी शुद्धोदनसे अपने स्वप्नकी चर्चा करती हुई दिखायी गई है। वहां पासमें खड़ी एक दासीने चोली पहिन रखी है[1]। इसी प्रकार सतरहवीं गुहामें विश्वन्तर जातकके एक चित्रमें दान मांगनेके लिए अनेक याचक एकत्र हैं। उनमें से एक स्त्रीने, जिसके अङ्कमें एक शिशु है, रंगीन फूलोंसे कढ़ी हुई चोली अथवा आधी बांहकी जाकेट पहिन रखी है[2]। इसी गुहामें सिंहलावदानके दृश्यमें तो एक स्त्री खणकी वैसी ही हरी चोली पहिने है जैसी कि आधुनिक महाराष्ट्रीय स्त्रियां पहिनती हैं[3]। प्रतीत होता है कि विदेशी शक व कुषाण जातिकी स्त्रियां चोलीके स्थानपर आधी बांहकी जाकेट पहिनती थीं। सतरहवीं गुहाके एक चित्रमें इसी प्रकारकी स्त्रीका चित्रण किया गया है।[4]

सोलहवीं गुहामें सिद्धार्थ गौतमके बाल्यावस्थाके चित्रोंके निरीक्षणसे स्पष्ट होगा कि बालकोंकी वेश-भूषा भी पुरुषोंके सदृश ही थी। कुछ बालकोंके अन्तरीयके पिछले पुछल्ले स्पष्ट दिखते हैं।[5] कुछ बालकोंने उत्तरीयक जैसा दुपट्टा कन्धेपर डाल रखा है। पाठशालामें शिक्षा प्राप्त करते समय सिद्धार्थ पूरी बांहका अंगरखा पहिने दिखाये गये हैं, किन्तु उनके कुछ मित्रोंका कमरके ऊपरका भाग उघड़ा है।

ज्ञानप्राप्तिके अनन्तर गौतम बुद्ध तीन वस्त्रोंका उपयोग करते थे—(१) अन्तरावासक (इसे युआन च्वांग निवासन कहता है) अथवा अधोवस्त्र, जो कमरमें पट्टीसे बांधा जाता था; (२) उत्तरासंग जिसे संकक्षिका भी कहते थे। बाणने उत्तरासंगका उल्लेख किया है। इसे उत्तरीयकी तरह पहिनते थे। (३) संघाटी अथवा अंगरखा। अजन्ताकी गुहाओंमें गौतम बुद्धने कहीं उत्तरासंग पहिन रखा है[6] तो कहीं पैरोंतक पहुँचनेवाला अंगरखा।[7]

अजन्ताके चित्रोंमें स्त्रीपुरुषोंकी विविध प्रकारकी केशरचना तथा शिरोभूषण दृष्टिगत होते हैं। सोलहवीं और सतरहवीं गुहाओंके चित्रोंमें पुरुष कहीं भी शिरोवष्टन अथवा पगड़ी नहीं पहिने हैं। राजे सिरपर रत्नजटित ऊंचा मुकुट पहिनते थे[8]। कहीं कहीं केवल एक चौड़ा सुवर्णपट्ट कपालपर बांधकर राजत्वका प्रदर्शन किया गया है। अन्य मन्त्री, अधिकारी व साधारणजन अपने केश मानो,

१. अजन्ता, भा. ३, फलक ६२।
२. पूर्वोक्त, फलक ६४। ३. पूर्वोक्त, भा. ४, फलक ६४ (अ)।
४. पूर्वोक्त, भा. ३, फलक ६६। ५. पूर्वोक्त, फलक ६३।
६. पूर्वोक्त, भा. ४, फलक ३९।
७. अजन्ता, भा. ३, फलक ५३, ७४; भा. ४, फलक ४१।
८. अजन्ता, भा. ४, फलक १५।

पीठ अथवा वक्षपर छोड़ देते थे। कुछ लोग केशों पर सूती अथवा रेशमी वस्त्रकी पट्टी बांधते थे। उसका वर्णन बाणने 'धौतदुकूलपरिवेष्टितमौलि.' शब्दसे किया है। सतरहवीं गुहामें बुद्धके धर्मोपदेशके समय उनके श्रोतृवृन्दमें राजा बिम्बिसारके समीप आसीन एक उच्च वर्गके पुरुषके सिरपर ऐसी शुभ्र दुकूलपट्टिका बंधी है। उसके नीचे उसके केश छोटे-छोटे गुच्छोंमें कपालपर पड़े दिखते हैं।[1] विदेशी शक, कुषाण व पह्लव राजाओंमें से कुछके सिरपर टोप हैं जो ऊपरसे संकड़े होते जाते हैं। कुछ लोगोंने चौड़ी वर्तुल टोपियां पहिन रखी हैं।[2] ब्राह्मणोंके सिरपर शिखाग्रन्थि होती थी।[3] इसी प्रकारकी गांठ सिद्धार्थके सहाध्यायी बालकोंके सिरपर दिखायी गई है।[4] कुछ बालकोंके कानोंपर जुल्फें अथवा काकपक्षक हैं। भवभूति द्वारा लवके प्रयुक्त विशेषण 'पञ्चचूड' से स्पष्ट है कि इस प्रकारके पांच काकपक्षक रखनेकी प्रथा थी।[5] कतिपय मूर्तियोंमें पूर्णभद्र, पञ्चिक आदिके सिरपर आधुनिक न्यायाधीशोंके विगसे मिलती जुलती केशरचना दृष्टिगत होती है।[6] बौद्ध भिक्षु केश-कर्तन करते थे, किन्तु अजन्ताके चित्रोंमें सबके सिर पूरी तरह मुंडे हुए नहीं दिखते। श्रावस्तीमें बुद्धने चमत्कार दिखाकर नग्न क्षपणकोंको निरुत्तर कर दिया था; इस प्रसंगके चित्रमें वे क्षपणक मात्र मुण्डितशिर दिखाए गये हैं।[7] गौतम बुद्ध, ऋषि, मुनि इत्यादिकोंके सिरपर जटा है।

स्त्रियोंकी केशरचना विविध प्रकारकी थी। अजन्ताकी गुहाओंमें स्त्रियोंकी केशरचना और शिरोभूषणोंके इतने विविध व सुन्दर प्रकार दृष्टिगत होते हैं कि उनसे दर्शकोंका मन आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रह सकता।[8] यह बात विशेष रूपसे उल्लेखनीय है कि अजन्ताकी सोलहवीं व सतरहवीं गुहाओंमें स्त्रियोंके सिरपर बहुधा कहीं भी परदा अथवा अवगुण्ठन दिखाई नहीं देता। कहीं-कहीं विदेशी दास-दासियोंने सिरपर नुकीली वर्तुल टोपी पहिन रखी है। सतरहवीं गुहाके एक चित्रमें इस प्रकारकी ऊबड़खाबड़ चेहरेकी एक दासीके सिरपर तुर्रेसे युक्त ऊंची वर्तुले टोपी है।[9] केवल एक दृश्यमें बुद्धमें धर्मोपदेशके समय उनके श्रोतृवृन्दमें बैठी एक स्त्रीने

१. पूर्वोक्त, भा. ४, फलक ३९। २. पूर्वोक्त।
३ पूर्वोक्त, भा ४, फलक २३। ४. पूर्वोक्त, भा. ३ फलक ६३।
५. उत्तररामचरित, अंक ५, श्लोक २। कालिदासने इन्हें 'काकपक्षक' कहा है, 'रघुवंश' सर्ग ११, श्लोक १।
६. अजन्ता, भा. ४, फलक ७५ (अ)।
७. पूर्वोक्त, भा. ४, फलक ४३ (ब)
८. पन्तप्रतिनिधि, अजंठा, चित्रांक २७।
९. अजन्ता, भा. ३, फलक ६६।

कशीदेसे कढ़ी टोपी पहिन रखी है। श्रीयाजदानीके कथनानुसार उसमें सफेद जालीका परदा लगा हुआ है।[1] इस अपवादके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी स्त्रियोंका अवगुण्ठन दृष्टिगत नहीं होता। अब भी महाराष्ट्रमें यही पद्धति है। किन्तु आजकल महाराष्ट्रीय स्त्रियां कपालपर जो कुंकुम अथवा तिलक लगाती हैं वह इन गुहाओंके चित्रोंमें कहीं भी दृष्टिगत नहीं होता। कालिदासके रघुवंशसे ज्ञात होता है कि उत्तर भारतमें कुछ स्थानोंपर भालप्रदेशपर तिलक लगानेकी प्रथा थी। सर्ग १८, श्लोक ४४ में सुदर्शन नामक बाल राजाका वर्णन करते हुए कालिदास लिखता है—

> निर्वृत्तजाम्बुनदपट्टशोभे न्यस्तं ललाटे तिलकं दधानः।
> तेनैव शून्यान्यरिसुन्दरीणां मुखानि स स्मेरमुखश्चकार॥

अर्थात् ललाट पर स्वर्णनिर्मित पट्ट और तिलकसे सुशोभित स्मितमुख सुदर्शनने शत्रुओंकी स्त्रियोंके मुखोंको तिलकरहित कर दिया।

इसके विपरीत दसवीं गुहाके चित्रोंमें पुरुषोंके सिरोपर पगड़ियां तथा स्त्रियोंके सिरपर परदा और भालप्रदेशपर बड़ा वर्तुल तिलक दृष्टिगत होता है। इसी प्रकार पुरुषों व स्त्रियोंके वस्त्रोंकी कनकतियां और सोगे सामने छूटे हुए दिखते हैं[2]। दसवी गुहाके चित्र ईसापूर्व द्वितीय शताब्दीके मध्यके लगभग अर्थात् सोलहवीं व सतरहवीं गुहाओंसे प्रायः साढ़े छह सौ वर्ष पूर्व खींचे गये थे, जैसा कि वहांके लेखोंकी लिपिसे स्पष्ट है। इस दीर्घकालमें महाराष्ट्रमें शिरोवेष्टन, अवगुण्ठन, तिलक इत्यादिके विषयमें अन्तर आ गया अथवा पूर्ववर्ती गुहाओंके चित्रकारोंने उत्तरभारतीय होनेके कारण अपने प्रदेशकी प्रथाओंका अनुसरण करके चित्र बनाये, यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता।

प्रतीत होता है कि वाकाटक कालमें स्त्रीपुरुषोंको आभूषणोंका बहुत शौक था। व्यापारियों, साधारण व निर्धन लोगोंके अंगपर आभूषण नहीं दिखते; किन्तु राजाओं, राजपुत्रों, उच्चपदस्थ अधिकारियों, रानियों, श्रीमन्त लोगोंकी स्त्रियों और उनकी दासियोंने अजन्ताके चित्रोंमें विविध प्रकारके अलङ्कार पहिन रखे हैं। यह हम पहले ही देख चुके हैं कि राजा लोग ऊँचे रत्नजटित मुकुट पहिनते थे। उनके कानोंमें रत्नजटित कुण्डल और गलोंमें रत्नों व मोतियोंके अनेक हार हैं। बाहुओंपर पहिने हुए रत्नजटित अंगदोंसे मोतियोंकी लड़ियां लटकती रहती थीं[3]। इन्दुमती-स्वयंवरमें कालिदासने एक राजाके द्वारा अपने रत्नजटित अंगदकी कोटिसे अटके हुए

१. अजन्ता, भा. ४, पृ. ६७, फलक ४० (अ)।
२. अजन्ता, भा. ३, फलक २४। ३. पूर्वोक्त, भा. ४, फलक ३९।

हारको व्यवस्थित करके रखनेका वर्णन किया है[1]। हाथोंमें दो एक सुवर्ण-वलय होते थे[2]। रामगिरिपर प्रियाके विरहके कारण कृश यक्षकी कलाईसे कनकवलय गिर पड़ने और फलस्वरूप कलाई रिक्त हो जानेका वर्णन कालिदासने अपने मेघदूतमें किया है[3]। अंगुलियोंमें अंगुलीयक (अंगूठिया) पहिने जाते थे। शाकुन्तलमें दुष्यन्तके द्वारा शकुन्तलाको दिये हुए अंगुलीयकके खो जानेसे जो गड़बड़झाला हुआ वह सर्वविदित है। वक्षःस्थलपर यज्ञोपवीतकी भांति पड़ा हुआ अनेक लड़ियोंका मुक्ताहार पहिना जाता था[4]। इसे मुक्तावैकक्षक कहते थे। सतरहवीं गुहामें बुद्धके धर्मोपदेशके अवसरपर एकत्र राजाओंका अथवा उसी गुहामें आकाशसे उड़कर आते हुए इन्द्रका चित्र देखकर तत्कालीन श्रीमन्त लोगोंके आभरणोंकी कल्पना की जा सकती है। बालकोंके अलंकार भी प्रायः इसी प्रकारके होते थे, जैसा कि उस चित्रसे, जिसमें यशोधरा व राहुल बुद्धके सामने जाते हैं, देखनेमें आएगा[5]।

स्त्रियोंके आभूषण अत्यन्त सुन्दर व विविध प्रकारके थे। अजन्ताके बहुतेक चित्रोंमें स्त्रियोंने अपने केशोंमें आधुनिक बिन्दीके सदृश अलंकार पहिन रखा है। उसे ललाटिका कहते थे, क्योंकि वह ललाटपर केशोंमें सामनेकी ओर बांधा जाता था। उसकी एक लड़ सीमन्त अथवा भांगसे जोड़ी जाती थी। अतः उसे बाणने 'सीमन्तचुम्बि तिलकमणि' कहा है। इस ललाटिकाके सामनेवाले भागोंमें मोतियोंका झुग्गा अथवा सोनेका पदक जोड़ते थे। वह भालप्रदेशपर लटकता रहता था, अतः उसकी 'चटुला-तिलक' संज्ञा थी[6]। हर्षचरितके प्राचीन टीकाकार शंकरने उसका वर्णन इस प्रकार किया है—

> सुवर्णशृङ्खलाबद्धो नानारत्नौघमण्डितः।
> ललाटलम्ब्यलङ्कारश्चटुलातिलको मतः ॥[7]

(सोनेकी शृङ्खलासे बँधे हुए, नाना प्रकारके रत्नोंसे जड़े हुए और ललाटपर लटकनेवाले अलंकारको चटुलातिलक कहते हैं।) इस प्रकारका शिरोभूषण स्त्रियोंके समान बालक भी धारण करते थे। यशोधरा और राहुल दोनोंने भी उसे पहिन रखा है[8]। कुछ स्त्रियां केशोंमें मुक्ताजाल पहिनती थीं। उसका वर्णन कालिदासने 'मुक्ताजालग्रथितमलकम्' शब्दसे किया है। गलेमें विविध प्रकारके एक या अनेक लड़ोंके हार पहिने जाते थे। कुछ हारोंमें मोतियोंकी एक लड़के मध्यमें स्थूल इन्द्रनीलमणि

१. रघुवंश, सर्ग ६, श्लोक १४। २. अजन्ता, भा. ४, फलक ३९।
३. 'कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः,' मेघदूत, श्लोक २।
४. पन्तप्रतिनिधि, अजंठा, चित्राक ५९। ५. पूर्वोक्त, चित्रांक ७२।
६. हर्षचरित, पृ. ३२। ७. हर्षचरितपर शंकरकृत टीका, पृ. ३२।
८. पन्तप्रतिनिधि, अजंठा, चित्रांक ७२।

जोड़ देते थे। उसका वर्णन कालिदासने अपने मेघदूतमें इस प्रकार किया है— 'एकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम्'[1]। कुछ कण्ठिकाओंमें माणिक्य व पांचू जड़े जाते थे तो कुछ सोनेकी पुतलियोंसे बनाये जाते थे। उसका प्राचीन नाम 'निष्ककण्ठी' था। प्राचीन कालकी अनेक भारतीय व विदेशी सुवर्ण-मुद्राओंका पुरोभाग छिड़ा हुआ है। निस्सन्देह वे इस प्रकारकी निष्ककण्ठियोंमें गुथी जाती रही होंगी।

अजन्ताकी गुहाओंमें कहीं भी स्त्रियोंकी नाकमें नथ नहीं दिखती। इससे स्पष्ट है कि उस कालमें नथ पहिननेकी प्रथा नहीं थी। केवल कानोंमें बड़े वर्तुल कुण्डल पहिने जाते थे। बाहुओंपर कुहनीके ऊपर रत्नजटित केयूर पहिनते थे। उससे मोतियोंकी लड़ें लटकती रहती थी। यशोधराने अपने हाथोंमें इन वलयोंके अतिरिक्त कड़ोंसे बनाया गया वर्तुलाकार अलंकार वर्तमान पाटलीके स्थानपर पहिन रखा है[2]। कमरमें नाना प्रकारके रत्नोंसे बनी अनेक लड़ोंकी रशना पहिनते थे। उसे मणिमेखला कहते थे। कुछ रशनाओंमें सोनेकी बारीक किंकिणी लगाई जाती थीं, जिससे उनका नाम कांची पड़ गया था। कालिदासने वर्णन किया है कि घरमें घूमती-फिरती स्त्रियाँ काचीकी ध्वनिसे हंसोंको आकृष्ट करती थी। पैरोंमें एक-दो वलय पहिनते थे[3]। उत्तर भारतमें हाथों और पैरोंमें अनेक बोझिल वलय पहिननेकी प्रथा थी, जैसा कि सांची व भरहुतकी मूर्तियोंसे स्पष्ट होता है। यह प्रथा महाराष्ट्रमें उस कालमें प्रचलित प्रतीत नहीं होती। महाराष्ट्रीय स्त्रियोंके द्वारा प्रयुक्त अलंकार प्रायः नाजुक और सुन्दर थे, इसमें संशय नहीं।

पुरुष बाहर जाते समय जो चप्पल पहिनते थे उसका पट्टा टखनेके पास पैरके दोनों ओर बांधा जाता था[4]। युद्ध अथवा आखेटके लिए जाते समय तलवार कमरमें बांधते और खंजर कमरपट्टेमें खोंस लेते थे। घोड़ेकी जीन, लगाम इत्यादि सामग्री आजकलके समान ही थी[5], किन्तु रकाबमात्र दृष्टिगत नहीं होती। प्रतीत होता है कि रकाबका प्रयोग भारतमें अर्वाचीनकालमें आरम्भ हुआ। बैठनेके घोड़ेको अलंकारोंसे सुशोभित करते थे। तूणीर (बाण-कोष) खोगीरकी बाजूमें बांधा जाता था। सैनिक उसे अपनी पीठपर बांधते थे। हाथीके गण्डस्थल व सूंडको सोने और मोतियोंके अलंकार, बड़े-बड़े पदक इत्यादि पहनाकर सुशोभित करते थे, किन्तु उसके

१. मेघदूत, श्लोक ४८। २. पन्तप्रतिनिधि, अजंठा, चित्रांक ७२।
३. अजन्ता, भा. ३, फलक ६२।
४. अजन्ता, भा. ४, फलक ६८ (क)।
५. अजन्ता, भा ४, फलक ६८ (क)।

अंगपर कालिदासके द्वारा वर्णित[1] रंगीन बेलपत्ती काढ़नेका प्रयत्न किसी चित्रमें दृष्टिगत नहीं होता। इसी प्रकार हाथीपर हौदा और अंबारी कहीं भी नहीं दिखते।

युद्धके लिए उपयोगी शस्त्रोंमें से तलवार, धनुष, बाण, भाला, बरछी और खंजरका अंकन किया गया है। तलवारें प्रायः तिरछी होती थी। कहीं-कहीं घुड़सवारोंने सीधी तलवारोंको म्यानमें रखकर अपनी पहियोंमें बांध रखा है। ढालें बहुधा चौकोन आयताकार और क्वचित् वर्तुल भी दिखाई देती हैं।

घरेलू वस्तुओंमें से छत्री प्रायः चौकोन, चौरस अथवा आयताकार होती थी। राजत्वके चिन्हके रूपमें राजा और रानीके सिरपर दृष्टिगत छत्र ही वर्तुलाकार दिखाई देता है। चंवर आजकलके जैसा ही होता था, किन्तु पंखे लंबे और चौकोन होते थे।

वाद्योंमें मृदंग, शंख, झाझ, मुरली, एकतारी और दोतारीके चित्र हैं। मृदंग पट्टियोंकी सहायतासे गलेमें सामनेकी ओर बांधकर बजाया जाता था।

पशुओंमे हाथी, घोड़ा, गाय, बैल, बाघ, सिंह, हरिण, मकड़ी, कुत्ता इत्यादि चित्रोंमें अंकित हैं। ऊँट कहीं भी देखनेमें नहीं आता। जलचर प्राणियोंमें मत्स्य, कच्छप और नक्र दृष्टिगत होते हैं। अन्य स्थलचर व जलचर प्राणियोंके चित्र प्रसंगाभावके कारण नहीं काढ़े गये हैं।

१. पन्तप्रतिनिधि, अजंठा, चित्रांक ३२।

४. धार्मिक परिस्थिति

वाकाटककाल अभूतपूर्व धार्मिक जागृतिका युग था। वाकाटक वंशका मूलपुरुष गृहपति वाकाटक बौद्धधर्मानुयायी था। आन्ध्रप्रदेशके गुण्टूर जिलेमें स्थित अमरावती स्तूपके स्तम्भपर उत्कीर्ण लेखसे ज्ञात होता है कि वह जब यात्राके लिए वहां गया था तो उसने स्वतःके, अपनी दो पत्नियों, सम्बन्धियों तथा इष्टमित्रोंके दीर्घायुष्यके लिए कुछ दान दिया था।[1] इस लेखमें कहा गया है कि यह दान उसने बौद्ध स्थविर बोधिकके आदेशानुसार दिया था। किन्तु गृहपति वाकाटकके वंशज धर्मपरिवर्तन करके शीघ्र ही वैदिक तथा पौराणिक धर्मके एकनिष्ठ अनुयायी बन गये। इस धर्मको उनका जो उदार आश्रय प्राप्त हुआ उसका प्रमुख श्रेय वल्लूरके अत्यन्त धार्मिक तथा विद्वान् ब्राह्मण घरानेको दिया जाना चाहिए।[2] विद्वत्ताके लिए कितनीं ही पीढ़ियो तक इस वंशकी ख्याति बनी रही। इस वंशका मूल पुरुष यज्ञपति आद्य वाकाटक नरेश विन्ध्यशक्ति प्रथमका समकालीन था। शत्रुओको पराजित कर विन्ध्यशक्तिने जो अनेक यज्ञयागादि किये वे सम्भवतः इसीके उपदेशसे किये गये थे। यज्ञपतिके पुत्र देवका तत्कालीन राजसभापर अत्यधिक प्रभाव था। घटोत्कच गुहाके लेखमें कहा गया है कि उसके प्रभावके कारण राजासे लेकर प्रजाजनो तक सभी लोग धार्मिक कृत्योमें संलग्न हो गये थे।[3] वाकाटकोके लेखोसे भी प्रतीत होता है कि उस समय अत्यधिक धार्मिक जागृति थी। विन्ध्यशक्तिके पुत्र प्रवरसेन प्रथमने विजयप्राप्तिके पश्चात् चार अश्वमेध तथा अग्निष्टोमादि सात सोमयाग किये थे।[4] उसके वाजपेय यज्ञका और उस अवसरपर उसके द्वारा दी हुई उदार दक्षिणाका उल्लेख पुराणोमें भी आता है। प्रवरसेन प्रथमके अनन्तर किसी वाकाटक नृपतिके द्वारा श्रौतयाग किये जानेका उल्लेख नही मिलता। इसमें संशय नहीं कि वे गृह्ययाग करते थे। जांब ताम्रपटसे ज्ञात होता है कि प्रवरसेन द्वितीयने अपने लिए गणयाग करनेवाले ब्राह्मणको एक ग्राम दानमें दिया था।[5] परवर्ती वाकाटक राजाओने स्वतः बड़े-बड़े श्रौतयाग नहीं किये तथापि उन्होंने विद्वान् ब्राह्मणों को उन यज्ञोंके अनुष्ठान

१. ए. इं., जि. १५, पृ. २५८ इत्यादि। २. क्रमांक २६, पं. ८।

३. द्रष्टव्य—'सराजकं राष्ट्रमुपेत्य यस्मिन् धर्म्या ≍ क्रिया ≍ पार्थ इव प्रचक्रे।' पूर्वोक्त, पं. ५।

४. उदाहरणार्थ, देखिए, क्रमांक ३, पं. १। ५. क्रमांक ३, पं० १९।

करनेमें भरपूर आर्थिक सहायता की थी।[1] प्रवरसेन द्वितीयके चम्मक ताम्रपटमें एक हजार ब्राह्मणोंको आठ हजार निवर्तन भूमि दानमें देनेका उल्लेख है।[2] इस राजाके, उसकी माता प्रभावतीगुप्ताके तथा वत्सगुल्म शाखाके राजाओंके अनेक ताम्रपट प्राप्त हो चुके हैं। इनमें वाकाटक राजाओंके द्वारा ब्राह्मणोंको सम्पूर्ण ग्राम अथवा उसमें कुछ भूमि दानके रूपमें दिये जानेका उल्लेख है।

वाकाटककालमें पौराणिक हिन्दू धर्मका भी अत्यधिक उत्कर्ष हुआ। उनके राज्यमें सर्वत्र अनेक हिन्दू देवोंके देवालयोका निर्माण हुआ। अधिकांश वाकाटक राजाओंके शैव होनेके कारण अन्य देवोकी अपेक्षा भगवान् शिवके मन्दिरोंका निर्माण अधिक संख्यामें हुआ होगा। किन्तु उत्कीर्ण लेखोंके अभावमें उनके सम्बन्धमें अधिक संख्यामें हुआ होगा। किन्तु उत्कीर्ण लेखोके अभावमें उनके सम्लन्धमें अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती। अनेक श्रौतयाग करनेके लिए विख्यात प्रवरसेन प्रथमने वर्धा जिलेमें भगवान् शंकरका देवालय बंधवाकर उसे प्रवरेश्वर नाम दिया था। बेलोरा ताम्रपटसे ज्ञात होता है कि यह देवालय छब्बीस ग्रामोके जिस विभागमें स्थित था उसका नाम 'प्रवरेश्वरषड्विंशतिवाटक' पड गया था।[3] प्रवरसेनका पुत्र रुद्रसेन प्रथम महाभैरवका भक्त था। चांदा जिलेके चिकम्बुरि (वर्तमान चिकमारा) नामक स्थानपर उसके द्वारा एक धर्मस्थान अथवा देवलके निर्माणका उल्लेख देवटेक शिलालेखमे प्राप्त होता है।[4] यह देवालय निश्चय ही महाभैरवका होना चाहिए। शंकरकी भांति विष्णुके देवालयोका निर्माण भी उस कालमें हुआ था। वाकाटक नरेश रुद्रसेन द्वितीय सम्भवतः अपनी अग्रमहिषी प्रभावतीगुप्ताके प्रभावके कारण विष्णु-भक्त बन गया था। प्रभावतीगुप्ता रामभक्त थी।[5] वह अपनी राजधानी नन्दिवर्धनसे केवल तीन मील की दूरी पर स्थित रामगिरिपर भगवान् रामचन्द्रके दर्शनके लिए जाया करती थी। उस समय रामगिरिपर भगवान् रामके उत्तुङ्ग

१. सुप्रसिद्ध संस्कृत नाटककार भवभूतिके पूर्वज, जो अत्यन्त धर्मशील और विद्वान् थे, उदुम्बर नामक ग्राममें रहते थे। अनुमान है कि उन्हें वाकाटक नृपतियोने अपनी राजधानी पद्मपुरमें बुलाकर आश्रय दिया था। उन्होने वहा वाजपेय सदृश श्रौतयाग किये थे।

२. क्रमाक ६, पं. २०। निवर्तनका माप इस प्रकार है—१० हस्त = १ वंश; २० चौरस वंश = १ निवर्तन।

३. क्रमाक ४, पं १३, क्रमांक ५, पं. १४। शिवके नाम सामान्यतः ईश्वरशब्दान्त और विष्णुके स्वामिशब्दान्त हैं। अतः प्रवरेश्वर शिवका नाम होना चाहिए।

४. क्रमाक १, पं. ६।

५. प्रभावतीगुप्ताका 'अत्यन्तभगवद्भक्ता' विशेषण देखिए। क्रमांक २, पं. ८।

देवालयोंका निर्माण हुआ होगा। उनमें भगवान् रामचन्द्रकी पादुकाओंकी पूजा होती थी।[1] कविकुलगुरु कालिदासने भी इन 'रघुपतिपदों'का उल्लेख अपने प्रसिद्ध काव्य मेघदूतमें किया है।[2] प्रभावतीगुप्ताके अद्यावधि प्राप्त दोनों ताम्रपट उसने कार्तिक शुक्ल एकादशीके दिन उपवास करके द्वादशीको पारणाके अवसरपर रामगिरिपर दिये थे।[3] उनमेंसे एकमें रामगिरिस्वामीके अर्थात् भगवान् रामचन्द्रके पादमूलोंका स्पष्ट उल्लेख है।[4] दूसरे ताम्रपटमें उल्लिखित दान भी भगवान्के पादमूलोंको निवेदन करके एक भगवद्भक्त आचार्यको दिया गया था। प्रवरसेन द्वितीयके एक ताम्रपटमें भी इन पादमूलोंका उल्लेख है। उसमें दिये हुए ग्रामका आधा भाग चन्द्र नामक व्यापारीने खरीदकर दानमें दिया था।[5] विष्णुका एक अन्य देवालय अश्वत्थखेटक (वर्तमान, पट्टन, बैतूल जिला) नामक स्थानपर था। उसमेंभी महापुरुष अर्थात् विष्णुकी पादुकाओंकी ही पूजा की जाती थी। उस देवालयसे सम्बद्ध अन्नसत्रके लिए प्रवरसेन द्वितीयने कुछ भूमि दानमें दी थी[6]।

अनुमान है कि श्रीरामचन्द्रका एक और उत्तुंग देवालय वर्धाके निकट पवनारमें धाम नदीके तटपर ठीक उस स्थानपर था जहां इस समय श्री विनोबाजीका आश्रम है। उसे रामायणके विविध प्रसंगोंकी निदर्शक मूर्तियोंसे अलंकृत किया गया था। उनमेंसे कतिपय मूर्तियां कुछ वर्ष पूर्व वहां प्राप्त हुई थीं। देवगढ़के गुप्तकालीन देवालयकी भांति ये मूर्तियां भी सम्भवतः श्रीरामचन्द्रके देवलकी दीवारोंमें बैठाई गई थीं[7]। जैसा कि हम इसके पूर्व लिख चुके है, पवनार प्रवरसेन द्वितीय द्वारा अपने राज्यके ग्यारहवे वर्षके पश्चात् अपने नामसे बसाये हुए प्रवरपुरसे अभिन्न है। वह अपनी राजधानी वहां ले गया था। प्रवरपुरके इस देवालयका निर्माण प्रवरसेन द्वितीयने अपनी माता प्रभावतीगुप्ताके आदेशसे कराया होगा। हम ऊपर देख ही चुके हैं कि यह राजमाता रामभक्त थी। वाकाटकोंकी राजधानी जब तक नन्दिवर्धनमें थी तब तक वह अपने इष्टदेव भगवान् रामचन्द्रकी पादुकाओंका दर्शन वहांसे तीन मीलकी दूरीपर स्थित रामगिरिके देवालयमें जाकर प्राप्त सकती थी। किन्तु जब राजधानी वहांसे हटाकर प्रवरपुर ले जाई गई तो अपने पुत्रके साथ रहनेके लिए वहां जानेपर प्रभावतीगुप्ताको श्रीरामप्रभुके दर्शनके लिए उनके देवालयकी आवश्यकताका अनुभव

१. क्रमांक २, पं. १४।
२. वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु, मेघदूत, श्लो. १२।
३. क्रमांक २, पं. १४; क्रमांक ८, पं. ३१।
४. द्रष्टव्य—'रामगिरिस्वामिनः पादमूलात्', क्रमांक ८, पं. १।
५. क्रमांक ९, पं. २०। ६ क्रमांक १३, पं. २२-२३।
७. इसके शिल्पपट्टोंका वर्णन आगे षष्ठ प्रकरणमें किया गया है।

हुआ होगा। उसकी इच्छाका अनुसरणकर मातृभक्त प्रवरसेनने प्रवरपुरमें श्रीरामचन्द्रका भव्य मन्दिर खड़ाकर उसे शिल्पादिसे अलंकृत कराया। धामनदीके तटपर श्री विनोबाजीका आश्रम एक कृत्रिम टेकड़ीपर बना हुआ है। उनके आसपास ही इन मूर्तियोंके उपलब्ध होनेसे यह अनुमान होता है कि उक्त देवल उस स्थानपर ही था[1]।

वाकाटकोंके राज्यमें हिन्दूधर्मकी भांति बौद्ध धर्म भी प्रचलित था। जिन्हें सांसारिक आपत्तियोंके कारण आरोग्य, ऐश्वर्य, जीवन इत्यादिकी क्षणभंगुरताका आभास हो चुका हो ऐसे व्यक्ति बौद्ध धर्मकी ओर विशेष रूपसे आकर्षित होते थे। ऐहिक वस्तुओंके क्षणभंगुरत्वका विश्वास हो जाने पर राजा हरिषेणके सचिव वराहदेवने अपने मातापिताकी पुण्यवृद्धिके उद्देश्यसे अजंतामें एक भव्य गुहाविहार खुदवाया तथा गवाक्षो, दरवाजो, सुन्दर चित्रावलियो और अप्सरा तथा इतर मूर्ति इत्यादिसे उसे अलंकृत किया[2]। उसके पिछले भागमे बुद्धमूर्ति है और निकट ही पानीकी टंकी तथा नागराजकी मूर्तिसे युक्त एक छोटीसी गुहा खुदी हुई है। यह सुन्दर गुहा उसने बौद्ध संघको अर्पित की।

वराहदेवने अजंताके पश्चिममे लगभग दस मील दूर गुलवाडाकी पहाड़ी पर एक और गुहाविहार खुदवाया था।[3] वह इस समय घटोत्कचगुहाके नामसे प्रसिद्ध है। इसके भीतर भी पिछले भागमे धर्मचक्रप्रवर्तन मुद्रामें भगवान् बुद्धकी भव्य मूर्ति है। यह गुहा सुन्दर शिल्प तथा उत्तम नक्काशी किए हुए स्तम्भोंसे सुशोभित की गई है, इसमें चित्र नहीं हैं। इसके उत्कीर्ण लेखमे वराहदेवने अपने पूर्वजोके सम्बन्धमें जानकारी दी थी, किन्तु वह लेख इस समय अत्यधिक खंडित हो चुका है। पासमें ही एक छोटा-सा गुहाविहार है। यह विहार भी इसी सचिवने खुदवाकर बौद्ध संघको अर्पित किया होगा।

अजंताकी दो अन्य गुहाएँ भी वाकाटककालीन हैं। वे हैं क्रमांक १७ की विहारगुहा और १९ वीं चैत्यगुहा। ये दोनों गुहाएँ हरिषेणके माण्डलिक ऋषिक देशके एक अधिपतिने खुदवायी थीं। उसने सतरहवीं गुहामे अपने पूर्वजोके तथा स्वतः अपने वृत्तान्तसे युक्त एक लेख उत्कीर्ण कराया था, किन्तु दुर्दैववश वह अब

१. इस प्रश्नकी सविस्तर चर्चाके लिए देखिए मेरा लेख 'पवनारके प्राचीन अवशेष' (संशोधनमुक्तावलि, भा. १, पृ. १७७ इत्यादि)।

२. गवाक्षनिर्यूहसुवीथिवेदिकासुरेन्द्रकन्याप्रतिमाद्यलङ्कृतम्।
मनोहरस्तम्भविभङ्गभूषितं निवेशिताभ्यन्तरचैत्यमन्दिरम्॥
क्रमांक २५, पं. १८।

३. क्रमांक २६, पं. १८।

अत्यन्त खण्डित हो चुका है। अवशिष्ट भागसे ज्ञात होता है कि इस राजाको अपने अनुज रविसाम्बके अकाल निधनसे अत्यन्त दुःख हुआ। संसारकी असारताका विश्वास हो जानेके परिणामस्वरूप उसने अपना जीवन धार्मिक कार्योंमें व्यतीत करनेका निश्चय किया तथा अनेक स्तूपों और विहारोंसे पृथ्वीको सुशोभित किया। अजंतामें उसने एक एकाश्म मण्डप खुदवाया जिसके भीतर भगवान् बुद्धका चैत्य है। वही क्रमांक सतरहवीं गुहा है। इसके निकट ही उसने मधुर, हलके, स्वच्छ तथा शीतल पानीसे युक्त टंकी खुदवाई। इसी प्रकार उसके पश्चिममें उसने एक भव्य गन्धकुटी भी खुदवाई। उसे आजकल क्रमांक उन्नीसकी चैत्यगुहा कहते हैं। ये गुहाएँ अपने सुन्दर शिल्प और चित्रोंके लिए विख्यात हैं[1]।

अजंताकी सतरहवीं गुहाके लेखके कथनानुसार ऋषीकाधिपतिने अपने देशमें अनेक विहारों और चैत्योंका निर्माण कराया था, किन्तु आज कहीं भी उनका पता नहीं लगता।

वाकाटक राजाओं तथा उनके माण्डलिकोंके दानपत्रोंका सूक्ष्म निरीक्षण तथा विश्लेषण करनेसे तत्कालीन धार्मिक परिस्थिति पर थोड़ा-बहुत प्रकाश पड़ सकता है। इस दृष्टिसे देखने पर सत्ताईस लेखोंमेंसे नौ लेख अपूर्ण हैं तथा उनमें दानका उल्लेख नहीं है। शेष अठारहमेंसे तीन लेखोंमें बौद्ध संघको विहार और चैत्य दानमें देनेका उल्लेख है[2]। अवशिष्ट पन्द्रह लेखोंमें हिन्दू देवों अथवा ब्राह्मणोंको दिए गए दानोंकी चर्चा है। इससे स्पष्ट है कि उस कालमें बौद्ध धर्म पिछड़ रहा था तथा हिन्दू धर्म सशक्त होकर सामने आ रहा था। ये दान किन किन तिथियोंको दिये गये थे, यह देखना भी मनोरंजक होगा। बौद्ध संघको दिये गये विहार और चैत्योंके दानविषयक लेखोंमें तिथि अथवा प्रसंगका उल्लेख नहीं है। ब्राह्मणोंको दिये गये दो दानपत्रोंमें ऋतु, पक्ष और दिनका निर्देश कर काल व्यक्त किया गया है[3] जिससे उनकी तिथिका पता नहीं लगता। शेष तेरहमेंसे केवल दो दानपत्रोंमें ही दानतिथिका स्पष्ट निर्देश है।[4] अन्य ताम्रपत्रोंमें केवल उसी तिथिका निर्देश मिलता है जब दान लेखबद्ध किया गया था। तथापि उस तिथिसे भी वह दान किस अवसरपर दिया गया इसका अनुमान किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई दान शुक्ल अथवा कृष्ण पक्षकी द्वादशी अथवा त्रयोदशीके दिन लेखबद्ध किया गया हो तो यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि दाताने उसके पहलेकी

१. क्रमांक २७, पं. १२।
२. क्रमांक २५, २६, २७। इसके पहलेके सातवाहन कालके अनेक लेखोंमें बौद्ध संघको दिये गये दानोंका उल्लेख है।
३. क्रमांक १० और २३। ४. क्रमांक २ और ७।

एकादशीको उपवास करनेके पश्चात् द्वादशीको पारणाके अवसरपर वह दान दिया होगा। इस दृष्टिसे निरीक्षण करनेपर ज्ञात होगा कि उपर्युक्त तेरह दानोंमेंसे नौ अधोलिखित एकादशियोंकी पारणाओंके प्रसंगमें दिये गये थे।

एकादशीका नाम	कुल दानसंख्या
१. ज्येष्ठ शु. दि. ११ (वर्तमान निर्जला)	एक[१]
२. भाद्रपद वदि दि. ११ (आजकलकी इन्दिरा)	एक[२]
३. आश्विन शु दि. ११ (वर्तमान पाशांकुशा)	एक[३]
४. कार्त्तिक शु. दि. ११ (वर्तमान प्रबोधिनी)	चार[४]
५. माघ व दि. ११ (वर्तमान विजया)	एक[५]
६. फाल्गुन शु. दि ११ (वर्तमान आमलकी)	एक[६]

इससे यह देखनेमें आएगा कि उस कालमें एकादशी व्रतको कितना महत्त्व प्राप्त था। प्रतीत होता है कि सब एकादशियोंमें कार्त्तिक शुक्ल पक्षकी प्रबोधिनी एकादशी अत्यन्त पुण्यप्रद मानी जाती थी क्योंकि लगभग आधेसे भी अधिक उसकी पारणाके अवसरपर दिये गये थे। इस एकादशीका उल्लेख कालिदासने अपने मेघदूतमें किया है।[७] उसके वर्णनुसार यक्षका शाप उस तिथिको समाप्त होनेवाला था। उस कालमें भी यह धारणा थी कि चार मासकी निद्राके पश्चात् भगवान् विष्णु उक्त तिथिको अपनी भुजगशय्यासे उठते हैं। इसका निर्देश भी कालिदासने किया है।

एक दानपत्र ज्येष्ठ शुक्ल दशमीको 'विषुववाचनक' ब्राह्मणको दिया गया था। वह मेषसंक्रान्तिके अवसरपर दिया गया होगा। शेष दो दान किसी पुण्यतिथिको दिये गये थे ऐसा प्रतीत नहीं होता[८]।

१. क्रमांक ६। २. क्रमांक १९। ३. क्रमांक ३।
४. क्रमांक २, ४, ५, ६। ५. क्रमांक ११। ६. क्रमांक ७।
७. शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ।
मेघदूत, श्लोक ११५।
८. क्रमांक ९ और १३। इनमेंसे पहिला दान वैशाख कृष्ण ५ को दिया गया था। अतः यह कहना सम्भव है कि यह दान संकष्ट चतुर्थीको गणपतिपूजाके निमित्त दिया गया था। किन्तु उस समय गणपतिपूजाको इतना महत्त्व प्राप्त था या नहीं, यह सन्दिग्ध है। बहुधा तत्कालीन दानपत्रोंके आरम्भमें गणपतिको नमन नहीं किया गया है।

दानपत्रके उपर्युक्त विश्लेषणसे कुछ आश्चर्यजनक बातें स्पष्ट होती हैं। अधिकांश वाकाटक नरेश परममाहेश्वर अर्थात् भगवान् शिवके परमभक्त थे। किन्तु देवटेक लेखको छोड़कर अबतक उपलब्ध एक भी लेखमें शिवको लक्ष्यकर दिये गये दानका उल्लेख नही मिलता। इसी प्रकार एक भी दानपत्रमे सूर्यग्रहण अथवा चन्द्रग्रहणके अवसरपर दान देनेका निर्देश नहीं है। परवर्ती कालमें चन्द्र-सूर्य ग्रहण और संक्रान्ति दानके दो प्रमुख अवसर थे। एकादशीकी पारणाके निमित्त दिये गये दान क्वचित् ही दृष्टिगत होते हैं। इस विवेचनसे यह स्पष्ट हो गया होगा कि कालक्रमसे धर्मश्रद्धाके विषयोंमें किस प्रकार परिवर्तन होता है।

५. संस्कृत तथा प्राकृत साहित्य

यह तथ्य आज सर्वसाधारणको ज्ञात है कि ख्रिस्ताब्दके चतुर्थ और पंचम शतकमें संस्कृत वाङ्मयका अभूतपूर्व उत्कर्ष हुआ। इसका श्रेय मुख्यतः गुप्त और वाकाटक राजवंशोंको दिया जाना चाहिए क्योंकि उन्होंने अपने दरबारमें संस्कृत कवियोंको उदार आश्रय दिया था। इन वंशोंके कुछ राजा तो स्वयम् उत्कृष्ट कवि थे। गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्तको अपने उत्कृष्ट काव्योंके कारण 'कविराज' की अन्वर्थ उपाधि प्राप्त थी। उसकी प्रयाग प्रशस्तिमें कहा गया है कि उसके काव्योंमें उपलब्ध सुन्दर कल्पनाओंको आत्मसात् कर अपने ग्रन्थोंमें उनकी योजना करनेमें विद्वान् अपने आपको धन्य मानते थे[1]। राजशेखरकी काव्यमीमांसामें दी हुई एक आख्यायिकाके अनुसार समुद्रगुप्तके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीयने तो स्वयम् उज्जयिनीकी विद्वत्सभाके समक्ष काव्यकार-परीक्षा दी थी[2]। कवीन्द्रवचनसमुच्चयादि कतिपय प्राचीन सुभाषितसंग्रहोंमें कुछ सुभाषित विक्रमादित्यके नामपर दिये हुए हैं। वे सम्भवतः चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यके हैं[3]। उनसे उसकी काव्यप्रतिभाका अनुमान होता है। जब स्वयम् राजाओंने काव्यरचनामें इतने उत्साहके साथ भाग लिया तो उनके अधिकारियों और प्रजाजनोंने भी ऐसा ही किया हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं[4]। सान्धिविग्रहिक, कुमारामात्य, महादण्डनायक जैसे उच्च पदोंपर नियुक्त हरिषेण और कौत्स शाब जैसे अधिकारी काव्यरचनामें निपुण थे, यह उनके वर्णन तथा उनके काव्योंके अवशिष्ट उदाहरणोंके आधारपर कहा जा सकता है[5]।

यह स्थिति केवल उत्तर भारतमें रही हो ऐसी बात नहीं। दक्षिणके वाकाटक नरेश भी काव्यनिर्माणमें पीछे नहीं थे। उनके दरबारमें अन्य ललितकलाओंकी

१. विद्वज्जनोपजीव्यमानानेककाव्यक्रियाभिः प्रतिष्ठितकविराजशब्दस्य, कॉ. इ, इं., भा. ३, पृ. ८।

२. श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा—
इह कालिदासमेण्ठावत्रामरूपसूरभारवयः।
हरिदासचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्॥
काव्यमीमांसा, पृ. ५५.

३. कवीन्द्रवचनसमुच्चय (प्रो. थॉमसद्वारा सम्पादित), प्रस्तावना, पृ. १६०।

४. 'राजनि कवौ सर्वो लोकः कविः स्यात्', काव्यमीमांसा, पृ. ५४।

५. कॉ. इ. इं., जि. ३, पृ. ९-१२, ३५।

भांति काव्यनिर्मितिको भी प्रोत्साहन दिया जाता था। वाकाटकके पूर्ववर्ती सातवाहनादि राजाओंके लेख प्राकृतमें थे। किन्तु वाकाटकोंके प्रायः सभी लेख संस्कृतमें लिखे गये हैं। इसका एकमात्र अपवाद है वाशीम ताम्रपट; किन्तु इस दानपत्रके भी आरम्भका राजवंशवर्णनका भाग संस्कृतमें है, और केवल अगला दानविषयक भाग प्राकृतमें है। इससे यह स्पष्ट दिखाई देता है कि राजाओंके दानपत्रोंमें संस्कृत भाषा किस प्रकार धीरे-धीरे प्राकृत भाषाका स्थान ग्रहण करने लगी थी। सीधे-सादे गद्यमें लिखे हुए होनेके कारण वाकाटकोंके दानपत्रोंमें काव्यमय वर्णनका पूर्णतः अभाव है। किन्तु इस आधार पर यह अनुमान करना उचित न होगा कि वाकाटक नरेशोंको संस्कृत काव्यके प्रति थोड़ी भी अभिरुचि नहीं थी। श्रीधरदासके सदुक्तिकर्णामृतमें युवराज दिवाकरके नामसे एक सुभाषित दिया हुआ है[1]। इस युवराज दिवाकरकी पहचान दिवाकरसेनके साथ की जानी चाहिए, जिसके नामसे प्रभावतीगुप्ता लगभग तेरह वर्ष तक राज्यकार्य देखती रही। इससे यह अनुमान होता है कि कुछ वाकाटक राजा स्वयम् संस्कृतमें काव्यरचना किया करते थे। वाकाटकोंके उदार आश्रयके फलस्वरूप उस कालमें विदर्भमें अनेक उत्कृष्ट संस्कृत काव्योंका निर्माण हुआ होगा। अन्यथा दण्डी जैसे आद्य आलंकारिक अपने ग्रन्थोंमें वैदर्भी रीतिकी उत्कृष्टरीति कहकर स्तुति न करते। कविकुलगुरु कालिदास मालवाके निवासी थे। किन्तु वैदर्भी रीतिकी श्रेष्ठताके कारण उन्होंने अपने काव्यों और नाटकोंकी रचना इसी रीतिमें की[2]। इससे विदर्भके तत्कालीन संस्कृत काव्यों की उत्कृष्टताका अनुमान किया जा सकता है।

विदर्भके ये काव्य कालके गालमें समा चुके हैं। तथापि कालिदासने अपने काव्य मेघदूतकी रचना विदर्भमें रहते समय की थी। अतः उसे वैदर्भ काव्य कहना अनुचित न होगा। इस काव्यकी विषयवस्तु कुछ इस प्रकार है। कुबेरके शापके

१. सदुक्तिकर्णामृतमें (२.३१.४) 'परुषाभिधानम्' शीर्षकके अन्तर्गत निम्ननिर्दिष्ट श्लोक युवराज दिवाकरके नामसे दिया गया है—

तनुर्लीना तल्पे प्रियसहचरीहस्तकलना-
न्निजस्थानेऽङ्गानि श्वसितमपि तस्याः श्रमपदे।
क्व सा कान्तिर्यातां बत न शपथैस्तां स्वयमपि
प्रतीमः स्त्रीहत्यां तदपि तव चेतो नटयति॥

२. यह सुप्रसिद्ध है कि कालिदासने अपने काव्य वैदर्भी रीतिमें लिखे हैं। अवन्तिसुन्दरीकथाका निम्नश्लोक द्रष्टव्य है—

लिप्ता मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विषया गिरः।
तेनेदं वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम्॥

कारण अपने अधिकारसे च्युत तथा नष्टप्रभाव एक यक्ष रामगिरिके आश्रमोंमें आकर रहने लगता है। आषाढ मासमें मेघके दर्शनसे अपनी प्रियाका विरह दुःसह होने पर वह मेघके माध्यमसे अलकामें स्थित अपनी प्रिया को सन्देश भेजता है। रामगिरिसे लेकर अलका तकके मार्गमे पडनेवाले पर्वतो, नदियों, देशो, नगरों आदिका सुन्दर वर्णन करके अलकामें स्थित अपने निवासस्थान तथा विरहके कारण कृश अपनी पत्नीका करुणाजनक शब्दचित्र प्रस्तुत करनेके पश्चात् वह मेघसे अपना सन्देश कहता है। हम अन्यत्र सिद्ध कर चुके हैं कि इस रामगिरिको पहचान नागपुरसे अट्ठाईस मील दूरी पर स्थित रामटेकसे की जानी चाहिए[1]। पुण्यक्षेत्रके रूपमें वह आज भी प्रसिद्ध है। वाकाटकोके कई दानपत्र इस टेकड़ी पर स्थित रामगिरिस्वामी अर्थात् श्रीरामचन्द्रकी पादुकाओके निकट दिये गये थे। वाकाटकोंकी ज्येष्ठ शाखाकी तत्कालीन राजधानी नन्दिवर्धन (वर्तमान नन्दरधन अथवा नगरधन) नगरसे केवल तीन मील दूर होनेके कारण कालिदास वहाँ कई बार गये होगे, वहाँ उन्हे मेघदूत काव्यकी कल्पना सूझी होगी तथा वह काव्य उन्होने नन्दवर्धनमे रहते समय लिखकर पूरा किया होगा। विदर्भमे रचित इस काव्यकी स्तुति सबने मुक्त कण्ठसे की है। यदि कालिदासने केवल यही एक काव्य लिखा होता तो भी उनकी कीर्ति अजरामर हो गई होती। 'मेघको अलकाके मार्गमें पड़नेवाले नदीपर्वतादिके वर्णनको तथा विरहिणी यक्षपत्नीकी करुणामय स्थितिके शब्दचित्रकी जितनी भी स्तुति की जाय कम है। भारतीय साहित्य समीक्षकोके मतमें कालिदासके समस्त काव्योमें अर्थगौरव, कल्पनावैभव तथा रसव्यञ्जकता आदि गुणोकी दृष्टिसे मेघदूत सर्वश्रेष्ठ है। यह प्रशंसा अवास्तविक नही है[2]।' डॉ. कीथके ये उद्गार सर्वमान्य है।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, वाकाटकोके सभी लेख गद्यमें हैं। किन्तु उनके मन्त्रियो तथा माण्डलिकोके लेख पद्यबद्ध होनेके कारण उनमें शब्दालंकारोका सुन्दर प्रयोग हुआ है[3]। उनके कुछ श्लोक वैदर्भी रीतिके उत्तम उदाहरण हैं।

वाकाटकोंके राज्यकालमें प्राकृत काव्यका भी अत्यधिक उत्कर्ष हुआ। ये राजा केवल विद्वानों और कवियोके आश्रयदाता ही नही थे। उन्होने स्वतः भी उत्तम काव्यों और सुभाषितोंकी रचना की थी। इन सबमें वत्सगुल्म शाखाका संस्थापक सर्वसेन आद्य कवि है। उसने 'हरिविजय' नामक प्राकृत काव्यकी रचना की थी।

१. इस विषयके विस्तृत विवरणके लिए देखिए मेरी पुस्तक 'मेघदूतमें रामगिरि अर्थात् रामटेक'।
२. कीथ, हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ ८६।
३. क्रमांक २५-२७. सोलहवीं गुहाके लेखमें यमकसे मुझे सर्वसेनका नाम पहलेपहल सूझा।

आनन्दवर्धन, हेमचन्द्र इत्यादि आलंकारिकोंके ग्रन्थोंमें प्राप्त उल्लेखों और उद्धृत गाथाओंके आधारपर सर्वसेन 'हरिविजय' नामक प्राकृत काव्यके रचयिताके रूपमें पहलेसे ही प्रसिद्ध था, किन्तु वह राजा था यह महत्त्वपूर्ण तथा अन्यत्र दुष्प्राप्य सूचना दण्डीकी अवन्तिसुन्दरीकथा नामक गद्यग्रन्थके एक खंडित श्लोकसे प्राप्त हुई[1]। वाशीम ताम्रपटसे सर्वसेन नामका एक ही राजा अब तक इतिहासवेत्ताओंको ज्ञात हुआ है। वह वत्सगुल्म शाखाका संस्थापक था। वही 'हरिविजय'का कर्त्ता होना चाहिए।

'हरिविजय' काव्य इस समय उपलब्ध नहीं है। तथापि बादके आलंकारिकोंके ग्रन्थोंमें विद्यमान अवतरणोंसे हमें उसके विषय, भाषा, स्वरूप इत्यादिके विषयमें पर्याप्त सूचना प्राप्त होती है। ख्रिस्ताब्दकी सातवी शताब्दीमें दण्डीने राजा सर्वसेनके हरिविजयकी प्रशंसा उपर्युक्त श्लोकमें की थी, किन्तु अत्यन्त त्रुटित हो जानेके कारण इस श्लोकसे हमें अधिक सूचना प्राप्त नहीं होती। इसके पश्चात् नवम शतीमें विख्यात साहित्यसमीक्षक आनन्दवर्धनने हरिविजयकी चर्चा अनेक स्थानोंपर की है। आनन्दवर्धनने कहा है कि 'किसी ऐतिहासिक कथानकको अपने काव्यकी विषयवस्तुके रूपमें ग्रहण करनेपर कविका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह उसके इष्टरसविरोधी प्रसंगोंको टालकर उस रसकी परिपोषक काल्पनिक घटनाओंकी योजना करे, क्योंकि कविका उद्देश्य अपने काव्यमें रसोत्पत्ति करना है, इतिहासकी शिक्षा देना नहीं[2]।' इसके उदाहरणोंके रूपमें उसने कालिदासके प्रबन्धों तथा सर्वसेनप्रणीत हरिविजयका निर्देश किया है। हरिविजयमें वर्णित मूल ऐतिहासिक कथानक क्या था, उसका कौनसा भाग उसने टाला और किन नवीन प्रसंगोंकी सृष्टि की थी आदि सूचना आनन्दवर्धनके ग्रन्थसे नहीं मिलती। किन्तु उसके टीकाकार सुविख्यात काश्मीरी लेखक अभिनवगुप्तकी टीकामें एक उल्लेखसे इस विषयमें कुछ जानकारी प्राप्त होती है। अभिनवगुप्त कहता है, 'हरिविजयमें पारिजातहरणके प्रसंगकी योजना पत्नीके अनुनयके लिए की गई है, वह इतिहासपर आधारित नहीं है[3]।' इस विधानसे यह स्पष्ट है कि हरिविजय काव्यकी रचना इन्द्रपर आक्रमण कर कृष्ण द्वारा

१. राज्ञा श्रीसर्वसेनेन · · · · · · · · ।
· · · · · · · · · · · विजयं हरेः ॥

२. यह काव्य इस समय उपलब्ध न होनेसे इसमें सर्वसेनने किन काल्पनिक प्रसंगोंकी सृष्टि की थी, कहना कठिन है। तथापि एक सन्दर्भमें प्रतीत होता है कि उसमें सात्यकिको निसृष्टार्थदूतके रूपमें इन्द्रके पास भेजा गया था। यह काल्पनिक प्रसंगोंमेंसे एक रहा होगा।

३. ध्वन्यालोक (निर्णयसागर संस्करण १९११), पृ. १४८।

पारिजातक वृक्षके भूतलपर लाये जानेके कथानकके आधारपर की गई थी। इस कथानकका मूलरूप क्या था यह निश्चित रूपसे कहना सम्भव नहीं है। महाभारतमें दो स्थानोंपर श्रीकृष्णप्रशंसामें पारिजातहरणका उल्लेख आया है; किन्तु वहां इस बातका निर्देश नही है कि यह कार्य सत्यभामाके अनुनयके लिए किया गया था। सम्प्रति प्राप्त हरिवंशके मुंबई पाठमें इस कथाके दो रूप दिखाई देते हैं। प्रथम रूप विष्णुपर्वके ६४ वे अध्यायमें प्राप्त होता है। वहाँ वर्णन किया गया है कि श्रीकृष्ण नरकासुरका वध कर सत्यभामाके साथ स्वर्गमें गये। वहांपर इन्द्रके उद्यानमें पारिजात वृक्ष देखकर और उखाड़कर उन्होंने उसे गरुडपर लाद दिया और अपने साथ द्वारकामें ले आये। बादमें जब इन्द्रको इस बातका पता लगा तो उसने इस कृत्यको अपनी सम्मति दी। अपने इस सादे रूपमे पारिजात-हरणकी कथा प्राचीन प्रतीत होती है तथा एक श्लोकके आधारपर[1] अनुमान होता है कि कथाका यही रूप महाभारतके रचयिताको भी ज्ञात था। इसी कथाका विस्तृत रूप हरिवंशके ६५-७५ इन ग्यारह अध्यायोमें वर्णित है और उसीसे हम सब परिचित हैं। वह कथा इस प्रकार है—'एक दिन नारदने पारिजातके स्वर्गीय पुष्प कृष्णको अर्पित किये। कृष्णने उन्हे रुक्मिणीको दिया। यह जानकर सत्यभामा रुष्ट हो गई। उसे प्रसन्न करनेके लिए कृष्णने पारिजात वृक्षको स्वर्गसे नीचे लानेका वचन दिया और इन्द्रका पराभवकर उसे पूरा किया[2]। मूल कथानकमें प्रियाका अनुनय पारिजातहरणके कारणके रूपमे नही दिखाया गया था। अभिनवगुप्तकी टीकासे यह स्पष्ट दिखाई देता है कि इस प्रसगकी योजना सर्वसेनने अपने काव्य हरिविजयमे रसोत्पत्तिके लिए पहले पहलकी थी। बादमें यह प्रसंग हरिवंशादि ग्रन्थोमें लिया होगा। कालिदासरचित शाकुन्तलके कुछ प्रसंग और शारद्वत, शार्ङ्गरव, प्रियंवदा, गोतमी इत्यादि पात्रभी पद्मपुराणमे गृहीत दिखाई पड़ते हैं। इस कथाके विषयमें भी वैसा ही हुआ होगा।

आनन्दवर्धनने एक अन्य स्थानपर भी हरिविजयका उल्लेख किया है। ध्वनि-काव्यके एक प्रकारका उदाहरण देते हुए उसने अधोलिखित गाथा हरिविजयके नामपर उद्धृतकी है—

चूअंकुरावअंसं छणपसरमहग्घमणहरसुरामोअम्।
असमप्पिअं पि गहिअं कुसुमसरेण महुमासलच्छिमुहम्॥

मधुमासमें आम्रमंजरीके प्रस्फुटित होनेसे वायुमण्डलके सुरभित हो जानेपर मदन कामिजनोंका चित्त हर लेता है, यह कल्पना इस गाथामें आलंकारिक भाषामें

१. महाभारत, द्रोणपर्व, अध्याय ११, श्लो. २३।
२. ध्वन्यालोक, पृ. १२७।

ग्रथित की गई है। इस गाथासे यह स्पष्ट दिखाई देता है कि हरिविजयकी रचना माहाराष्ट्री प्राकृत भाषामें की गई थी। 'सज्जेइ सुरहिमासो' इत्यादि एक और वसन्तऋतुवर्णनपर गाथा आनन्दवर्धनने उदाहरणके रूपमें दी है[1]। स्पष्ट निर्देश न होने पर भी यह गाथा हरिविजयसे ही उद्धृत प्रतीत होती है, क्योंकि ऊपर उद्धृत गाथा तथा हेमचन्द्रकृत काव्यानुशासनके उल्लेखसे स्पष्ट है कि इस काव्यमें वसन्त ऋतुका वर्णन किया गया था।

सर्वसेनका अगला उल्लेख दसवीं शताब्दीमें कुन्तकके वक्रोक्तिजीवितमें मिलता है। कुन्तकने काव्यकी शैली अथवा मार्गके तीन प्रकार माने हैं—वैचित्र्यमार्ग, सुकुमारमार्ग तथा मध्यममार्ग। उनमेंसे 'सुकुमारमार्गके उदाहरणके लिए कालिदास और सर्वसेन आदिके काव्य दर्शनीय हैं; सहज सौकुमार्यसे वे अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं,' ऐसा कहकर कुन्तकने सर्वसेनको कालिदासके बराबरीका स्थान दिया है[2]। इसके पश्चात् ग्यारहवीं शतीमें सुप्रसिद्ध धारापति भोजने अपने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' तथा 'शृङ्गारप्रकाश' इन दोनों अलंकारग्रन्थोंमें हरिविजयसे अनेक गाथाएँ उद्धृत की हैं। उदाहरणके लिए उनमें से एक गाथा यहाँ दी जाती है—

सुरकुसुमेहिं कढुसिअं जइ तेहिं चिअ पुणो पसायामि तुमं।
तो पेमस्स किसोअरि अवराअस्स अ ण मे कअं अणुरूपं॥

इस गाथाका सन्दर्भ भोजने नहीं दिया है। तथापि अर्थकी ओर ध्यान देने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह गाथा कृष्णने सत्यभामाको लक्ष्य करके कही होगी। कृष्ण कहते हैं, 'कृशोदरि सत्यभामे! रुक्मिणीको मेरे पारिजात पुष्प अर्पित करनेसे तू रुष्ट हो गई है। अब यदि तुझको प्रसन्न करनेके लिए मैं वही फूल लाकर तुझे दूँ तो मेरा यह कृत्य तुझपर मेरे प्रेम और अपराधके अनुरूप नहीं होगा'। कृष्णका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि 'मैं पारिजात वृक्षको ही लाकर तेरे आंगनमें लगा दूंगा'।

इसके अनन्तर ग्यारहवीं शताब्दीमें अभिनवगुप्तको भी हरिविजय काव्य ज्ञात था, यह हम ऊपर देख ही आए हैं। तदनन्तर बारहवीं शताब्दीमें हुए हेमचन्द्रने अपने काव्यानुशासनकी निजी टीकामें स्थान-स्थान पर हरिविजयका उल्लेख किया है। इन उल्लेखोंसे इस काव्यके विषयमें अधोनिर्दिष्ट सूचना प्राप्त होती है—

हरिविजय काव्य आरम्भसे अन्त तक स्कन्धक नामक एकही छन्दमें लिखा गया था।[3] उसमें कहीं-कहीं दिखाई देनेवाली गलितक छन्दमें लिखी हुई गाथाएँ किसी

१. ध्वन्यालोक, पृ. १०६, २३६ इत्यादि।
२. द्रष्टव्य—'एवं सहजसौकुमार्यसुभगानि कालिदाससर्वसेनादीनां काव्यानि दृश्यन्ते'। वक्रोक्तिजीवित (डॉ. डे द्वारा सम्पादित), पृ. ७१।
३. हेमचन्द्र, काव्यानुशासन (रसिकलाल पारीख द्वारा सम्पादित), पृ. ४५७।

दूसरेने प्रक्षिप्त की थीं। उसके प्रत्येक सर्गकी अन्तिम गाथामें 'उत्साह' शब्द ग्रथित था। उसका कथानक यह था कि सत्यभामाको प्रसन्न करनेके लिए इन्द्रको पराजित कर कृष्ण पारिजात वृक्षको स्वर्गसे भूमिपर ले आये। प्रथम कृष्णने सात्यकिको अपने निसृष्टार्थदूतके रूपमें सन्देश देनेके लिए इन्द्रके पास भेजा। किन्तु इन्द्रके अनसूनी कर देने पर कृष्णने उसपर आक्रमण कर दिया। हरिविजयमें नगरवर्णन, नायकवर्णन, वसन्तवर्णन, सूर्यास्तवर्णन, वाहनवर्णन इत्यादि विषयोंका समावेश था।

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो गया होगा कि प्राकृतमें होनेपर भी हरिविजय काव्यका स्वरूप रघुवंश, किरातार्जुनीय, शिशुपालवध इत्यादि संस्कृत महाकाव्योंके समान ही था, तथा महाकाव्यमे आवश्यक सभी विषयोंका वर्णन उसमें किया गया था। किंबहुना यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि विद्यमान सभी संस्कृत और प्राकृत काव्योंमें प्राचीनतम होनेसे[1] उसने ही महाकाव्यरचनाकी प्रथा चलाई, तथा उसके बादके कालिदास, प्रवरसेन आदि कवियोंने उसका अनुकरण किया।

प्रतीत होता है कि सर्वसेनने केवल हरिविजय काव्य ही नहीं लिखा, अपितु कतिपय प्राकृत सुभाषितोंकी भी रचना की थी। 'गाथासप्तशती' अथवा 'सत्तसई' नामक प्राकृत सुभाषितसंग्रह प्रसिद्ध है। इस परम्परागत विश्वासके होते हुए भी कि इस ग्रन्थकी रचना ईस्वी सन्‌की प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दीमें हुए हाल नामक सातवाहन राजाने की थी उसमे अनेक उत्तरकालीन कवियोंकी गाथाओंका समावेश हो गया है, जैसा कि उनमे कविनामोंके उल्लेखोंसे स्पष्ट है[2]। निर्णयसागर प्रेससे प्रकाशित गाथासप्तशतीमे कविनामोंकी सूचीमे सर्वसेनका नाम दृष्टिगत नहीं होता। किन्तु अभी कुछ समय पूर्व पंजाबमे सप्तशतीके कुछ भागपर पीताम्बरी टीका प्रकाशित हुई है। उससे प्रतीत होता है कि निर्णयसागर प्रतिकी क्रमाक ५०४ और ५०५ की गाथाएं सर्वसेनरचित हैं। भुवनपाल नामक एक अन्य टीकाकारने २१७ और २३४ क्रमांककी दो और गाथाएं सर्वसेनके नामपर दी हैं। इससे यह स्पष्ट है कि सर्वसेनने प्राकृत सुभाषितोंकी भी रचना की थी जिनमेंसे कुछ गाथासप्तशतीमें समाविष्ट

१. विमलसूरिकृत 'पउमचरिउ' महावीरके निर्वाणके अनन्तर ५३० वे वर्षमें लिखा हुआ माना जाता है, किन्तु उसका यह काल संशयास्पद है। डॉ. याकोबीके अनुसार यह काव्य सम्भवतः ईसाकी तृतीय शतीमें अथवा उसके बाद लिखा गया।

२. इस सम्बन्धमें विस्तृत विवेचनके लिए देखिए मेरा लेख 'गाथासप्तशतीका काल' (संशोधनमुक्तावलि, भाग १), पृ. १०४ और आगे।

हैं। इन सुभाषितोंमें भी सर्वसेनके प्रतिभा, मार्मिक निरीक्षण, आकर्षक शब्दयोजना इत्यादि गुण दृष्टिगत होते हैं। उदाहरणके लिए निम्नलिखित गाथा देखिए—

जस्स जहं विअ पढमं तिस्सा अंगम्मि णिवडिआ दिट्ठी।
तस्स तहिं चेअ ठिआ सव्वंग केण वि ण दिट्ठं॥

एक अत्यन्त सुन्दर स्त्रीको देखकर आनेके लिए भेजे हुए अपने सहचरोंके लौटनेपर जब नायकने उसके रूपके विषयमें पूछा तो वे कहते हैं, 'हममेंसे प्रत्येककी दृष्टि उसके जिस अवयवपर पहलेपहल पड़ी वहीं टिकी रही। उसका समग्र रूप किसीने भी नहीं देखा।' शब्दयोजना सादी होते हुए भी कितनी अर्थपूर्ण है! इसी कविकी एक और गाथा देखिए –

अज्ज पि दाव एक्कं मा मं वारेहि पिअसहि रुअंतिं।
कल्लि उण तम्मि गए जइ ण मुआ ता ण रोइस्सं॥
(अद्यापि तावदेकं मा मां वारय प्रियसखि रुदतीम्।
कल्ये पुनस्तस्मिन् गते यदि न मृता तदा न रोदिष्यामि॥)

(हे प्रियसखि, आंसू बहाती हुई मुझे आजके दिन तू मत रोक। यदि कल पतिके परदेश जानेपर मैं निष्प्राण न हुई तो नहीं रोऊंगी।)

सर्वसेन तथा उसके वंशजोंके राज्यकालमें वत्सगुल्म विद्याका केन्द्र बना। वहांपर रचित प्राकृत काव्यों और सुभाषितोंकी रचनाके कारण वच्छोमी (वात्सगुल्मी) नामक नवीन रीति प्रचारमें आई तथा वैदर्भी रीतिका पर्याय बनी। राजशेखरने अपने 'कर्पूरमंजरी' नामक प्राकृत नाटकके आदिम श्लोकमें वच्छोमीका इस अर्थमें निर्देश किया है।

वत्सगुल्मके सर्वसेनकी भांति ज्येष्ठ शाखाके प्रवरसेन द्वितीयनेभी प्राकृत काव्यरचना करके यश प्राप्त किया। वह माहाराष्ट्री प्राकृतमें रचित सुप्रसिद्ध काव्य 'सेतुबंध' अथवा 'रावणवहो' का प्रणेता है। कतिपय विद्वानोंके मतानुसार वितस्ता (झेलम) नदीपर पुल बांधनेकी स्मृतिमें काश्मीरके राजा प्रवरसेनने इस काव्यकी रचना की थी[1]। किन्तु यह मत युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि कल्हणने राजतरंगिणीमें इस पुलके निर्माणका उल्लेख किया है[2], किन्तु 'सेतुबंध' काव्यका नहीं। इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिए कि यह काव्य माहाराष्ट्री प्राकृतमें है। इस काव्यके विषयमें एक और मत है जो

१. मैकडोनेल, हिस्टरी ऑफ् संस्कृत लिटरेचर, पृ. ३३१-३२; कीथ, हिस्ट्री ऑफ् संस्कृत लिटरेचर, पृ. १३२।
२. राजतरंगिणी, ३-३४५।

ठीक प्रतीत होता है। इस काव्यके टीकाकार रामदासने अपनी टीकाके प्रारम्भमें कहा है कि 'प्रवरसेनके लिए महाराजाधिराज विक्रमादित्यकी आज्ञासे कालिदासने इस काव्यकी रचना की[1]।' इस प्रवरसेनको वाकाटक वंशके प्रवरसेन द्वितीयसे अभिन्न माननेपर ही इस आख्यायिकाकी संगति बैठाई जा सकती है, क्योंकि वह चन्द्रगुप्त द्वितीय-विक्रमादित्यका दौहित्र था। इस चन्द्रगुप्तका आश्रित कालिदास वाकाटकोंकी राजधानी नन्दिवर्धनमें कुछ समय रहा होगा। वहां रहते हुए रामगिरि (वर्तमान रामटेक) जानेपर उसे मेघदूत काव्यकी कल्पना सूझी होगी और विदर्भमें ही उसने इस काव्यको पूर्ण किया होगा, यह हम पहलेही देख चुके हैं। अतः प्रतीत होता है कि यदि अपने विदर्भनिवासके समय कालिदासने स्वतः सेतुबंधकी रचना न भी की हो तोभी उसकी रचनामें उसने द्वितीय प्रवरसेनकी सहायता दी होगी। यह मत स्वीकार करनेपर रामदास द्वारा उल्लिखित कुछ प्राचीन टीकाकारोंके इस कथनकी भी संगति बैठाई जा सकती है कि 'प्रवरसेन भोजदेव है' क्योंकि भोज विदर्भके प्राचीन राजवंशका नाम था। सेतुबंधके प्रथम आश्वासकी नवीं गाथासे ज्ञात होता है कि गद्दीपर बैठनेके पश्चात् शीघ्र ही प्रवरसेनने इस काव्यका प्रणयन आरम्भ किया। इसमें उसे अनेक अड़चनों और विघ्नोंका सामना करना पड़ा और त्रुटियोंका संशोधन कराना पड़ा[2]। ऐसे प्रसंगोंमें उसे कालिदासका साहाय्य मिला होगा तथा रामदास द्वारा उल्लिखित आख्यायिकाओं और प्रत्येक आश्वासके अन्तके कविनामोल्लेखमें इसीकी चर्चा की गई दिखती है[3]।

सेतुबन्ध महाकाव्यके लिए उपयुक्त विदग्ध शैलीमें लिखा गया है तथा उसमें श्लेष और समासका प्राचुर्य है। यह काव्य संस्कृतसे भली भाँति परिचित पाठकोंके लिए लिखा हुआ प्रतीत होता है। संस्कृत महाकाव्योंके लिए आवश्यक रूपमें परिगणित सभी विषयोंका वर्णन इसमें प्राप्त होता है। अनेक संस्कृत कवियों और आलंकारिकोंने मुक्तकण्ठसे इसकी प्रशंसा की है। सुप्रसिद्ध संस्कृत कवि बाणभट्ट अपने हर्षचरितके एक प्रास्ताविक श्लोकमें कहता है कि जिस प्रकार प्राचीनकालमें भगवान् रामचन्द्रकी कपिसेनाने सेतुपरसे होकर समुद्र पार किया था उसी प्रकार

१. 'इह तावन्महाराजप्रवरसेननिमित्तं महाराजाधिराजविक्रमादित्येनाज्ञप्तो निखिलकविचक्रचूडामणिः कालिदासमहाशयः सेतुबन्धं प्रबन्धं चिकीर्षुः··· मङ्गलमाचरन्नाह', सेतुबन्ध, पृ. ३।

२. अहिणवराआरद्धा चुक्कक्खलिएसु विघडिअपरिट्ठविआ।
मेत्तिव्व पमुहरसिआ णिव्वोढुं होइ दुक्करं कव्वकहा॥

३. द्रष्टव्य—'श्रीप्रवरसेनविरचिते कालिदासकृते दशमुखवधे महाकाव्ये...'।

प्रवरसेन की कीर्ति इस सेतु अर्थात् सेतुबन्ध काव्यके माध्यमसे समुद्र पार पहुँच गई[1]। सुविख्यात साहित्यकसमीक्षक आनन्दवर्धनने इस काव्यके एक प्रसंगकी हार्दिक स्तुति की है। आनन्दवर्धनने कहा है कि लंकामें रावणके बन्दीगृहमें रहते समय एक बार सीताको रामका मायावी सिर दिखाई दिया। इस प्रसंगमें सीताके शोकका वर्णन करते समय अनेक अर्थालंकार कवि प्रवरसेनकी मनश्चक्षुके सामने मानो अहमहमिकापूर्वक (अनायास) आते गये[2]।

इस काव्यके अतिरिक्त प्रवरसेनने प्राकृत गाथाओंकी भी रचना की थी। उनमेंसे कुछ उपर्युक्त गाथासप्तशतीमे उद्धृत हैं। इस ग्रन्थकी निर्णयसागर आवृत्तिकी सूचीमें क्रमांक ४५, ६४, २०२, २०८ और २१६ की पांच गाथाएँ प्रवरसेनके नाम पर दी गई हैं। पीताम्बर ४८१ और ५६५ क्रमांककी गाथाओंका भी इस सूचीमें समावेश करता है। इसके अतिरिक्त भुवनपाल नामक टीकाकार क्रमांक ४६, १२६, १५८, २०३, २०९, ३२१, ३४१, ५६७ और ७३४ की गाथाएँ भी प्रवर, प्रवरराज अथवा प्रवरसेनके नाम पर देता है। यह प्रवरराज अथवा प्रवरसेन सेतुबन्धका प्रणेता वाकाटक नृपति प्रवरसेन द्वितीय ही होना चाहिए।

पीताम्बरकी टीकामें प्रवरसेनके नामपर दी हुई अधोलिखित गाथा देखिए—

गन्धं अग्घाअंतअ पक्ककलंबाण वाहभरिअच्छ।
आससु पहिअजुआणअ घरिणिमुहं मा ण पेच्छिहिसि॥
[गन्धमाजिघ्रन् पक्वकदम्बानां बाष्पभृताक्ष।
आश्वसिहि पथिकयुवन्, गृहिणीमुखं मा न प्रेक्षिष्यसे॥]

(हे तरुण पथिक, कदम्बके विकसित पुष्पोकी सुगन्ध लेते हुए तेरी आंखें आंसुओसे डबडबा आई हैं। धीरज धर। अन्यथा तुझे अपनी पत्नीका मुख दिखाई नहीं देगा।)

इस गाथामें वर्षाके आरम्भमें फूले हुए कदम्ब वृक्षको देखकर प्रियाके विरहमें व्याकुल हुए एक तरुण पथिकको कोई स्त्री सान्त्वना देती है।

१. कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला।
सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना॥
हर्षचरित, उच्छ्वास १, श्लोक १४.

२. अलङ्कारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभानवतः कवेरहंपूर्विकया परापतन्ति।... यथा मायारामादिशिरोदर्शनविह्वलायां सीतादेव्यां सेतौ। ध्वन्यालोक, पृ. ८७.

यहाँ सेतुबन्ध आश्वास ११ की ५२-८६ गाथाओंकी ओर संकेत है।

अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति गणरीए।
पढमं च्चिअ दिअहद्धे कुड्डो रेहाहि चित्तलिओ ॥
[अद्य गत इत्यद्य गत इत्यद्य गत इति गणनशीलया।
प्रथम एव दिवसार्धे कुड्यं रेखाभिश्चित्रितम् ॥]

(आजका दिन गया, आजका दिन गया, आजका दिन गया, इस प्रकार गणना करती हुई उस स्त्रीने पहले आधे दिनमें ही पूरी भीत रेखाओंसे रंगविरंगी कर दी।)

अपने प्रियके बाहर जानेपर उसकी पत्नी कितनी उत्सुकतासे उसके वापस लौटनेके दिनकी बाट जोह रही है, इसका मनोरम चित्र इस गाथामे अंकित किया गया है।

वाकाटक नरेश सर्वसेन तथा द्वितीय प्रवरसेनकी इन गाथाओको उनके तीन सौ वर्ष पूर्व हुए सातवाहन नृपति हालकी गाथासप्तशतीमें उद्धृत देखकर आश्चर्य होना सम्भव है। किन्तु यह स्पष्ट है कि गाथासप्तशती आज अपने मूल रूपमे प्राप्त नहीं है। डॉ. वेबरने सिद्ध किया है कि इसकी छः अथवा सात आवृत्तियां हुई थीं। कुल सात सौ गाथाओमेसे केवल ४३० गाथाएं सब आवृत्तियोमे प्राप्त होती है। केवल वे ही मूल ग्रन्थमे रही होगी। परवर्ती कालमें धीरे धीरे कुछ गाथाएं उसमेंसे निकाल ली गई और उनके स्थानपर अन्य गाथाएं जोड़ दी गई। इन गाथाओमें किसी भी कथानकका सम्बन्ध न होनेके कारण एकाध गाथा निकाल लेना अथवा नवीन गाथा जोड़ देना कठिन न था। मैंने एक अन्य स्थानपर सिद्ध किया है कि इस ग्रन्थमे भवभूतिके समकालीन वाक्पतिराजकी भी कुछ गाथाएं प्राप्त होती है। वाक्पतिराज ईसाकी आठवी शताब्दीमें अर्थात् प्रवरसेन द्वितीयके तीन सौ वर्ष पश्चात् हुआ था। अतः गाथासप्तशतीमें उपर्युक्त दो वाकाटक राजाओकी गाथाएं मिलती हैं तो इसमे कोई आश्चर्य नही।

सर्वसेन और प्रवरसेन द्वितीय क्रमशः वत्सगुल्म और नन्दिवर्धन शाखाके राजा थे। इन दो शाखाओके अतरिक्त वाकाटक वंशकी अन्य दो शाखाएं सम्भवतः गोदावरीके दक्षिणकी ओर कुन्तल देशमे तथा विदर्भके पूर्वमे कोसल देशमें राज्य करती थीं। उनका राज्य सम्भवतः शीघ्र ही नष्ट हो गया जिससे उनके उत्कीर्ण लेख अब तक प्राप्त नहीं हो सके हैं। तथापि इन शाखाओमें भी कुछ राजा हुए होंगे। वत्सगुल्म तथा नन्दिवर्धन शाखाओके प्रायः सभी राजाओंके नाम सेनपदान्त हैं। अत. इन अज्ञात राजाओके नाम भी उनके सदृश ही थे, यह अनुमान करना अनुचित न होगा। गाथासप्तशतीकी सूचीमें ऐसे पाच नाम मिलते हैं। वे इस प्रकार हैं -- जयसेन (गाथा १७०), मकरन्दसेन (गाथा ६,

८०, ९०), सत्यसेन (गाथा २३३, २९८), मल्लसेन (गा. २३७) तथा वसन्तसेन (गा. ३२३)। इनमेंसे सब नहीं तो कुछ नाम शेष दो वाकाटक शाखाओंके राजाओं अथवा राजकुमारोंके होना सम्भव है ।

प्रतीत होता है कि उपर्युक्त सेतुबन्ध काव्यके अतिरिक्त 'सेतु' नामक एक अन्य प्राकृत ग्रन्थ भी वाकाटक कालमें लिखा गया था। अवन्तिसुन्दरी कथाके प्रास्ताविक भागमें प्राचीन संस्कृत तथा प्राकृत ग्रन्थकारोंके प्रशंसापरक श्लोक आए हैं। उनमेंसे एक श्लोक इस प्रकार है—

सेतुरूपेण तिष्ठन्तो लोके सद्वस्तुदर्शिनः ।
षट्पञ्चाशत् प्रमाणत्वं गता नः कविपुङ्गवाः ॥

इस श्लोकमें कहा गया है कि छप्पन कविपुङ्गवों अथवा श्रेष्ठ कवियोंको वस्तुओंका सत्स्वरूप ज्ञात था और वे अपने विषयमे प्रमाणकोटिपर पहुंच चुके थे। इसमें जो एक अन्य महत्त्वपूर्ण सूचना दी गई है वह यह है कि उक्त कवि निधनके पश्चात् भी 'सेतु' रूपसे संसारमें विद्यमान थे। स्वभावः ही 'सेतु' उनके ग्रन्थका नाम प्रतीत होता है।

अवन्तिसुन्दरीकथाके प्रास्ताविक श्लोकोमें उल्लिखित कवियोंकी प्रशंसा कालक्रमानुसार की गई प्रतीत होती है। 'सेतु' ग्रन्थविषयक उपर्युक्त श्लोक सर्वसेनकृत 'हरिविजय' काव्यकी प्रशंसाके पश्चात् तथा कालिदासकी कृतियोंके वर्णनके पूर्व आया है। अतः यह 'सेतु' ग्रन्थ वाकाटक कालीन होना चाहिए। इस प्रसंगमें विशेष रूपसे उल्लेखनीय बात यह है कि इस ग्रन्थके रचयिताओंके नामसे मिलता जुलता कविनाम छप्पण्णय (संस्कृत षट्पञ्चाशत्) उद्द्योतनसूरिकृत 'कुवलयमाला' की निम्नलिखित गाथामें मिलता है —[1]

पालित्तयसालाहणछप्पण्णयसीहनायसद्देण ।
संखुद्धमुद्धसारंग उव्व कह ता पयं देमि ॥

उद्द्योतनसूरि कहता है, 'पालित्तय, सालाहण तथा छप्पण्णयके सिंहनादके सदृश गर्जनसे भयभीत हुए हरिणके समान मैं अपने पैर कैसे आगे बढ़ाऊँ ?'

इस गाथामें उल्लिखित तीन कवियोंमेंसे पालित्तय (पादलिप्त)[2] तथा सालाहण (सातवाहन) ये दो सुप्रसिद्ध प्राकृत कवि थे। पादलिप्त अथवा श्रीपालित

१. द्रष्टव्य —काव्यमीमांसा (श्री. दलाल द्वारा सम्पादित), पृ. १२ टिप्पणी। कुवलयमालाका रचनाकाल शक ७०० (ई सन् ७७८) है।
२. पादलिप्त 'तरंगवती' कथाका लेखक था।

सातवाहन राजा हालके दरबारका कवि था। इस कविकी कुछ गाथाएं गाथासप्तशतीमें उद्धृत हैं। सातवाहन तो स्वयम् गाथासप्तशतीकार हाल ही है। इन दो कवियोंके समान छप्पण्णय भी एक प्राकृत कविका नाम होना चाहिए। कुवलयमालामें उसकी स्तुति निम्नलिखित गाथामें की गई है—

छप्पण्णयाण किं वा भन्नइ कयकुंजराण भुवणंमि।
अन्नो वि छेयभणिओ अज्ज वि उवमिज्जए जेहिं॥

(कविश्रेष्ठ छप्पण्णयोंके विषयमें क्या कहा जाय? आज भी विदग्धोक्तियोंके सम्बन्धमें उपमा देनेकी आवश्यकता पड़नेपर उन्हींका उल्लेख करना पड़ता है।)

इस प्रसंगमें यह उल्लेखनीय है कि छप्पण्णयका वर्णन करते हुए उद्द्योतनने बहुवचनका उपयोग किया है। यह बहुवचन आदरार्थ नहीं है, क्योंकि उद्द्योतनने अन्यत्र पालित्तय, हाल, बाण और देवगुप्त जैसे श्रेष्ठ कवियों तथा स्वयम् अपने गुरु हरिभद्रके विषयमें रचित गाथाओंमें बहुवचनकी योजना नहीं की है। अतः छप्पण्णय नाम किसी एक कविका न होकर कविमण्डलका होना चाहिए। प्रतीत होता है कि इन छप्पन कवियोंने अपनी रचना सामुदायिक नामसे प्रकाशित की थी।

छप्पन कवियोंके 'सेतु' नामक इस ग्रन्थकी पहचान प्रवरसेन द्वितीयके नामपर प्रसिद्ध 'सेतुबन्ध'के साथ नहीं की जा सकती। प्राकृत काव्य सेतुबन्धकी रचना कुमारसम्भव, किरातार्जुनीय, शिशुपालवध प्रभृति काव्योंके सदृश है। उसके आश्वासोंमें सर्वत्र उद्देश तथा रचनाकी जो एकता है वह छप्पन कवियों द्वारा रचित काव्यमें दुर्लभ है। सेतुबन्धमें विविध विषयोंका वर्णन होनेपर भी उसके विभिन्न भाग भिन्न-भिन्न छप्पन कवियों द्वारा स्वतन्त्र रूपसे रचे जाकर एकत्रित किये हुए प्रतीत नहीं होते। इस प्रकारकी कृतिमें शैली तथा वर्णनकी एकरूपता रहनी सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त सेतुबन्ध काव्यकी स्तुति जिन अनेक उत्तरकालीन ग्रन्थकारोंने की है उनमेंसे किसीने भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपसे यह उल्लेख नहीं किया कि अनेक कवियोंने मिलकर इस काव्यकी रचना की थी। अतः छप्पन कवियोंके ग्रन्थकी पहचान सेतुबन्ध काव्यके साथ करनी सम्भव नहीं है।

छप्पन कवियोंका यह सेतु ग्रन्थ सुभाषितसंग्रहात्मक प्रतीत होता है। इस प्रकारके ग्रन्थोंमें कथानकका सम्बन्ध न होनेसे अनेक कवियोंकी कृतियोंको एकत्रित करना सरल है। छप्पन कवियोंके उद्द्योतनसूरि द्वारा किये हुए वर्णनसे भी उपर्युक्त अनुमान सयुक्तिक प्रतीत होता है। वह कहता है, 'छप्पन कवियोंको दिवंगत हुए आज दीर्घकाल व्यतीत हो चुका है। किन्तु आज भी किसीने छेकोक्तिकी रचना की कि उसकी तुलना उनकी कृतिसे की जाने लगती है।' इस वर्णनसे स्पष्ट है कि छप्पन कवियोंकी कृति छेकोक्तिमय अथवा सुभाषितसंग्रहके रूपमें थी।

वाकाटककालमें इस प्रकारके सुभाषितसंग्रहकी रचना अशक्य नहीं थी। हम ऊपर कह आए हैं कि वाकाटक नृपति सर्वसेन तथा द्वितीय प्रवरसेनने अनेक स्फुट प्राकृत गाथाओंकी रचना की थी। अन्य अनेक अज्ञात कवियोंने भी उस कालमें ऐसी गाथाओंकी रचना की होगी। प्रतीत होता है कि ये गाथाएं उस समय अनेक गाथासंग्रहोंमें संकलित की गई थीं। मैंने अन्यत्र सिद्ध किया है कि हालकी सप्तशतीका प्राचीन नाम कोश अथवा 'गाथाकोश' था। अतः यदि छप्पन कवियोंने अपनी गाथाओंका संग्रह 'सेतु' नामसे प्रकाशित किया हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। यह ग्रन्थ 'छप्पन कवियो'के नामसे प्रसिद्ध रहा होगा। कालान्तरमें प्रचारमें न रहनेपर उसकी कुछ गाथाएं हालकी सप्तशतीमें ले ली गई होंगी। दण्डी और उद्योतनसूरि द्वारा की गई छप्पन कवियोंकी स्तुतिका यही अर्थ संतोषजनक प्रतीत होता है।

६. स्थापत्य, शिल्प तथा चित्रकला

स्थापत्य प्रभृति कलाओंके क्षेत्रमें भी वाकाटक कालका महत्त्व अन्य क्षेत्रोंकी अपेक्षा कम नहीं है। वाकाटककालमें अनेक देवालयोंका निर्माण हुआ था; उनमेंसे कुछका उल्लेख उनके उत्कीर्ण लेखोंमें प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ प्रवरसेन प्रथम द्वारा निर्मित प्रवरेश्वरके देवालय[1], रामगिरिपर स्थित रामगिरिस्वामीके देवालय[2] तथा अश्वत्थखेटकमें स्थित महापुरुष अर्थात् विष्णुके देवालयका[3] उल्लेख किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त प्रवरपुरमें प्रवरसेन द्वितीयने अपनी माताके लिए श्रीरामचन्द्रके देवालयका निर्माण कराया था। किन्तु ये सब देवालय अब स्मृतिशेष हो चुके हैं। रामगिरिपर आजभी श्रीरामचन्द्रका देवालय है, किन्तु उसके स्वरूपमें अब बहुत अधिक परिवर्तन हो चुका है। अब तक विदर्भके प्राचीन अवशेषोंकी सिलसिलेवार खोज न होनेके कारण वाकाटककालीन इमारतोंके अवशेष कहीं हो भी तो वे इस समय ज्ञात नहीं हैं। सम्प्रति विदर्भमें केवल एक स्थानपर तत्कालीन स्थापत्यकलाके अवशेष दृष्टिगत होते हैं। रामटेकमें वराह दरवाजेके उत्तरपूर्वमें एक टेकरीपर एक वाकाटककालीन देवालयके भग्न अवशेष अब भी विद्यमान हैं। प्रतीत होता है कि उस स्थानपर प्राचीन कालमें एक मन्दिर था, किन्तु अब उसके अवशेषके रूपमें एक छोटासा मण्डप अत्यधिक जीर्णावस्थामें खड़ा हुआ है[4]। उसके बाजू उधड़े हुए हैं। उसके छः स्तम्भोंमेंसे चारपर पद्मबन्धका कोरा हुआ काम है और शेष दो स्तम्भ सादे हैं। मण्डपकी छत अन्य स्थानोंके गुप्तकालीन मन्दिरोंकी भांति सपाट है[5]। इस मण्डपरूपी देवालयमें प्राचीन कालमें किस मूर्तिकी प्रतिष्ठा की गई थी वह जाननेका कोई साधन उपलब्ध नहीं है। किन्तु इसमें संशय नहीं कि यह विष्णुके ही किसी अवतारका मन्दिर रहा होगा, क्योंकि निकट ही चतुर्भुज त्रिविक्रमकी सुन्दर मूर्ति भग्नावस्थामें विद्यमान है[6]। उसके सिरपर किरीटमुकुट और आसपास

१. क्रमांक ४, पं. १३। २. क्रमांक ८, पं. १।
३. क्रमांक १३, पं. २२। ४. कनिंग्हॅम, आ. स. रि., जि. ७, पृ. ११२।
५. फलक क्रमांक १ देखिए।
६. श्री. आ. ए देशपांडेके 'भग्नमूर्ति' नामक काव्यग्रन्थमें इस मन्दिरका व त्रिविक्रम मूर्तिका चित्र दिया गया है (पृ १ और ८)। उस मूर्तिका मूल रूप कैसा रहा होगा इसकी कल्पना करके उसका चित्र भी उन्होंने पृ. १८ पर दिया है। उसमें त्रिविक्रम दांया पैर बलिके सिरपर रखा हुआ दिखाया गया है, किन्तु साधारणतः यह पैर

(अगले पृष्ठपर देखिये।)

तेजोवलय दिखाया गया है। कानोंमें कुण्डल तथा गलेमें पदकसहित मुक्ताहार है। वैजयन्तीमाला दोनों पैरोंपर लटकती हुई दिखाई गई है। कटिपर उदरबन्ध है। अधोवस्त्र रशनासे बंधा हुआ है तथा उसके छोर नीचे खुले हुए हैं। त्रिविक्रमके सब हाथ अब भग्न हो चुके हैं, किन्तु उनके रत्नजटित अंगद (बाहुभूषण) आजभी दिखाई देते हैं। त्रिविक्रमका बांया पैर भूमिपर रोपा हुआ है। दायां पैर आकाशको व्याप्त करनेके लिए ऊपर उठा हुआ था, किन्तु अब वह भग्न हो चुका है। त्रिविक्रमका खड़े रहनेका ढंग उसका निश्चय व्यक्त करता है। उसकी मुद्रापर भी यह भाव व्यक्त रहा होगा, किन्तु अब वह अस्पष्ट हो चुकी है। त्रिविक्रमके पैरोंके समीप राजा बलि त्रिभंग मुद्रामे विनम्र भावसे खड़ा हुआ है। पासमें ही उसकी रानीकी मूर्ति थी किन्तु अब वह पूर्णतः अस्पष्ट हो गई है। यदि त्रिविक्रमकी यह मूर्ति अखण्डित रहती तो उसकी गणना गुप्तकालीन शिल्पके अत्युत्कृष्ट उदाहरणोंमें होती, इसमें संशय नहीं।

रामगिरिके समान प्रवरपुरमे भी भगवान् रामचन्द्रका मन्दिर था, किन्तु वह अब नष्ट हो गया है। उसको सुशोभित करनेके लिए लगाए हुए शिल्पपट्टोंमेंसे कुछ अभी-अभी श्री विनोबाजीके आश्रमके आसपास खुदाई करते समय प्राप्त हुए हैं। उनमें रामजन्म, वनवासगमन, भरतभेंट, सुग्रीववालियुद्ध, वालिवध प्रभृति रामचरित्रके विविध प्रसंगोसे सम्बद्ध शिल्पपट्ट हैं। इससे यह मन्दिर रामचन्द्रका था इसमें संशय नहीं रह जाता। इस शिल्पका वर्णन मैने अन्यत्र किया है[1], उसमेंसे दो-एक यहाँ भी दिये जा रहे हैं। इनमेसे एक शिल्पपट्ट श्रीविनोबाजीने विशेष रूपसे बनवाये हुए एक देवालयमे रखा है तथा उसे भरतभेंट नाम भी दिया है। इस शिल्पपट्टमें चार मूर्तियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं[2]। वे बायी ओरसे सीता, राम, भरत तथा लक्ष्मणकी हैं। इस शिल्पकी निर्मितिको लगभग डेढ़ हजार वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। अतः ये मूर्तियाँ अब अत्यधिक अस्पष्ट हो गई हैं, तथापि आज भी उनके मुखपरके भाव स्पष्ट दिखाई देते हैं। सीताने अपने दायें हाथसे रामका दायां हाथ पकड़ रखा है। भरतसे वार्तालाप करते हुये रामने अपना बायां हाथ भरतके दायें हाथ पर रखा है। रामकी मुद्रा पर गाम्भीर्यकी छटा है। भरतका सिर आदरार्थ झुका हुआ है, तथा उसके मुखपर रामसे भेंटनेका आनन्द स्पष्ट है। लक्ष्मणने अपना मुख

(पिछले पृष्ठसे।)

आकाशको व्यापनेके लिए उपर उठा रहता है। इस सम्बन्धमें देखिए गणेश हरि खरेकृत मूर्तिविज्ञान, पृ. ५६। मूल मूर्तिके कितने हाथ थे यह स्पष्ट नहीं है।

१. 'पोतदार सन्मान ग्रन्थ', मराठी विभाग, पृ १; 'सरूप-भारती', पृ. २७१।
२. फलक क्रमांक २ देखिये।

मोड़ लिया है जो उदासीनताका सूचक है। सीताके पार्श्वमें एक और व्यक्ति था, किन्तु वह अर्धच्छिन्न हो गया है। सभी मूर्तियोंकी वेश-भूषा अत्यन्त सादी है। उन सबने केवल अधोवस्त्र लपेट रखा है। वे अजंताकी गुहामें चित्रके सदृश हैं। राम और लक्ष्मणके सिरपर जटा है। भरतके लटकते हुये लंबे बाल उसके कंधे पर बिखरे हुये हैं। सभी मूर्तियोंका शरीर अनुपातयुक्त है। लक्ष्मणका शरीर सुगठित दिखाया गया है। इस शिल्पमें कृत्रिमता कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती।

यह शिल्पपट्ट भरतभेंटका है। यह भेंट चित्रकूट पर्वत पर हुई थी। मामाके नगरसे अयोध्या लौटने पर भरतको राम, लक्ष्मण और सीताके वनगमन तथा दशरथके निधनका समाचार ज्ञात हुआ। तत्काल वे अपने मन्त्रियों, सेना और अयोध्याके प्रजाजनोंके साथ रामको वापस लौटानेके लिए निकल पड़े। राम उस समय चित्रकूट पर्वतपर थे। दूरसे धूलिके बादल उठते हुये देखकर उन्होंने लक्ष्मणसे वृक्षपर चढ़कर आनेवालेका पता लगानेके लिये कहा। कोविदारध्वजांकित सेनाको देखकर उन्होंने भरतके आगमनका अनुमान किया। उन्होंने रामसे कहा, 'अपने राज्याभिषेकसे भी सन्तुष्ट न होकर भरत हम दोनोंको मारनेके लिये आ रहा है। यह हमारा शत्रु है, अतः इसे मार गिरानेमें कुछ भी दोष नहीं है।' रामने यह कहकर कि 'भरत हमें अयोध्या लौटानेके लिये आ रहा होगा' लक्ष्मणकी भ्रान्ति दूर करनेका प्रयत्न किया[1]। किन्तु उसकी शंकाका समाधान न हुआ। लक्ष्मणकी यह मनोवृत्ति इस शिल्पपट्टमें उत्तम रीतिसे व्यक्त हुई है। राम और भरत जब परस्पर स्नेहपूर्वक वार्तालाप कर रहे हैं तो लक्ष्मण उनकी ओर न देखकर विपरीत दिशामें देख रहे हैं। इससे उनके मानसिक भाव व्यक्त हुये हैं।

दूसरा शिल्पट्ट वालिवधका है। सीताकी खोजमें घूमते-घूमते राम और लक्ष्मण किष्किन्धा पहुंचे। वहां हनुमान् तथा सुग्रीवके साथ उनकी मैत्री हुई। सुग्रीव अपनी पत्नी रुमाके वाली द्वारा हरण कर लिये जानेसे दुखी था। उसने सीताकी खोजमें सहायता करनेका वचन देकर वालीको मार गिरानेमें रामकी सहायता मांगी। रामसे सहायताका वचन पाकर उसने युद्धके लिए वालीका आह्वान किया। युद्धमें सुग्रीवको पराजित होते देखकर रामने वृक्षकी आड़से बाण मारकर वालीको घायल कर दिया। वालीको भूमिपर गिरा हुआ देखकर राम और लक्ष्मण निकट आए। तब वालीने एक निरपराध व्यक्तिपर बाण चलानेके कारण रामकी निर्भत्सना की। इसपर 'तू अपने भाईकी पत्नीके साथ व्यभिचार करता है, अतः

१. सम्पन्नं राज्यमिच्छंस्तु व्यक्तं प्राप्याभिषेचनम्।
आवां हन्तुं समभ्येति कैकेय्या भरतः सुतः॥
वाल्मीकिरामायण, २, ९६, १७।

तुझे दण्ड देना उचित है,' यह कहकर रामने अपने कृत्यका समर्थन किया[1]। यह प्रसंग इस दूसरे शिलापट्टका विषय है[2]।

इस शिलापट्टमें वाली भूमिपर पड़ा हुआ दिखाई देता है। रामके बाणसे घायल होनेके कारण वह रक्तस्रावसे व्याकुल हो गया था। तथापि बायें हाथपर शरीरका भार देकर वह अधलेटा हुआ है और दायें हाथसे अपना सिर संभालकर वह रामकी ओर देख रहा है। राम प्रत्यालीढ मुद्रामें खड़े हैं। उनका आगे बढ़ा हुआ बायां पैर मुड़ा हुआ है। बाया हाथ जांघपर टिका है। दायें हाथमें कोई वस्तु है। रामकी मुद्रापर तिरस्कारयुक्त अभिमान है। उनका शरीर सौष्ठवयुक्त है। उनके खड़े रहनेके ढंगके कारण वक्षस्थलके दायी ओरका भाग मांसल दिखाया गया है। इसमें शिल्पकारकी निरीक्षणशक्ति, शरीरशास्त्रज्ञान तथा शिल्पकौशल स्पष्ट रूपसे दृष्टिगत होते हैं। उनके पीछे लक्ष्मण और सुग्रीव खड़े हैं। निकट ही बड़े-बड़े फूलोंके माध्यमसे वे वृक्ष दिखाये गये हैं जिनकी ओटसे रामने बाण चलाया था। सादगी, स्वाभाविकता, संयम तथा धार्मिकता गुप्तकालीन मूर्तिकलाकी विशेषताएं मानी जाती हैं। वे सभी इस मूर्तिपट्टमें प्राप्त होती हैं।

इनके अतिरिक्त एक मूर्ति हालमें ही विनोबाजीके आश्रमके परिसरमें खोदनेसे प्राप्त हुई है[3]। वह एक देवता की है। उसकी ऊँचाई छः फूट है। वह चतुर्भुज थी, किन्तु अब सब भुजाएँ भग्न हो गई है। इस देवताने गलेमें अनेक सुन्दर हार, तथा वैकक्षक, अत्यन्त उत्कृष्ट मेखला और पादवलय धारण किये हैं। उसकी केशरचना विग जैसी दिखाई देती है। इस तरहकी केशरचना गुप्त-वाकाटक कालमें अभिमत थी। उसकी चर्चा गंभीर है। वह एक मकर पर खड़ी रही है जिससे वह गंगा देवीकी मूर्ति है यह स्पष्ट होता है। उसके जांघके बायें तरफ उसका नाम 'गंगा भगवति' खोदा हुआ है, जिससे इस विषयमें सन्देह नहीं रहता। इस नामकी अक्षरवटिका गुप्त वाकाटककालीन है। अतः पवनारका यह मंदिर प्रवरसेन द्वितीयने बनवाया था इस मेरे अनुमानका अकल्पित रीतिसे समर्थ हुआ है।

वाकाटक नृपतियो द्वारा निर्मित मन्दिर सम्प्रति अस्तित्वमें नही हैं। तथापि उनके माण्डलिकोके राज्योके दो देवालय सौभाग्यवश आज भी विद्यमान हैं। उनसे तत्कालीन मन्दिरोंकी कल्पना की जा सकती है।

१. तदेतत् कारणं पश्य यदर्थं त्वं मया हतः।
भ्रातुर्वर्तसि भार्यायां त्यक्त्वा धर्मं सनातनम्॥
न हि लोकविरुद्धस्य लोकवृत्तादपेयुषः।
दण्डादन्यत्र पश्यामि निग्रहं हरियूथप॥
रामायण, ४।१८।१८, २१।

२. देखो फलक ३। ३. फलक क्रमांक ४.

इनमेंसे प्रथम देवालय जबलपुर जिलेमें बहुरीबंधके निकट तिगोवामें हैं। तिगोवा 'त्रिग्राम'का अवभ्रष्ट रूप है। तिगोवा, अंगोत्रा और देवरी मिलकर तीन ग्राम होते हैं। ऐसा कहा जाता है कि निकटवर्ती बहुरीबंध एक बड़ा नगर था और तिगोवा आदि ग्राम उसके आसपास बसे हुए थे। कनिंग्हॅमने सन् १८७३-७४ में तिगोवाके अवशेषोंका निरीक्षण किया। उस समय उन्हे वहां अड़तीस मन्दिरोंकी नींव दिखाई दी। उनमेंसे कुछ देवालय केवल ४ फूट लम्बे और चौड़े और कुछ १५ फूट लम्बे और चौड़े थे। लोगोंने कनिंग्हॅमको बताया कि उनमेंसे अनेक देवालयोंके पत्थर प्रॅट नामक रेल्वे ठेकेदार रेलकी पटरियां डलवानेके लिए वहांसे हटवा ले गया था।[1]

तिगोवामें एक ही प्राचीन देवालय आज भी अच्छी स्थितिमें है और वह गुप्तकालीन देवालयका एक सुन्दर उदाहरण माना जाता है। ईसाकी षष्ठ शतीके आरम्भमें यह प्रदेश परिव्राजक राजाओंके राज्यके अन्तर्गत था। परिव्राजक नृपति संक्षोभने गुप्त संवत् १९९ (ई. सन् ५१८) मे अपने डभाल (डाहल) देशके त्रिपुरी (वर्तमान तेवर) विषय (जिला) में स्थित दो ग्राम दानमें दिये थे[2]। अतः इसमें संशय नही कि उस समय इस प्रदेशपर परिव्राजकोंका राज्य था। किन्तु उनके पूर्व यह भाग पाण्डववंशी राजाओंके राज्यमें सम्मिलित था। प्रतीत होता है कि बांधवगढ़ इन राजाओंकी राजधानी थी। तिगोवा बाधवगढ़के पश्चिममें लगभग ६५ मीलकी दूरीपर है। बम्हनी ताम्रपटसे ज्ञात होता है कि खिस्तोत्तर पांचवी सदीमें इस प्रदेशमे पाण्डववंशी राजा ही प्रबल थे[3]। उच्चकल्प और परिव्राजक राजाओंके ताम्रपटोंके प्राप्तिस्थानोंसे अनुमान होता है कि वे बांधवगढ़के उत्तरमें रेवा, उचहरा इत्यादि प्रदेशोंपर राज्य कर रहे थे[4]। उनका राज्य दक्षिणमे बहुरीबंध तक फैला हुआ था यह माननेका कोई भी आधार नही है। बालाघाट ताम्रपटमें कहा गया है कि मेकल देशके पाण्डववंशी नरेश वाकाटक सम्राट् नरेन्द्रसेनके माण्डलिक थे[5]। पाण्डववंशी भरतबलने अपने बह्मनी ताम्रपटमे नरेन्द्रसेनकी प्रच्छन्न स्तुति की है, जिससे अनुमान होता है कि उसने उसका स्वामित्व स्वीकार किया था[6]। तिगोवा बहुधा भरतबलके राज्यमे था। अतः इस देवालयको वाकाटककालीन स्थापत्यका उदाहरण माननेमें कोई हानि नही।

तिगोवाका यह देवालय कंकाली देवीके मन्दिरके नामसे प्रसिद्ध है[7]। इसकी लंबाई और चौड़ाई १२ फुट ९ इंच है तथा ऊपरकी छत सपाट है। देवालयके

१. कनिंग्हॅम, आ. स रि, जि. ९, पृ. ४२।
२. ए इं., जि. ८, पृ २८४ इत्यादि। ३. क्रमांक १९।
४. फ्लीट, गु. इ., पृ ९३-१३५। ५. क्रमांक १८, पं. २८।
६. क्रमांक १९, पं. ३४। ७. कनिंग्हॅम, आ. स. रि., जि. ९, फलक ११।

सामने बरामदा है जिसमें चार स्तम्भ हैं[1]। मध्यके दो स्तम्भोंके बीच २ फूट ९ इंचका अन्तर है तथा दायीं और बायीं ओरके दो-दो स्तम्भोंके बीचका अन्तर २ फूट ६ इंच है। इस प्रकारका अन्तर सांची, उदयगिरि, एरण इत्यादि स्थानोंके गुप्त मन्दिरोंमें भी दृष्टिगत होता है, अतः यह तत्कालीन देवालयोंकी एक विशेषता मानी जाती है।

ये चारों स्तम्भ एकसमान हैं। केवल उनके शीर्षभागमें कुछ अन्तर है। इन स्तम्भोंका निचला भाग चतुष्कोण है और उसके ऊपरका भाग अष्टकोण है। इस भागके ऊपर पद्मबन्ध (Lotus motif) कोरकर उन्हें अलंकृत किया गया है। उसके ऊपरके भागपर खड़ा हुआ कॉर्निस उत्कीर्ण है जिसके ऊपरका भाग वर्तुलाकार तथा पद्मपत्रांकित है। उसके बादका भाग पुनः बारीक कॉर्निससे युक्त होकर अन्तमें चौकोर हो गया है। उसपर स्तम्भका चतुष्कोण शीर्षक (Capital) है। इस शीर्षकके नीचले भागपर दो-दो चैत्यवातायन (Chaitya-windows) खोदकर उसे अलंकृत किया गया है। ऊपरके भागके प्रत्येक बाजूपर परस्परविपरीत दिशाओंमें मुख किये हुए दो सिंह, तथा उनके मध्यमें एक वृक्ष उत्कीर्ण है। यह वृक्ष प्रत्येक शीर्षकपर आम्र, ताल इत्यादि विभिन्न प्रकारका है। किनारेपर दो बाजूओंके दो सिंहोंका केवल एक ही मुख दिखाया गया है। ईरानी पद्धतिका होनेसे यह शीर्षक इस देवालयकी प्राचीनताका द्योतक है। एरणके गुप्तकालीन मन्दिरके स्तम्भपर इसी प्रकारका शीर्षक है।

तिगोवाके इस मन्दिरका गर्भगृह ८ फूट लंबा और ७½ फूट चौड़ा है। उसके दरवाजेकी चौखट पट्टियोंमें उत्कीर्ण सीताफलोंकी आकृतिसे सुशोभित है। दरवाजेकी चौखटके ऊपरकी पट्टी (lintel) को दोनों ओर बढ़ाकर उसके नीचे बायीं ओर गंगा और दायीं ओर यमुना इन दो नदी देवताओंके सुन्दर शिलापट्ट लगे हुये हैं। दरवाजेकी बाजूमें गंगा-यमुनाकी मूर्तियां गुप्तकालीन मन्दिरोंका एक अन्य वैशिष्ट्य है। उत्तरकालीन मन्दिरोंमें ये मूर्तियां नीचे उंबरठेकी बाजुओंमें बैठाई जाने लगीं। गंगाकी मूर्ति एक मनुष्यको निगलते हुये मकरके ऊपर खड़ी है। उसके बायीं ओर एक स्त्रीकी आकृति हाथमें कुछ उपायन लिये खड़ी हुई है। गंगाने अपना दायां हाथ उसपर रखकर उसे स्वीकृत किया है। दाहिनी ओर एक चामरधारी सेवक खड़ा है। गंगाकी मूर्तिके ऊपर सीताफलके वृक्षकी डालीका अगला भाग है और वह अपने दायें हाथसे एक सीताफल तोड़ती हुई दिखायी गई है[2]।

१. द्रष्टव्य फलक क्रमांक ५।
२. द्रष्टव्य फलक क्रमांक ५।

गंगाने अनेक अलंकार धारण किये हैं। उसके केशपाशमें मुक्तायुक्त ललाटिका, कानोंमें वर्तुलाकार कुण्डल, गलेमें मुक्ताफलकहार, भुजोंपर केयूर, मणिबन्धोंमें वलय, कटिमें रशना तथा पैरोंमें नूपुर हैं। गलेमें घुटने तक लटकती माला है। उसके मुखपर प्रसन्नता व्यक्त है। उसके खड़े रहनेका ढंग त्रिभंग पद्धतिका है। गंगाकी यह मूर्ति तत्कालीन शिल्पका उत्कृष्ट उदाहरण है।

दरवाजेकी बायी ओर यमुनाकी मूर्ति भी इसी प्रकारकी है। वह कूर्मपर खड़ी है तथा उसके ऊपर आम्रवृक्षकी छाया है। अपने बायें हाथसे आम्रवृक्षकी शाखा पकड़कर दाहिने हाथसे वह आम्रफल तोड़ रही है। उसके बायी ओर एक पुरुष और दाहिनी ओर एक स्त्री आकृति है। वे दोनों भी कमलनाल पर खड़े हैं।

दरवाजेकी गणेशपट्टीपर सात चौकोन टुकड़े दिखाये गये हैं[1]। इस स्थानपर वे केवल शोभाके लिए होने पर भी इस बातके सूचक हैं कि प्राचीन कालमें देवालय लकड़ीसे बनाए जाते थे, क्योंकि उस समय बाहर आई हुई पटरियोंके वे चौकोन किनारे थे। इसी प्रकारके तेरह अन्य टुकड़े सबसे ऊपरकी पट्टीपर भी दिखाए गए हैं।

तिगोवाका यह मन्दिर ख्रिस्तोत्तर पांचवी सदीका होना चाहिए। कुछ समय पश्चात् उसके बरामदेके दोनो बाजू बन्द कर दिए गए और उसकी भीतरी बाजुओंमें शिल्पपट्ट बैठाए गए। बायी ओर ऊपरी बाजूमे कालीकी अष्टभुजा मूर्ति है। उसके हाथोंमें ढाल, पट्टिश, धनुष्य इत्यादि आयुध है और सामने अस्थिपंजर हुए गण उसकी स्तुति कर रहे हैं। निचले शिल्पपट्टपर भगवान् विष्णुकी शेषशायी चतुर्भुज मूर्ति उत्कीर्ण है। उनकी नाभिसे निकलते हुए कमलनाल पर ब्रह्मदेव बैठे हुए हैं। लक्ष्मी भगवान् विष्णुके पैर दबा रही है। दाहिनी ओरके ऊपरी मूर्तिपट्टमे कालीकी दूसरी मूर्ति है तथा निचले शिल्पपट्टमे विष्णुके वराह अवतारकी मूर्ति है।

बरामदेके एक स्तम्भ पर तीन पंक्तियोका एक लेख है जो इस प्रकार है[2]— 'सिद्धिः [।''] शेतभद्रस्थानसामान्यभट्टपुत्र उमदेवः। कर्णकुब्जसनोप.।' अक्षरोकी बनावटके आधार पर यह लेख सातवीं-आठवी शतीका प्रतीत होता है। उसी कालमें परवर्ती शिल्पपट्ट बरामदेके दोनो ओर बैठाये गये होगे। इसके भी कुछ समय पश्चात् बैठाया हुआ शिल्पपट्ट बायीं ओर है। उसपर बुद्धमूर्ति दृष्टिगत होती है।

१ कनिंग्हॅम, आ. स. रि, जि. ९, फलक १०।

२. कझिन्स, प्रो. रि. आ. स. वे. इं., १९०३-०४, पृ. ५५। ऊपर दिया हुआ मेरा वाचन फोटोपर आधारित है।

वाकाटक नरेशोंके कालका एक अन्य मन्दिर नचनामें है। नचना भूतपूर्व विन्ध्यप्रदेशमें गंज नामक ग्रामके पश्चिममें दो मीलकी दूरीपर है। नचना और गंज इन दोनों स्थानोंपर वाकाटक नृपति पृथिवीषेण द्वितीयके माण्डलिक उच्चकल्पवंशी व्याघ्रदेवके दो शिलालेख प्राप्त हुए हैं[1]। अतः यह प्रदेश पांचवीं शतीके अन्तिम चरणमें वाकाटक साम्राज्यमें समाविष्ट था, इसमें संशय नहीं। नचना ग्राममें कनिंग्हॅमको दो देवालय मिले। उनमेंसे प्राचीन देवालय सम्भवतः वाकाटककालीन है। उसे इस समय पार्वतीका मन्दिर कहते हैं, किन्तु उसके भीतर पीठपर किसीभी देवताकी मूर्ति नहीं है। यह देवालय अनेक दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण है। गुप्तकालीन देवालयोंकी छत सपाट होती है[2]। ऊपर वर्णित तिगोवाका मन्दिर इसी प्रकारका है। किन्तु नचनाके इस देवालयके गर्भगृहके ऊपर एक कमरा बना हुआ है[3]। इस कमरेमें जानेके लिए सीढ़ियोंकी व्यवस्था यदि रही हो तो वह आज दृष्टिगत नहीं होती। अतः उसका उद्देश्य केवल यही प्रतीत होता है कि गर्भगृहका स्थान दर्शकोंको दूर से प्रतीत हो। कालान्तरमें इस कमरेका स्थान शिखरने ग्रहण किया तथा उसके भिन्न-भिन्न प्रकार उत्तर और दक्षिण भारतमें प्रचलित हुए। अतः नचनाका यह देवालय तिगोवाके देवालयके बादका तथा देवगढ़ के गुप्तकालीन शिखरयुक्त मन्दिरके पूर्वका होना चाहिए[4]। उसका काल पांचवी शताब्दीका अन्त माना जा सकता है।

नचनाके देवालयका एक अन्य वैशिष्ट्य है उसका आच्छादित प्रदक्षिणापथ। सांची, तिगोवा, एरण इत्यादि स्थानों के मन्दिरोंमें गर्भगृहको आच्छादित प्रदक्षिणापथ नहीं है। नचनाके देवालयका गर्भगृह प्रायः चौरस आकारका है। उसकी लम्बाई १५ फूट ९ इंच और चौड़ाई १५ फूट है। गर्भगृहके चारों ओर प्रदक्षिणाके लिए पांच फूट चौड़ा मार्ग है। वह तीन फूट मोटी दीवारसे ढका हुआ है। सामनेकी भीतका प्रवेशद्वार गर्भगृहके द्वारके सामने है और उसके सामने एक बारह फुट लंबा-चौड़ा अनाच्छादित चबूतरा है। उसके ऊपर जानेके लिए साढ़ेचार फूट ऊंची सीढ़ियां हैं।

गर्भगृहके दरवाजेकी चौखटकी भीतरी पट्टीपर नक्काशीका दर्शनीय काम है और बाहरी पट्टीपर स्त्री-पुरुष मिथुन उत्कीर्ण हैं। चौखटके दोनों ओर उसकी ऊपरी

१. द्रष्टव्य—'वाकाटकानां महाराजश्रीपृथिवीषेणपादानुध्यातो व्याघ्रदेवो मातापित्रोः पुण्यार्थे कृतमिति'। क्रमांक २०-२१।
२. अजंताकी सोलहवीं गुहाके एक चित्रमें मन्दिरपर गुम्बजके आकारका शिखर व उसपर आमलक दृष्टिगत होता है। याजदानी, अजंता, जि. ३, फलक ६१।
३. राखालदास बैनर्जी, दि एज् ऑफ् दि इम्पीरियल गुप्ताज्, फलक ३।
४. वत्स, दि गुप्त टेम्पल ऍट् देवगढ़, पृ. ८।

पट्टी (lintel) की बराबरीपर तिगोवाके देवालयकी भांति गंगा और यमुनाकी मूर्तियां हैं। सभी मूर्तियां सादगी, अकृत्रिमता, सौन्दर्य इत्यादि गुणोंसे युक्त हैं[1]।

प्रकाशके लिए प्रदक्षिणापथकी बाहिरी दीवारपर चैत्यवातायन हैं तथा उसके सामने ही गर्भगृहकी भीतमें चौकोनी छिद्रयुक्त जालियां लगी हुई हैं। गर्भगृहके ऊपरी कमरे की और प्रदक्षिणापथके ऊपरकी छत सपाट है। प्रदक्षिणापथकी भीतको बाहरकी ओर बडे-बड़े शिलाखण्डोका रूप देकर उनकी गुहाओमें सिंह, रीछ, हरिण, मकड़ी, मोर इत्यादि पशु-पक्षी तथा गण, यक्ष, स्त्री और पुरुष दिखाये गये हैं। एक स्थानपर गोवर्धनोद्धारका शिल्पपट्ट दृष्टिगत होता है। पिछली दीवारपर नाग, नागी तथा नागबालकका शिल्पपट्ट है। उनके हाथोंमें उपायनोंकी गोल तश्तरियां हैं। गर्भगृहके ऊपरके कमरेकी सामनेवाली दीवारमें दरवाजा है, किन्तु उसके भीतरी तथा बाहरी बाजूपर कही भी नक्काशीका काम नही है।

मचनाके देवालयकी बाहरी दीवारोंको पर्वतमें खोदी हुई गुहाओंका रूप दिया गया था। यह इस तथ्यका निदर्शक है कि कालान्तरमे भारतीय देवालय गुहाओंसे उत्क्रान्त हुए थे। भारतके अत्यन्त प्राचीन मन्दिर हैं, पर्वतमें खोदे गये विहार और चैत्य गुहाएं। इस प्रकारकी स्थापत्यकलामें भी विदर्भके कारीगर निष्णात थे। जैसा कि बर्जेसने कहा है, अजंताकी सोलह, सतरह और उन्नीसवीं गुहाए स्थापत्य और चित्रकला इन दोनो दृष्टियोसे अजंताकी अन्य सब गुहाओकी अपेक्षा ही नहीं, अपितु भारतके किसी भी स्थानकी गुहाओकी अपेक्षा उत्कृष्ट हैं।[2] ये तीनो गुहाएं वाकाटक कालमे खोदी गई थी।

इनमेसे क्रमाक सोलहकी गुहा वाकाटक नृपति हरिषेणके सचिव वराहदेवने अपने माता-पिताके पुण्योपचयके लिए खुदवाई थी।[3] यह गुहा अनेक दृष्टियोसे अजंताकी सभी गुहाओमें अत्यन्त उत्कृष्ट मानी जाती है। इस गुहाका सामनेवाला बरामदा ६५ फूट लबा और १० फूट, ९ इंच चौड़ा है तथा मध्यमे छह सादे अष्टकोण स्तम्भ और प्रत्येक सिरेपर पच्चीकारीके सुन्दर कामसे युक्त एक-एक अर्धस्तम्भ था। अब उनमेसे केवल एक स्तम्भ अवशिष्ट है। इस बरामदेमेंसे भीतरी मण्डपमें जानेके लिए तीन दरवाजे है। उनमेसे बीचका दरवाजा बड़ा और बाजूके दो दरवाजे छोटे हैं। मध्य तथा बाजूके दरवाजोके बीचमें दोनो ओर एक-एक खिड़की हैं।[4] बड़े दरवाजेकी चौखटके बाजूके लघुस्तम्भोपर दोनो ओर मकरवाहना गंगाकी मूर्ति उत्कीर्ण

१. द्रष्टव्य फलक ७।
२. बर्जेस, दि केव टेंपल्स ऑफ इंडिया, पृ. ३०४।
३. क्रमांक २५. पं. १८।
४. द्रष्टव्य फलक ८।

है।[1] भीतरी मण्डपके सामनेवाला बरामदा उपर्युक्त बरामदेकी अपेक्षा कुछ अधिक लंबा ७४ फूट है। इसके अतिरिक्त संपथ (corridor) की छतपर ऐसे छड़ और कड़े दिखाये गये हैं जो लकड़ीकी इमारतोंमें दृष्टिगत होते हैं। यह इस बातका प्रमाण है कि इन गुहाओंको खोदनेवालोंने पूर्वप्रचलित लकड़ीकी छतका अनुकरण किया था। छड़ीके अन्त में ब्रेकेट हैं जिनपर गण अथवा गन्धर्व-अप्सराओंके मिथुन उत्कीर्ण हैं।

मण्डपका हॉल ६६ फूट ३ इंच लंबा, ६५ फूट ३ इंच चौड़ा और १५ फूट ३ इंच ऊंचा है। इसमें सब मिलाकर बीस स्तम्भ हैं जिनमें सोलह सादे अष्टकोण हैं। किन्तु अगली तथा पिछली पंक्तियोंमें बीचके दो दो स्तम्भ नीचे चौकोन, उसके ऊपर अष्टकोण, तदनन्तर षोडशकोण और अन्तमें पुनः चौकोन हैं। उसके ऊपर शीर्षक (capital) और ब्रेकेट हैं। ये स्तम्भ कॉर्निस और पद्मबन्धसे सुशोभित हैं। पिछले संपथ (corridor) के पीछेकी ओर चैत्यमन्दिर (गर्भगृह) है जिसमें जानेके लिए तीन दरवाजे हैं। मध्यभागमें धर्मचक्रप्रवर्तनमुद्रामे सिंहासनपर बैठे हुए भगवान् बुद्ध की भव्य मूर्ति है। बुद्धके मुखके चारो ओर प्रभावलय है और उनके दो पार्श्वोंमे वज्रपाणि और पद्मपाणि चामर लिये खड़े हैं। आसपास प्रदक्षिणापथ है।

मण्डपके दोनों पार्श्वोंमें छह-छह, पिछली दीवारमें दो तथा बरामदेके दोनों ओर दो इस प्रकार कुल सोलह छोटे कमरे भिक्षुओंके लिए खोदे हुए हैं।

इस सोलहवीं गुहामें सुन्दर चित्र अंकित थे। उनका उल्लेख इस गुहामें उत्कीर्ण लेखमे 'सुवीथि' शब्दसे किया गया है।[2] इन चित्रोंमेसे अधिकांश इस समय अंशतः अथवा पूर्णतः नष्ट हो चुके है। तथापि अवशिष्ट चित्रोंसे तत्कालीन चित्रकारोंकी उत्कृष्ट कलाकी कल्पना की जा सकती है।

सोलहवीं गुहाके चित्रोकी एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उनमेंसे बहुतेक बुद्धके अन्तिम जन्मके प्रसंगोंसे सम्बद्ध हैं। कहीं-कहीं बुद्धके पूर्वजन्मोंके प्रसंग अथवा जातककथाएं इन चित्रोके विषय है, किन्तु ऐसे चित्र सब मिलाकर थोड़े हैं, तथा उनमेंसे बहुतेक बरामदेमे अंकित है। उदाहरणार्थ, नरमांसभक्षक राजा सौदासको

१. अन्यत्र बहुधा बायीं ओर गंगाकी और दायीं ओर यमुनाकी मूर्ति दृष्टिगत होती है।

२. क्रमांक २५ प. १९। उत्तररामचरितके प्रथम अंकमें 'वीथिका' शब्द इसी अर्थमें प्रयुक्त है। त्रिकाण्डशेषमें वीथिका शब्दका यही अर्थ दिया गया है।

पश्चात्ताप करानेके उद्देश्यसे रचित सुतसोम जातक[1]की कथा बरामदेके सामनेवाले स्तम्भके ऊपरकी भित्त पर चित्रित है। हस्तिजातक[2] (जिसमें एक हाथीने बुभुक्षित यात्रियोंके प्राणोंकी रक्षाके लिए आत्मयज्ञ किया था) तथा महाउम्मग्ग जातक[3] (जिसमें महोसध नामक बालकने बड़े विकट प्रश्नोंके समाधानकारक उत्तर दिये थे) की कथाएं भी बरामदेकी भीतपर ही चित्रोंके माध्यमसे कही गई हैं।

मण्डपमें प्रवेशकर दायीं ओरकी दीवारपर अंकित चित्रोंको क्रमशः देखनेपर यह स्वतः ही ध्यानमें आ जाती है कि ये चित्र गौतम बुद्धके जीवनकी घटनाओंके क्रमको ध्यानमें रखकर बनाये गये हैं।[4] मण्डपके दायी ओरके दूसरे और तीसरे कमरेकी ऊपरी दीवारपर बुद्धजन्मका दृश्य चित्रित है। राजप्रासादके एक चौरस शयनागारमें मायादेवी पलंगपर सोई हुई है। समीप ही उसकी दो दासियां भूमिपर निद्रावश हैं। यह दृश्य मायादेवीके स्वप्नका होना चाहिए। किन्तु सम्प्रति इस चित्रका अधिकांश भाग खराब हो जानेके कारण मायादेवीको स्वप्नमें दिखा सफेद हाथी नष्ट हो गया है। निकटके दूसरे चित्रमे एक वर्तुलाकार मण्डपमें मायादेवी अपने पति शुद्धोदनको अपना पिछली रातका स्वप्न बता रही है। निकट ही कुछ बैठे और कुछ खड़े सेवक और दासिया उसकी बात एकाग्र चित्तसे सुन रहे हैं।

अगले चित्रमें बायीं ओर असित ऋषि कुछ ही समय पूर्व उत्पन्न बालकको जांघपर लेकर एकाग्रतासे निरीक्षण करते हुए उसका भविष्य बता रहे हैं। निकटके दूसरे चित्रमें शिशु गौतम पाटीपर अक्षरोंका अभ्यास कर रहे हैं। उन्होने ऊंचे कोनेकी टोपी पहन रखी है। उसपर आड़ा फीता बंधा हुआ है। निकट ही बैठे हुए बालकके सिरपर टोपी न पहननेके कारण शिखा स्पष्ट दिखाई दे रही है। वह भी लिखने-पढ़नेका अभ्यास कर रहा है। इसके नीचेवाले चित्रमें प्रत्यालीढ मुद्रामें खड़े गौतम धनुर्विद्याका अभ्यास करते हुए दिखाये गये है। उसके बायी ओरके चित्रमें वृद्ध, रोगी और मृत मनुष्यको देखकर गौतमके हृदयमे सांसारिक सुखोंके प्रति वैराग्य उत्पन्न होनेका दृश्य अंकित है। किन्तु यह भाग सम्प्रति अत्यन्त खराब हो गया है।

१. पालिजातक, क्रमांक ५३७; जातकमाला क्रमांक ३१।
२. जातकमाला, क्रमाक ३०। ३. पालिजातक क्रमांक ५४६।
४. याजदानीकी अजंता, जि. ३ में बायी ओरसे चित्रोंका वर्णन आरम्भ करनेके कारण उनका क्रम उलटा हो गया है। चित्रोंके स्थानके लिए इस ग्रन्थका फलक ८ द्रष्टव्य है। इसके आगे वर्णित चित्रोंके फलक श्री याजदानीकृत अजंता, जि. ३ और ४ में हैं तथा वहीं द्रष्टव्य हैं।

इसके अनन्तर ज्ञानप्राप्ति होनेपर गौतमको त्रपुष और भल्लक नामक दो व्यापारियों द्वारा मधु और तंडुलके अपूप दिये जाने तथा सुजाता नामक एक कुलीन तरुण स्त्री द्वारा पायसकी भिक्षा दिये जानेका दृश्य चित्रित है। अगले चित्रमें बुद्धके राजगृहमें भिक्षाके लिए जानेका दृश्य अंकित है। इस चित्रमें तत्कालीन सपाट छतवाले घर, धूप और वर्षासे उनके बचावके लिए लगाये गये लकड़ीके छज्जे, बाजूमें जालीका काम इत्यादि गृहस्थापत्यकी विशेषताएं सुन्दरतापूर्वक दिखायी गई हैं।

मण्डपकी पिछली दीवारपर चैत्यगृहके दरवाजेके दोनों ओर बुद्धके धर्मोपदेशके प्रसंग चित्रित हैं। चैत्यमन्दिरमें भगवान् बुद्धके धर्मचक्रप्रवर्तनमुद्रामें सिंहासनपर बैठे होनेके कारण बाहर दरवाजेके दोनो ओर इन चित्रोको अंकित करनेमें कलाकारोने विशेष औचित्यका प्रदर्शन किया है, इसमें संशय नहीं। इनमेसे बायीं ओरके चित्रमे अजातशत्रुका अपने परिचरोंके साथ बुद्धके दर्शनके लिए जानेका दृश्य अंकित है। उस चित्रके बहुत खराब हो जानेपर भी इसमे ऊंची झूल और बहुमूल्य मुक्तामालाओंको पहनकर सजे हुए हाथी, उनके साथ चलनेवाले पदाति, ढाल तलवार आदि लिए हुए सैनिक, बाजे बजाते हुए बाजेवाले इत्यादिकी भीड़से तत्कालीन राजाओकी सवारीकी उत्तम कल्पना की जा सकती है। देशी राज्योंके विलीनीकरणके पूर्व उनकी राजधानियोमें विजयादशमी जैसे विशेष अवसरोपर लोगोको इस प्रकारकी सवारियोके दृश्य देखनेको मिलते थे। इस चित्रसे उनकी स्मृति ताजी हो उठती है।

निकट ही बुद्धके धर्मोपदेशका चित्र है। भगवान् बुद्ध सिंहासनपर आसीन हैं। उनके पैर एक कमलपर टिके हैं जिसकी नाल दो नागोने धारण की है। बुद्धके दोनो ओर पद्मपाणि और वज्रपाणि खड़े हुए है। सामने अनेक स्त्री पुरुष और भिक्षु भक्तिभावसे भगवान्का प्रवचन सुन रहे हैं। सिंहासनके समीप बायी ओर एक किरीटधारी पुरुष बैठा हुआ विनम्रभावसे धर्मोपदेश सुन रहा है। वह मगधनरेश अजातशत्रु है। उसके पीछे उसकी रानियां भी बैठी है।

दरवाजेके दायीं ओर भी इसी प्रकारका बुद्धके धर्मोपदेशका चित्र है, किन्तु वह अब बहुत खराब हो गया है। इसमें अनेक किरीटधारी पुरुष और भिक्षु एकाग्र चित्तसे भगवान् बुद्धका धर्मोपदेश श्रवण करते हुए दिखाये गये हैं। यह दृश्य तुषित नामक दिव्य लोकमें जाकर बुद्धने जो धर्मोपदेश किया था उस दृश्यका है।

अब हम मण्डपकी बायीं दीवारके चित्रोंको देखते देखते बाहर आते हैं। बायीं ओरके कमरेके ऊपरकी दीवारपर हवामें उड़ती हुई अप्सराओका चित्र दर्शनीय है। उसके सिरपर लटकते हुए घुंघराले बाल, केशपाशमें ललाटिका, जूड़ेमें पुष्पमाला, कानोंमें लटकते हुए कुण्डल, गलेमें बड़े रत्नोंकी एकलड़ माला, बाहुओमें

केयूर, हाथोंमें कंकण आदि अलंकार तथा पट्टोदार अर्धोरुक (घुटने तकका अधोवस्त्र या धोतिया) सुन्दर रीतिसे दिखाये गये हैं।

इसके आगे चौथे कमरेके ऊपरकी भीतपर अंकित मूलचित्रोंके अस्पष्ट हो जानेके कारण एक-दो शताब्दियोंके पश्चात् वहां दो पंक्तियोंमें मानुषी बुद्धोंके चित्र बनाये गये। निचली पंक्तिमें वर्तुल आसनपर मसनदसे टिककर बैठे हुए चार बुद्धोंके चित्र हैं। उनके सिरके ऊपर तीन तीन छत्र हैं। ऊपरकी पंक्तिमें सात-आठ बुद्धोंकी छत्ररहित आकृतियां हैं। वहांके लेखसे ज्ञात होता है कि साम्प्रदायिक पद्धतिके इन चित्रोंको षष्ठशताब्दीमें भदन्त धर्मदत्त और भदन्त बापुकने बनवाया था[1]।

इसके अनन्तर दूसरे और तीसरे कमरेके ऊपरकी भीतपर गौतमबुद्धके मौसेरे भाई नन्दके धर्मप्रवेशके चित्र अंकित हैं। प्रथम चित्रमें यह दिखाया गया है कि ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् भगवान् बुद्ध जब कपिलवस्तु आए तो नन्दका यौवराज्याभिषेक हो रहा था। बुद्ध जब राजप्रासादमें पहुँचे तो उनकी पत्नी और पुत्र (राहुल) उनके सामने आए। तदन्तर नन्दसे भेंटकर उन्होंने अपना भिक्षापात्र उसे दिया। तब उसने भिक्षु बनना स्वीकार किया। इसके पश्चात् उसका मुण्डन हुआ और उसे दीक्षा दी गई, किन्तु आगे चलकर अपनी सुन्दर पत्नीका स्मरणकर वह खिन्न हुआ। तब बुद्धने दिव्यलोकमें ले जाकर वहांकी अप्सराएं दिखाईं। उनकी प्राप्तिके लिए उसने भिक्षुके रूपमें रहना स्वीकार किया। यह कथा[2] इस चित्रमें अंकित थी, किन्तु अब चित्रोंके अस्पष्ट हो जाने के कारण वह कथा अतिशय खण्डित हो गयी है।

इस कथाके केवल अन्तिम प्रसगका चित्र आज भी अच्छी स्थितिमें है तथा सभी कलाविशेषज्ञोंने मुक्तकण्ठसे उसकी स्तुतिकी है। नन्दके भिक्षुके रूपमें रहनेका निश्चय करनेपर एक सेवक उसके मुकुटको उसकी पत्नी सुन्दरीके पास लाया। उसे देखकर सुन्दरी मरणासन्न हो गयी[3]। यह प्रसंग मण्डपके सामनेवाली गॅलरीके बायीं ओरकी भीतपर चित्रित किया गया है[4]।

सुन्दरी एक गहरे आसनपर मसनदसे टिककर बैठी है। मरणासन्न अवस्थामें होनेके कारण उसकी गरदन नीचे झुक गई है। उसकी अधमिची आंखोंसे उसका

१. याजदानी, अजंता, जि. ३, पृ. ६४।
२. सौन्दरनन्द, सर्ग ४-५।
३. इस प्रसंगका सौन्दरनन्द (६.३२) में किया हुआ वर्णन देखिए—
सन्दृश्य भर्तुश्च विभूषणानि वासांसि वीणाप्रभृतीश्च लीलाः। तथो विवेशाभिननाद चोच्चैः पङ्कावतीर्णेव च संससाद ॥
४. पंतप्रतिनिधि, अजंठा, पृ. ५५ के सामने चित्रांक ३४ देखिए।

शक्तिपात सूचित किया गया है। नीचे गिरनेसे बचानेके लिए एक दासीने उसे पीछेसे संभालकर पकड़ रखा है। उसके दाहिनी ओर बैठी हुई दासी उसकी ओर शोकपूर्ण दृष्टिसे देख रही है। वह अपना एक हाथ सुन्दरीके हाथपर रखकर उसकी नाड़ी देख रही है। उसका दूसरा हाथ उसके शोकसे धड़कते हुए वक्षास्थलपर रखा है। समीपही खड़ी पंखा झलनेवाली दासीके विकलाङ्गत्वसे उसके मनकी चिन्ता व्यक्त हो रही है। उसके बाजूमें स्थित सेवकोंके मुखपर भी सुन्दरीकी स्थितिके प्रति चिन्ता और दुःख स्पष्ट रूपसे दृष्टिगत होता है। दाहिनी ओर बाहरके आंगनमें खड़ी दो दासियां परस्पर सुन्दरीकी स्थितिके विषयमें चर्चा कर रही हैं। मण्डपके ऊपर बैठा मोर भी दुःखसे विह्वल हो उठा है। लगता है वह अपनी मान लंबी करके मानो दासियोंकी बातचीत सुननेका प्रयत्न कर रहा हो[1]।

इस चित्रकी प्रशंसा पाश्चात्य कलाकोविदोंने की है। ग्रिफिथने कहा है, "शोक, करुणा तथा स्पष्ट रूपसे कथाकथनकी पद्धति इन विषयोंमें इस चित्रको मात करनेवाली कृति कलाके इतिहासमें उपलब्ध नहीं हो सकती। फ्लॉरेन्सके चित्रकार कदाचित् इसकी अपेक्षा सुन्दर आकृतियां बना सकते हों और व्हेनिसके कलाकार कदाचित् उसमें इसकी अपेक्षा अधिक अच्छे रंग भरनेमें कुशल रहे हों, किन्तु उनमेंसे कोई भी इसकी भावनाको इसकी अपेक्षा अधिक उत्तम रीतिसे व्यक्त नहीं कर सकता था[2]"। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि इस चित्रमें वाकाटककालीन कलाकार अपनी कलाकी चरम सीमापर पहुंच गये हैं।

क्रमांक सोलहवीं गुहासे आगे सीढ़ियोंसे नीचे उतरनेपर नागराजकी छोटीसी गुहा पड़ती है। उसका उल्लेख वराहदेवके उपर्युक्त लेखमें किया गया है[3]। एक नाग द्वारा बनाये हुए वृत्तपर बैठे हुए नागराजके सिरपर ऊँचा रत्नजटित मुकुट है। उसके ऊपर नागने अपना फण फैला रखा है। अजंताकी गुहाएं नाग कारीगरों द्वारा खोदी गयी थीं, अतः उसमें नागराजकी इस प्रकारकी प्रतिमाएं अनेक स्थानोंपर मिलती हैं।

सोलहवीं गुहाके समीप स्थित क्रमांक १७ और १९ की गुहाएं भी वाकाटक-कालमें खोदी गयी थीं। सतरहवीं गुहाके बरामदेमें उत्कीर्ण लेखसे ज्ञात होता है कि इन गुहाओंको वाकाटक नृपति हरिषेणके माण्डलिकने अपने छोटे भाई रविसांबके

१. द्रष्टव्य फलक ९।
२. बर्जेस, केव टेम्पल्स ऑफ् इंडिया, पृ. ३०७।
३. द्रष्टव्य—'नागेन्द्र वेदमद्रिदिर्[illegible]रत्यलङ्कृतम्]' क्रमांक २४, पं. २०-२१।

अकाल निधनसे संसारकी असारताका निश्चय हो जानेपर भिक्षुसंघके लिए खुदवाया था। इनमेंसे सतरहवीं गुहा विहारपद्धतिकी और उन्नीसवी गुहा चैत्यपद्धतिकी है[1]।

क्रमांक १७ की विहारगुहा सामान्यतः सोलहवी गुहाके समान ही है। इसके ६४ फूट लम्बे और १० फूट चौड़े बरामदेके सामने छह अष्टकोण स्तम्भ और दो अर्धस्तम्भ हैं। इन अर्धस्तम्भोपर नक्काशीका सुन्दर काम किया गया है। बरामदेमेंसे पिछले मण्डपमें जानेके लिए मध्यभागमें एक बडा और बायी ओर एक छोटासा दरवाजा है। छोटे और बड़े दरवाजोके बीचमे बायी ओर एक खिडकी है। इसी प्रकार दाहिनीं ओर दो खिडकिया हैं, एक चौड़ी और दूसरी संकीर्ण। भीतरी मण्डप ६४ फूट लबा, ६२ फूट चौड़ा और १३ फूट ऊँचा है। उसमें कुल बीस स्तम्भ है[2]। उनमेंसे अगली और पिछली पंक्तिके मध्यवर्ती दो-दो स्तम्भोके छोड़कर शेष सब अष्टकोण हैं। केवल ये चार स्तम्भ नीचे चौकोन, आगे अष्टकोण और बादमें सोलहकोनी हैं। उनपर नक्काशीका काम बहुत अधिक है। सभी स्तम्भ विविध प्रकारकी बेलपत्तियो, आकृतियो और चित्रोसे सुशोभित है। मण्डपके पीछे की ओर १७ फूट, ९ इंच लम्बा और ८ फूट, ५ इंच चौड़ा अन्तराल तथा उसके पीछे १७ फूट, ९ इंद लम्बा और १९ फूट, ६ इंच चौड़ा चैत्यमन्दिर (गर्भगृह) है। इस चैत्यमन्दिरके दरवाजेकी चौखटकी तीनो खड़ी पट्टियां बेलपत्तियो तथा विविध मुद्राओंमें बैठे और खडे बुद्ध इत्यादिसे सुशोभित हैं। छानकी ऊँचाईपर दोनो ओर मकरवाहना गगाकी मूर्ति है। चैत्यमन्दिरमे आसनके दोनो ओर मगरके मुंहमेसे अपने प्राण बचानेके लिए एक मनुष्य बाहर कूदता हुआ दिखाया गया है। आसनके सामनेवाले भागपर दोनो ओर एक-एक हरिण तथा बीचमें चक्र कोरकर गौतम बुद्धने सारनाथके मृगवनमें भिक्षुओको जो प्रथम उपदेश दिया था वह सूचित किया गया है। भगवान् बुद्धकी मूर्ति अत्यन्त भव्य है। वे योगासनमे बैठे हैं तथा उनके हाथ धर्म चक्रप्रवर्तनमुद्रामें हैं, अर्थात् दायें हाथके अंगूठे और तर्जनीके मध्यमे बायें हाथकी कनिष्ठिकाको रखकर वे बौद्ध धर्मके तत्त्वोका क्रमशः उपदेश कर रहे हैं। बुद्धकी मूर्तिके बायीं ओर बोधिसत्त्व पद्मपाणि और दायी ओर बोधिसत्त्व वज्रपाणिकी खड़ी मूर्तियां हैं। वे अपने बायें हाथमे चामर और दायें हाथमें अपना लांछन (क्रमशः

१. क्रमांक २७, पं. २४-२५। श्री. याजदानीके मतानुसार १७ वीं गुहाके लेखमें उल्लिखित गन्धकुटी क्रमांक १९ की चैत्यगुहा न होकर एक दूसरी ही गुहा रही होगी जो अब नष्ट हो चुकी है। किन्तु इस तर्कका कोई आधार नहीं हैं, क्योंकि यदि ऐसा होता तो उस गुहाके कुछ अवशेष अवश्य दृष्टिगत होते।

२. फलक १० पर इस गुहाका मानचित्र देखिए।

पद्म और वज्र धारण किये हुए हैं। इसी प्रकार आसनके दोनों ओर दो सेवकोंकी छोटी मूर्तियां हैं जिनमेंसे एकके हाथमें बुद्धका भिक्षापात्र है। दूसरेके हाथकी वस्तु सम्प्रति भग्न हो चुकी है। बुद्धके मुखके आसपास तेजोवलय है और दोनों ओर आकाशसे एक-एक विद्याधर उपायन लाकर बुद्धको अर्पण करता हुआ दिखाया गया है।

इस विहारगुहामें बरामदेके दोनों ओर दो, मण्डपके दोनों ओरकी भीतमें छह छह और मण्डपके पीछेकी भीतमें दरवाजेके दोनों ओर दो दो, इस प्रकार कुल अठारह कमरे भिक्षुओंके लिए खोदे गये हैं। बरामदेके निकट पानीकी एक सुन्दर टंकी है। वहां जानेके लिए १६वीं और १७वी गुहाके बीचके स्थानमें सीढ़ियां हैं; बरामदेके बायीं ओरके कोणमें भीतपर पेटिकाशीर्षक लिपिमें एक लेख उत्कीर्ण है। उसमें इस टंकीका उल्लेख है।[1]

सतरहवीं गुहाको ऋषीक देशके राजाने अपने भाईकी अकाल मृत्युसे शोकविह्वल होकर भिक्षुसंघके लिए खुदवाया था। उसके उत्कीर्ण लेखमें कहा गया है कि वह ज्ञान, औदार्य, दया, आनन्द, मैत्री, क्षमा, धैर्य, चातुर्य इत्यादि गुणोंके कारण प्रसिद्ध साधुओंकी सेवा करता था[2]। ऐसे गृहस्थ द्वारा खुदवाई गयी गुहामें यदि उपरिनिर्दिष्ट गुणोंका उपदेश करनेवाली जातक-कथाएं चित्रित की गयी हों तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। हम ऊपर देख चुके हैं कि सोलहवी गुहामें गौतम बुद्धके अन्तिम जीवनकी घटनाओंसे सम्बद्ध चित्रोंको प्रधानता दी गयी है। यह देखनेमें आयेगा कि प्रस्तुत विहारगुहामें ऐसे चित्र बहुत कम हैं तथा अधिकांश चित्र जातककथाओंके विषयमें हैं।[3]

बरामदेकी पिछली दीवारपर विश्वंतरजातककी[4] कथाके चित्र हैं। राजा संजयका विश्वन्तर नामक एक पुत्र था। वह बचपनसे ही दानशील था। संजयने अपने पुत्रके लिए एक अत्यन्त बहुमूल्य रत्नहार बनाया, किन्तु वह उसने अपनी धायोंको दे दिया। इस प्रकारकी घटना नौ बार घटी। संजयके पास एक श्वेत गन्धहस्ती था जो अवृष्टिके समयमें वर्षा करता था। विश्वन्तरने वह भी ब्राह्मणोंको दे दिया जिससे राज्यके प्रजाजन क्रुद्ध हो उठे। उन्हे शान्त करनेके लिए संजयको अपने पुत्र विश्वन्तर और उसकी पत्नीको देशसे निकाल देना पड़ा। राज्यसे जाते समय उसे चार ब्राह्मण मिले। उसके मागनेपर अपने घोड़े उन्हें देकर वह अपनी

१. द्रष्टव्य—'व्यवीविशत् साधुलघुप्रसन्नशीतप्रकामाम्बुमहानिधानम्', क्रमांक २७ पं. २६।
२. क्रमांक २७, पं. १४।
३. फलक १० में इन चित्रोंके स्थान दिखाये गये हैं।
४. जातकमाला, क्रमांक ९।

पत्नी तथा दो सन्तानों—कुमार जाली और कुमारी कृष्णाजिना—को साथ लेकर पैदल चलने लगा। इसके पश्चात् जूजक नामक एक ब्राह्मण याचक उसके पास आकर उसकी दो सन्तानोंको अपनी पत्नीकी सेवाके लिए मांगने लगा। इसपर विश्वन्तरने अपनी सन्तान भी उसे दे दी। यह देखकर उसकी दानशीलतासे चकित इन्द्र उसका सत्त्व हरण करनेके लिए ब्राह्मणका रूप धारणकर उसके पास आया और उसकी पत्नी मद्रीको अपने लिए मागने लगा। तब विश्वन्तरने अपनी पत्नी भी उसे दे दी। इससे सन्तुष्ट होकर इन्द्रने यह वर दिया कि 'तुझे अपनी सन्तान और राज्य वापस मिलेगा'। इधर जिसे विश्वन्तरने अपनी सन्तान दानमे दी थी वह ब्राह्मण जूजक राजा संजयके पास आकर धनके लोभसे उन्हे राजाके हाथों बेचनेके लिए तैयार हो गया। राजाने उसे पर्याप्त सम्पत्ति देकर बच्चोको खरीद लिया और विश्वन्तरको वापस बुलाकर गद्दीपर बैठाया।

दानपारमिताकी यह विश्वन्तर कथा हरिश्चन्द्रकथाके सदृश अत्यन्त हृदयस्पर्शी है। वह बौद्धधर्मके अनुयायियोंमे अत्यन्त लोकप्रिय थी। उसके चित्र इस गुहाके बरामदेकी पिछली भीतपर अंकित हैं। राजकुमार विश्वन्तरके पास दान मांगनेके लिए आये हुए सैकड़ों याचकोंकी भीड़, उसका और उसकी पत्नीका वनवासगमन, आकाशसे उड़कर आते हुए इन्द्र और उसकी अप्सराएं, इनके चित्र अत्यन्त मर्मस्पर्शी बन पड़े हैं[1]।

मुख्य दरवाजे के दायी ओर खिड़कियो पर गौतम बुद्ध के जीवन के एक प्रसंग के चित्र बने हुए हैं। देवदत्त नामक बुद्ध का एक सम्बन्धी भिक्षु हो गया था। उसके मन में भिक्षु संघ का नायक बनने की महत्त्वाकांक्षा थी। अतः उसने बुद्ध से ऐसा करने के लिए आग्रह किया। किन्तु बुद्ध ने उसे मान्य नहीं किया। इस पर देवदत्त ने राजा अजातशत्रु के पास जाकर बुद्ध को मारने के लिए षड्यन्त्र रचा। जब बुद्ध राजगृह में भिक्षा के लिए आये तो देवदत्त ने राजा से कहकर उनपर नालगिरि नामक मदोन्मत हाथी छुड़वा दिया। किन्तु नालगिरि भगवान् को देखते ही नम्र हो गया और पुनः अपने तबेले में चला गया। यह कथा इस चित्र में अंकित है।

बायीं ओर के चित्र में राजप्रासाद की दूसरी मंजिल पर देवदत्त अजातशत्रु से अपनी बात कह रहा है। नीचे की मंजिल पर राजपुत्रों और राजस्त्रियो को इस बात का पता लगने पर वे सब भगवान् की सुरक्षा के लिए चिन्ताग्रस्त हो गये यह उनकी मुद्रा से स्पष्ट दिखाई देता है। दायीं ओर के चित्र में तबेले में से

१. द्रष्टव्य—पंतप्रतिनिधि, अजंठा, चित्रांक ५६।

छोड़ा हुआ मदोन्मत्त हाथी इधर उधर दौड़कर लोगों को पैरों के नीचे दबाता और घोड़े, मनुष्य इत्यादि को सूंड से उठाकर फेंकता हुआ दिखाया गया है। रास्ते के घरों की ऊपरी मंजिलों से स्त्री पुरुष इस दृश्य को भयग्रस्त मन से देख रहे हैं। इतने में भगवान् बुद्ध को देखते ही नालगिरि क्षणार्ध में शान्त होकर उनके समक्ष नम्र हो जाता है और बुद्ध उसके गण्डस्थल पर अपने हाथ से स्पर्श कर उसे आशीर्वाद देते हैं। यह देखते ही लोगों के मुख आनन्द से प्रफुल्लित हो उठते हैं और वे भक्ति भाव से हाथ जोड़कर भगवान् को नमस्कार करते हैं।[1] इस चित्र में भी चित्रकार ने दृष्टिक्रम (Perspective), भावचित्रण और रंगसंगति में अपना कौशल उत्तम रीति से प्रदर्शित किया है।

बरामदे की बायी ओर की दीवार पर एक भव्य चक्र का चित्र है। इसे क्रान्तिवृत्त का चित्र समझकर कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने इस गुहा को 'क्रान्तिवृत्त की गुहा' नाम दिया था। किन्तु यह चित्र क्रान्तिवृत्त का न होकर संसार का है। संसार को बहुधा चक्र की उपमा दी जाती है। भगवद्गीता में भी 'एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः' (अध्याय ३, श्लोक १६) इस श्लोक में सृष्टि की विविध घटनाओं को चक्र की उपमा दी गई है। इस गुहा के चक्र के सदृश चक्र तिब्बत में अंकित दिखाई देते हैं तथा उन्हें 'संसार का चित्र' नाम दिया गया है।

प्रतीत होता है कि इस चक्र के आठ भाग करने का उद्देश्य था, किन्तु उसके पांच ही भाग चक्र के तूंबे से परिधि पर्यन्त जाने वाले अंशों द्वारा विभक्त हैं। शेष तीन भाग सम्भवतः खिड़की के बीच में आ जाने के कारण अंकित नहीं किये गये। इस चक्र में खेड़ों, गावों, नगरों और राजप्रासादों के जीवन में विविध पहलू, जैसे किसानों के घर, उनका सादा जीवन, उनके पशु, नगरों के नाच-रंग और प्रेमी-युगलों के विविध विलास, अरण्य के प्रशान्त वातावरण में परस्पर विचार में व्यस्त ऋषिगण, इत्यादि के चित्र हैं। यह दिखाया गया है कि इस सम्पूर्ण चक्र को कोई भयंकर प्राणी (देव ?) अपने हाथ से फिरा रहा है।[2]

क्रमांक सतरह की प्रस्तुत गुहा में अजंता की अन्य किसी भी गुहा की अपेक्षा अधिक चित्र इस समय अस्तित्व में हैं। उनमें से अधिकांश जातककथाओं पर आधारित हैं। जातककथाओं के इन चित्रों का उपयोग सम्भवतः धार्मिक प्रवचनों में भिक्षुओं और श्रावकों के मन पर दया, शान्ति, मैत्री, परोपकार इत्यादि गुणों का महत्त्व अंकित करने के लिये किया जाता था। इन कथाओं के इस प्रकार के तात्पर्य जातकमाला प्रभृति ग्रन्थों में प्रत्येक कथा के अन्त में कहे गये हैं।

१. याजदानी, अजंता, जि. ३, पृ० ७४।
२. पूर्वोक्त, जि. ४, फलक ४-६।

सतरहवीं गुहा में अंकित जातककथा के प्रत्येक चित्र का सविस्तर वर्णन करना यहां सम्भव न होगा। अतः उन चित्रों के स्थलों का निर्देश करके उनकी जातककथाएं संक्षिप्त रूप में दी जा रही हैं। केवल कुछ महत्त्वपूर्ण तथा सुस्थिति में विद्यमान चित्रों का ही वर्णन नीचे किया गया है। इस गुहा के मानचित्र में भी इन चित्रों का स्थान दिखाया गया है।[1]

षड्दन्त जातक :—इस जातक के चित्र मण्डपकी सामनेवाली भीत के भीतरी भाग पर मुख्य दरवाजे के दायी ओर अंकित हैं। कथा यह है कि एक रानी ने अपने पूर्वजन्म के पति षड्दन्त हाथी के दाँत कटवाकर मंगवाये, किन्तु उन्हे देखते ही उसे अपने दुष्कृत्य पर पश्चात्ताप हुआ और वह भग्नहृदय होकर मर गयी।[2]

महाकपि जातक :—इस जातक के चित्र मण्डप की सामनेवाली भीत के भीतरी भाग में मुख्य दरवाजे के दायी ओर रंगे हुए हैं। इसकी कथा इस प्रकार है कि एक महाकपि ने अपने शरीर का पुल बनाकर अपने समूह के वानरो की रक्षा की।[3]

हस्ति जातक :—इस जातक के चित्र उपर्युक्त चित्र के समीप ही दरवाजे के पास अंकित हैं। इसकी कथा यह है कि अरण्य मे भूख से मृतप्राय हुए व्यापारियो के प्राण बचाने के लिए एक हाथी ने आत्महत्या कर ली।[4]

हंस जातक :—इस जातक के चित्र मण्डप के बायी ओर के दूसरे कमरे के पास की दीवार पर बनाये गये हैं। इसकी कथा इस प्रकार है[5]—धृतराष्ट्र तथा सुमुख नाम के दो सुन्दर हंस अपने अनुयायियो के साथ मानससरोवर में रहते थे। काशी के राजा ब्रह्मदत्त ने उनकी कीर्ति सुनकर उन्हे अपने राज्य में आने का प्रलोभन देने के लिए मानससरोवर से भी अधिक सुन्दर सरोवर तैयार कराया। उसे देखकर कुछ हंसों ने हंसराज से वहा जाने का आग्रह किया। इसपर उसने अपनी सहमति दे दी और वे सब उस सरोवर में विहार करने के लिए आये। इस बात का पता चलते ही हंसराज को पकड़ने के लिए राजा ने एक निषाद को भेजा। उसके द्वारा फैलाये हुए जाल मे हसराज धृतराष्ट्र फंस गया। इसपर उसके अनुयायी उड़ गये, किन्तु केवल उसका मन्त्री सुमुख उसे छोड़कर जाने के लिए तैयार नहीं हुआ। उसकी स्वामिनिष्ठा देखकर निषाद को दया आ गयी। उसने हंसराज को भी मुक्त

१. देखिये फलक १०।
२. पालिजातक, क्रमांक ५१४।
३. पालिजातक, क्रमांक ४०७ ; जातकमाला, क्रमांक २७।
४. जातकमाला, क्रमांक ३०।
५. पालिजातक, क्रमांक ५३३ ; जातकमाला, क्रमांक २२।

कर दिया। किन्तु निषाद को राजा ने जिस पुरस्कार का वचन दिया था वह उसे मिले इस उद्देश्य से उन दोनों ने उसके (निषाद के) साथ जाने का निश्चय किया। जब निषाद उन्हें लेकर राज्यसभा में आया तो वह वृत्तान्त सुनकर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने हंसराज को बैठने के लिए सुवर्ण सिंहासन तथा उसके मन्त्री को उसके निकट ही दूसरा आसन दिया। बाद में हंसराज ने राजा को राजधर्म का उपदेश किया।

प्राचीन काल में हंसजातक अत्यन्त लोकप्रिय रहा होगा क्योंकि वह अजंता की अनेक गुहाओं में चित्रित किया गया है। प्रस्तुत चित्र में हंसराज को पकड़ते ही अन्य हंसों की भय के कारण हुई घबराहट, प्राण बचाने के लिए उड़ जाने का उनका प्रयत्न, निषाद की अत्यन्त काली मूर्ति, राजसभा में हंसराज और उसके सचिव के बोलते समय उनके उपदेश का सभा मे स्थित राजा, रानी, मंत्री और सेवकों के मन पर हुए परिणाम इत्यादि का चित्रण चित्रकार ने बड़ी ही कुशलता से किया है। सभामण्डप में लकडी के स्तम्भों पर किया हुआ नक्काशी का काम, उसमें शोभा के लिए लटकते हुए विविध रङ्गों के परदे, राजा, रानी, सचिव इत्यादि के आसन रखने की पद्धति, स्त्री-पुरुषो के वस्त्र पहनने के ढंग इत्यादि से तत्कालीन राजदरबार के रीतिरिवाजो की जानकारी मिलती है। चित्रकारो को राजसभा के दृश्यो का अपनी आखो से देखा हुआ अनुभव होने के कारण उन्होने उनका अनुकरण अपने चित्रों में किया हो तो कोई आश्चर्य नही।

विश्वन्तर जातक: —इस जातक के कुछ चित्र इस गुहा के बरामदे की भीतपर बनाये गये हैं, किन्तु वहां उस कथा को सविस्तर चित्रित करने के लिए पूरा स्थान न होने के कारण उसके कुछ प्रसग यहा दिखाये गये हैं। इस जातक ने मण्डप मे बायीं ओर के ३-६ कमरो के ऊपर की सारी दीवार घेर ली है। इस स्थान के अनेक चित्र उत्कृष्ट हैं। विशेषत: राजकुमार विश्वन्तर द्वारा ब्राह्मण जूजकको अपनी सन्तति के दिये जाने का दृश्य अत्यन्त हृदयस्पर्शी बन पड़ा है। अन्तिम चित्र में जूजक राजसभा में आकर सैकड़ों सिक्के लेकर विश्वन्तर के बालकों को उनके पितामह राजा संजय को लौटा रहा है। यह दृश्य तो अप्रतिम ही है। चित्रकार ने जूजक का चित्र अत्यन्त कुशलता से अंकित किया है।[1] आगे के अधछिदे दांतों से युक्त उसका विरूप मुख, उसकी बकरी के समान बढ़ी हुई दाढ़ी और लंबी मूछ, गंजा सिर, क्वचित् कील के समान खड़े हुए सिर पर के कड़े केश, पीछे अनेक गांठों से युक्त उसकी चोटी, राजसभा में आने पर भी बन्द न हुई उसकी चौकोन छत्री, उसके दुपट्टे में सिक्को से भरे भाण्ड खाली करता हुआ खजानची तथा

१. पंत प्रतिनिधि, अजंठा, चित्रांक ६७। प्रस्तुत पुस्तक का फलक ११ देखिए।

और सिक्कों के लोभ से राजा की ओर लगी हुई उसकी आँखें, इन दृश्यों को देखकर उसके विषय में प्रेक्षकों के मनमें अत्यन्त तिरस्कार की भावना उत्पन्न होती है। राजा उसकी ओर कुछ राग और कुछ तिरस्कार से देख रहा है। वह अपने दायें हाथ में सिक्का लिये हुए है। मानो वह ब्राह्मण से तिरस्कार पूर्वक कह रहा हो 'ले, यह तेरा आखिरी सिक्का'। निकट बैठी हुई रानी की मुद्रा से स्पष्ट है कि उसे भी ब्राह्मण के लोभ पर आश्चर्य हो रहा है।

महाकपि जातक (द्वितीय) :—इस जातक का चित्र मण्डप की बायीं ओर की भीत पर अन्तिम कमरे के पास अंकित है।[1] इस कथा के अनुसार वन में अपना मार्ग भूल जाने के कारण भूख से व्याकुल एक ब्राह्मण को एक वानर अपनी पीठ पर बिठाकर गुहा से बाहर निकालता है। किन्तु उस ब्राह्मण ने कृतघ्नता-पूर्वक उसके माँस के लोभ से उस वानर को ही मारने का प्रयत्न किया। तथापि उस वानर ने क्षमा करके उसे अरण्य से बाहर जाने का मार्ग दिखाया।

सुतसोम जातक :—इस जातक के चित्र मण्डप की बायीं ओर की भीत के दाहिनी किनारे से आरम्भ होकर पिछली दीवार पर अन्तराल के बायी ओर फैले हुए हैं। इस जातक की कथा यह है कि सौदास नामक राजा को सुतसोम ने धर्मोपदेश करके नरमांसभक्षण से निवृत्त किया।[2]

जैसा कि हम पहले कह आये हैं, इस सतरहवी गुहा के मण्डप में सारी दीवार पर जातक कथा के चित्र अंकित हैं। किन्तु अन्तराल के दोनों ओर की दीवार पर तथा चैत्यगृह (गर्भगृह) के दरवाजे की बायीं ओर गौतम बुद्ध के अन्तिम जीवन के कुछ प्रसंग चित्रित हैं। सोलहवीं गुहा के चित्रों की योजना इसके ठीक विपरीत है, यह ऊपर कहा जा चुका है।

अन्तराल के बायीं ओर की दीवार पर बुद्धद्वारा ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् तुषित नामक दिव्य लोक में जाकर वहां विद्यमान अपनी माता और देवदेवियों को धर्मोपदेश करने का दृश्य चित्रित है। इसके अनन्तर वे पृथिवीतल पर लौट आये। इस अवसर पर उनके दर्शन के लिए अनेक राजा, रानियां, सरदार आदि हाथी इत्यादि पर सवार होकर आते हुए दिखाये गये हैं। तदनन्तर निचले भाग में बुद्ध धर्मोपदेश कर रहे हैं। उनके बायीं ओर बिम्बिसार प्रभृति राजे हैं। उनमें से एक किसी वायव्य प्रान्त का शककुषाणादि वंश का प्रतीत होता है। उसके मुख पर घनी मूंछ प्रमुखता से दिखाई दे रही है और उसके सिर पर ऊंची किनारों की टोपी

१. पालिजातक, क्रमांक ५१६; जातकमाला, क्रमांक २४।
२. पालिजातक, क्रमांक ५३७; जातकमाला, क्रमांक ३५।

है। इसी प्रकार की टोपी पहने दो घुड़सवार भी बायीं ओर दृष्टिगत होते हैं। वाकाटकों के दरबार में शककुषाणों के ऐसे राजदूतों का आना जाना रहा होगा। लगता है कि वहाँ तथा इतरत्र उन्हें देखने के कारण चित्रकार ने वैसे राजाओं और सैनिकों का समावेश बुद्ध के श्रोतृवृन्द में किया है। बायीं ओर राजाओं के साथ कुछ रानियां भी बैठी हैं[1]।

बुद्ध के दाहिनी ओर भिक्षुगण बैठा है। उनमें दो भिक्षुओं की आकृतियां प्रमुख रूप से दृष्टिगत होती हैं। वे सम्भवतः सारिपुत्र और मौद्गल्यायन नामक बुद्ध के दो प्रमुख शिष्य हैं। सारिपुत्र के बायीं ओर बैठा हुआ प्रथम भिक्षु बुद्ध का पट्टशिष्य आनन्द होना चाहिये। धर्मचक्रप्रवर्तनमुद्रा में सिंहासन पर प्रलम्बपाद आसन में बैठे हुए भगवान् बुद्ध के बायी ओर पद्मपाणि और दाहिनी ओर वज्रपाणि चामर लिये खड़े हैं। सबने अपने हाथ जोड रखे हैं। उनकी आंखें भगवान् बुद्ध की ओर लगी हुई हैं। आनन्द के हाथों की मुद्रा से प्रतीत होता है कि वही बुद्ध द्वारा पूछे गये प्रश्नो का उत्तर दे रहा है।

अन्तराल की पिछली दीवार पर चैत्य मन्दिर के बायीं ओर उस प्रसंग का चित्र है जब गौतम बुद्ध ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् अपने पिता के निमन्त्रण पर कपिलवस्तु जा कर भिक्षा मांगते-मांगते राजप्रासाद में गये थे[2]। भगवान् बुद्ध नगर में आये हैं; अतः अपने प्रासाद में भी उनका आना सम्भव है, इस पूर्व सूचना के मिलने पर उनकी पत्नी यशोधरा ने स्वयम् उत्तम वस्त्रभूषण धारण किये और अपने सात वर्ष के पुत्र राहुल को भी सुन्दर वस्त्रालंकारो से सुसज्जित कर वह बुद्ध के आगमन की प्रतीक्षा करने लगी। प्रस्तुत चित्र में भगवान् बुद्ध भिक्षा मांगने के लिए खड़े हुए दिखाये गये हैं। उनकी भव्य आकृति उनकी आध्यात्मिक श्रेष्ठता की द्योतक है। इसकी तुलना में चित्रकारने यशोधरा और राहुल की आकृति बहुत ही छोटी बनाई है। बुद्ध के सिरपर जटा है तथा उनके मुख के आसपास तेजोवलय है। वे लंबा अंगरखा पहने हैं और उनके दायें हाथ में हरे रंग का भिक्षापात्र है। उनकी मुद्रा प्रशान्त है। यशोधरा राहुल को आगे करके यह सूचित कर रही है कि बुद्ध को अपने पुत्र के लिए पुनः अपने घर में आना चाहिए। राहुल दोनों हाथ फैलाकर बुद्ध से अपना दायभाग मांग रहा है। यशोधरा और राहुल की आंखें बुद्ध की ओर लगी हुई हैं। उनके मुख की मुद्रा से स्पष्ट है कि वे बुद्ध का उत्तर सुनने के लिए उत्सुक हैं।

१. याजदानी, अजंता, जि. ४, फलक ३८-३९।
२. पंतप्रतिनिधि, अजंठा, चित्रांक ७२। प्रस्तुत पुस्तक का फलक १२ देखिए।

यशोधरा और राहुल के वस्त्राभरणों से विदर्भ की तत्कालीन वेशभूषा का परिचय मिलता है। यशोधरा ने अपने केशों में आजकल की बिंदी की तरह का अलंकार पहन रखा है और उसके गले में पदकयुक्त कंठिका है। बाहुओं पर रत्नजटित केयूर और कमर में सुन्दर रशना है। हाथों में अनेक सुवर्ण कंकण हैं और उनके पीछे पाटली के सदृश कड़ियो से युक्त अलंकार है। राहुल के केशो में भी ललाटिका है। उसके शरीर पर आजकल की की बनयन तरह का किन्तु नीचे से विभक्त अंगरखा है। दोनो का अधोवस्त्र पीले रंग का है। बायीं ओर एक विद्याधर ने बुद्ध के ऊपर छत्र धारण कर रखा है तथा आकाश से पुष्पमालाओं की वृष्टि होती हुई दिखाई गई है।

अन्तराल की दायी ओर की भीत पर श्रावस्तीमें राजा बिम्बिसार के आग्रह पर बुद्ध द्वारा एक चमत्कार दिखाने की घटना चित्रित है। इस चित्र में संघ में फूट डालने के इच्छुक अनेक नग्न श्रमणों का आह्वान स्वीकार कर बुद्ध द्वारा अन्तराल में अनेक रूप धारण करने का दृश्य अंकित है।

शरभ जातक :—इस जातक के चित्र अन्तराल के दायीं ओर मण्डप की पिछली दीवार पर अंकित हैं।[1] संक्षेप में इस जातक की कथा यह है कि शिकार पर गये हुए एक राजा के गड्ढे मे गिर जाने पर एक हरिण उसे बाहर निकालता है और उसके उपदेश से राजा अपने नगर के निवासियो को पंचशील का आचरण करने की आज्ञा देता है। ये चित्र अब बहुत अस्पष्ट हो गये हैं।

मातृपोषक जातक :—इस जातक के चित्र मण्डप की पिछली दीवार के दो कमरो के ऊपर अंकित है। प्रस्तुत जातक की कथा संक्षेप मे इस प्रकार है– अपनी अंधी माता की सेवा करनेवाले हाथी को जब शिकारी पकड़ कर अपने साथ ले गये तो वह अपने आगे रखे हुए पक्वान्न की ओर झुककर देखता तक नहीं है। किन्तु बाद मे राजाज्ञा से मुक्त किये जानेपर वह दौड़कर जाकर अपनी माता से भेंट करता है। इस घटना का चित्र सुन्दर बन पड़ा है।[2] स्पष्ट ही इस चित्र में चित्रकार ने हाथी का सूक्ष्म निरीक्षण किया है। क्रुद्ध होने पर हाथी अपनी सूंड मोड़ लेता है, दुःखी होने पर उसे नीचे लटकती छोड़ देता है, और आनन्दित होनेपर उसे आगे करके चलता है, यह सब चित्रकार ने अत्यन्त सुन्दर रीति से व्यक्त किया है।

मत्स्यजातक :—इस जातक का चित्र अन्तराल के दायीं ओर मण्डप की पिछली भीत के सिरे पर अंकित है। इस जातक की कथा के अनुसार एक मत्स्यरूपी

१. पालिजातक, क्रमांक ४८३, जातकमाला, क्रमांक २५।
२. पालिजातक, क्रमांक ४५५।

बोधिसत्त्व ने अवृष्टि काल में अपने अहिंसा व्रत के बल पर वर्षा करवाकर तालाब में रहने वाले जलचर प्राणियों की रक्षा की।[1]

श्याम जातक :—इस जातक का चित्र मत्स्य जातक के नीचे है। इसकी कथा रामायण में उपलब्ध श्रवणकुमार की कथा के सदृश है। कथा इस प्रकार है—श्याम अपने मातापिता को कावड़ में बैठाकर इधर-उधर ले जाया करता था। एक दिन लोटे में पानी भरते समय वह वाराणसी के राजा द्वारा गलती से मारा गया। किन्तु बाद में देवकृपा से वह जीवित हो जाता है और उसके मातापिता की दृष्टि भी लौट आती है।

महिष जातक :—इसका चित्र मण्डप में दायीं ओर की भीत पर बना हुआ है। इसकी कथा यह है कि एक बार जब बोधिसत्त्व ने भैंसे का जन्म लिया तो एक मकड़ा उन्हें बहुत तंग करता था। बोधिसत्त्व ने उसे क्षमा कर दिया। किन्तु जब दूसरे भैंसे को वह उसी प्रकार कष्ट देने लगा तो उसे उसका प्रायश्चित्त हुआ।[2]

सिंहलावदान :—इसकी कथा दिव्यावदान में[3] कही गई है। किन्तु उसमें तथा अजंता के चित्रों द्वारा कथित कथा में कुछ स्थानो पर अन्तर है। संक्षेप में कथा इस प्रकार है—सिंहल नामक एक राजकुमार ने ताम्रपर्णी द्वीप पर आक्रमण कर नरमांसभक्षक राक्षसियों को वहाँ से मार भगाया तथा उस समय उस द्वीप का नाम सिंहलद्वीप पड़ गया। इस अवदान के अनेक चित्र मण्डप की दायीं भीत पर अंकित हैं।[4]

शिबि जातक :—इसकी कथा मण्डप की दायीं ओर की तथा सामने की भीत पर चित्रित है। इसकी कथा यह है कि ब्राह्मण का रूप धारण करके आये हुये इन्द्र को राजा शिबि ने अपने दोनों नेत्र निकालकर दे दिये। इसपर सन्तुष्ट होकर इन्द्र ने उसकी दृष्टि पूर्ववत् कर दी।[5]

रुरु जातक :—इस जातक के चित्र मण्डप की आगे वाली दीवार पर भीतर की ओर मुख्य दरवाजे के बायीं ओर अंकित हैं। इस जातक की कथा इस प्रकार है—बोधिसत्त्व ने रुरु अथवा हरिण के रूप में जन्म लिया। एक बार उसने नदी में डूबते हुए एक मनुष्य को बचा लिया। किन्तु उसके साथ विश्वासघात कर

१. पालिजातक, क्रमांक ७५; जातकमाला, क्रमांक १५।
२. पालिजातक, क्रमांक २७८; जातकमाला, क्रमांक ३३।
३. दिव्यावदान, कथा ३६, पृ० ५२३-२८।
४. तुलनीय-पालिजातक, क्रमांक १९६।
५. पालिजातक, क्रमांक ४९९; जातकमाला, क्रमांक २।

पुरस्कार के लोभ से उस मनुष्य ने उसका निवास स्थान उसको पकड़ने के इच्छुक राजा को बता दिया।[1]

ऋक्ष जातक :—इसका चित्र मण्डप की सामनेवाली दीवार के भीतर की ओर दरवाजे के दायीं ओर दो खिड़कियों के बीच के भाग पर अंकित है। इसमें एक रीछ द्वारा जाल में फंसे हुए एक हरिण को छुड़ाने का दृश्य है।

न्यग्रोधमृग जातक —इसके चित्र दीवाल के ऊपरी भाग पर दरवाजा तथा निकटवर्ती खिड़की के बीच में अंकित हैं। इसकी कथा के अनुसार न्यग्रोधमृग एक गर्भिणी मृगी की प्राणरक्षा के लिए उसके स्थान पर स्वयम् राजा के कसाईखाने में गया। इस जातक के चित्र भी बहुत खराब हो गये हैं।[2]

जातकसम्बन्धी इन चित्रों के अतिरिक्त मण्डप की छत और स्तम्भ विविध प्रकार के नक्काशी के काम से अलंकृत हैं। छत पर एक के भीतर एक इस प्रकार सात वृत्त हैं जो अलंकारों, बेलपत्तियों तथा ऐसी बेलों से सुशोभित किये गये हैं, जिनमें जलचर और स्थलचर प्राणी (उदाहरणार्थ, मछली, हरिण, भैंसा, हाथी, सिंह, मोर इत्यादि) गुंफित हैं।[3] बीच-बीच में शंख और कमल इन पवित्र पदार्थों की आकृतियां बनी हुई हैं। इनमें कहीं भी भड़कीले रंगों का उपयोग नहीं किया गया है। इसके विपरीत एक दूसरे की संगति में सुन्दर रंगों की ही योजना की गई है। उपरिनिर्दिष्ट सप्तभागात्मक वृत्त एक विशाल चतुष्कोण के भीतर बनाया गया है। उसके चारों कोनों में वृत्त बनाने के पश्चात् अवशिष्ट स्थान में उपायन लेकर आकाश से आते हुए गन्धर्वों की सुन्दर आकृतियां अंकित हैं।

क्रमांक १९ की गुहा भी ऋषीक देश के माण्डलिक ने खुदवा कर बौद्ध संघ को अर्पित की थी। क्रमांक १७ की विहार गुहा में उत्कीर्ण लेख में उसका उल्लेख 'गन्धकुटी' नाम से किया गया है।[4] अजंता की चार चैत्य गुहाओं में कालक्रम की दृष्टि से यह तृतीय है और अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। यह भीतर और बाहर पच्चीकारी के सुन्दर काम से भरी हुई है। इसके सामने सुन्दर द्वारमण्डप (पोर्च) है जिसके वर्तुल स्तम्भ कॉर्निस तथा कमलबन्ध की आड़ी पट्टियों से सुशोभित हैं। उनके शीर्ष भाग पर वैसा आमलक है जैसा देवालयों के शिखर पर देखने में आता है। उसके ऊपर की छान चैत्यवातायन की आकृतियों की पट्टियों से अलंकृत हैं।

१. पालिजातक, क्रमांक ४८२ ; जातकमाला, क्रमांक २६।
२. पालिजातक, क्रमांक १२।
३. याजदानी, अजंता, जि. ४, फलक ७४।
४. लेख क्रमांक २७, पं. १७।

इस चैत्य गुहा का दृश्य भाग नीचे से ऊपर तक पच्चीकारी के काम से भर गया है। उसमें विविध मुद्राओं में बैठे और खड़े बुद्ध की मूर्ति, चैत्यवातायनों की आकृति, मिथुन प्रभृति की चहलपहल है। मध्य भाग में घोड़े की नाल के आकार का चैत्यवातायन है। उसके भीतर की ओर वैसे कड़े खोदे गये हैं जैसे लकड़ी की इमारतों में दृष्टिगत होते हैं। इस चैत्यवातायन के कारण गन्धकुटी के भीतर भरपूर प्रकाश रहता है। इस वातायन के बायीं ओर कुबेर के सेनापति पञ्चिक और दायीं ओर पूर्णभद्र की सुन्दर मूर्तियां कोरी हुई हैं।[1]

इस दृश्य भाग के बायीं ओर नब्बे अंश के कोण पर कोरे हुए भाग में नीचे की ओर एक ऊंचे आसन पर नागराज और उसकी रानी की मूर्तियां कोरी हुई हैं।[2] नागराज के मस्तक पर नाग ने अपने सात फण फैला रखे हैं। उसकी रानी के सिर पर भी एक फण है। नागराज के सिर पर ऊंचा रत्नजटित मुकुट और गले में रत्नहार तथा पुष्पमाला हैं। उसकी रानी ने भी रत्नजटित मुकुट पहन रखा है तथा उसके गले में अनेक अलंकार हैं। नागराज के बायीं ओर एक चामरधारी सेवक खड़ा है। क्रमांक १६ की गुहा के समीप नागराज की गुहा है, यह हम ऊपर देख ही आये हैं।

गन्धकुटी अथवा चैत्य गुहा का भीतरी भाग २४ फुट चौड़ा, ४६ फुट लंबा और २४ फुट, ४३ इंच ऊंचा है। इसके पूर्व की क्रमांक ९ और १० की चैत्य गुहाएं सादी थीं, किन्तु प्रस्तुत गुहा सर्व नक्काशी से भरी है। इसमें ११ फुट ऊंचे पंधरह स्तम्भ हैं। वे नीचे चौकोन, इसके ऊपर अष्टकोण और उसके पश्चात् वर्तुल हो गये हैं। वर्तुल भाग पर खड़ा अथवा तिरछा कार्निस है जो सुन्दर नक्कासी काम की आड़ी पट्टियों से सुशोभित है। इस भाग के ऊपर सुन्दर आमलक तथा उस पर दोनों ओर ब्रैकेट से युक्त शीर्षक है। इस शीर्षक पर मध्य भाग मे बुद्ध की मूर्ति तथा ब्रैकेट पर सवार सहित हाथी, शार्दूल अथवा उड़ते हुए गन्धर्वों की मूर्तियां हैं। छान पर ५ फूट की ऊँचाई का एक कटघरा है और खड़े हुए बुद्धों की मूर्तियां उत्कीर्ण हैं।

इस गन्धकुटी के चैत्य में दो स्तम्भो पर टिकी हुई कमानी (आर्च) में बुद्ध की खड़ी हुई मूर्ति उत्कीर्ण है। बुद्ध ने पैरों तक खटकता हुआ लंबा अंगरखा पहन रखा है। उनके सिर पर कुंचित केश हैं और उनकी मुद्रा अत्यन्त शान्त है। चैत्य के गुंबज पर हर्मिका और उसके ऊपर तीन छत्र हैं। पूर्ववर्ती चैत्य गुहाओं में ये

१. याजदानी, अजंता, जि. ४, फलक ७५।
२. पंतप्रतिनिधि, अजंठा, चित्रांक १८।

छत्र और गन्धकुटी की भीतरी कमानी लकड़ी की होती थी किन्तु इस गुहा में वे प्रस्तर में ही खोद कर दिखाई गई हैं। किंबहुना, इस गुहा में लकड़ी का कोई भी काम अवशिष्ट नहीं रहा।

अजंता की गुहाओं की कीर्ति उनकी मूर्तियों और चित्रों के योग से शीघ्र ही दूर-दूर फैल गई और प्रतीत होता है कि भारत के अन्य प्रदेशों से ही नहीं, अपितु सिंहलद्वीप, अफगानिस्तान, मध्य एशिया और चीन इत्यादि दूर-दूर के देशों के चित्रकार चित्रकला में कुशलता प्राप्त करने के लिए अजंता आने लगे। कलाविशेषज्ञों के मतानुसार मध्य भारत में बाघ की गुफाओं में, दक्षिण भारत में सित्तनवाल गुफाओं में, सिंहलद्वीप में सिगिरिया, अफगानिस्तान में बमियान, मध्य एशिया में तुरफान तथा चीन में तुन हुआंग नामक स्थान के भित्तिचित्रों में अजन्ता की कला का अनुकरण किया गया है, तथा उससे प्रभावित प्रतीत होते हैं। इससे भी उपर्युक्त अनुमान सयुक्तिक प्रतीत होता है। स्वतः बौद्ध न होते हुए भी भारतीय परम्परा का अनुसरण कर वाकाटक नृपति देवसेन और हरिषेण ने बौद्ध धर्म को आश्रय प्रदान किया होगा। हरिषेण का मन्त्री वराहदेव ने बहुधा बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। अजंता की क्रमांक १६ की गुहा उसने अपने पिता हस्तिभोज की स्मृति में खुदवाई थी। अतः यह सम्भव है कि हस्तिभोज भी बौद्ध धर्म का अनुयायी था। यदि ऐसा न होता तो वराहदेव बौद्ध गुहा न खुदवा कर अपने पिता के पुण्योपार्जन के लिए एकाध हिन्दू मन्दिर का निर्माण कराया होता। हस्तिदेव और वराहदेव जैसे प्रभावशाली सचिवों की सहायता प्राप्त होने से अजन्ता की कला की कीर्ति दूर दूर तक फैल गई होगी। सतरहवी और उन्नीसवी गुहाओं से स्पष्ट है कि खानदेश के माण्डलिक राजाओं का आश्रय भी बौद्ध धर्म को प्राप्त था। इन राजाओं और मन्त्रियों के उदार आश्रय के कारण अजंता की चित्रकला की कीर्ति के सर्वत्र फैलने में सहायता मिली होगी।

इसके अतिरिक्त अजन्ता के पश्चिम में दस मील पर स्थित जंजाल नामक ग्राम के निकट विद्यमान घटोत्कच गुहाएं भी वाकाटक राजा हरिषेण के मन्त्री वराहदेव ने खुदवाई थीं। वे घाटी के एक गहरे प्रदेश में हैं।

प्रतीत होता है कि पहले यहां तीन गुहाएं थीं। इस समय उनमें से दो ही अवशिष्ट हैं। तृतीय गुहा के केवल कुछ अवशेष ही दृष्टिगत होते हैं। दोनों अवशिष्ट गुहाएं विहार पद्धति की हैं। उनमें से एक छोटी है जिसके सामने के स्तम्भ नष्ट हो चुके हैं। केवल एक अर्धस्तम्भ और एक स्तम्भ का शीर्षक काल के प्रहार से बच गये हैं।

केवल बड़ी गुहा काफ़ी साबूत है। उसके भी बरामदे के सब खम्भे नष्ट हो गये हैं। बरामदे के उत्तर की ओर एक खण्डित लेख दिखाई देता है। उसमें वराहदेव की वंशावली आरम्भ से लेकर दी गई है। उसका निचला भाग अतिशय खराब हो जाने के कारण यह ज्ञात नहीं है कि वराहदेव ने किस उद्देश्य से यह गुहा खुदवाई थी और किस भिक्षुसंघ को दी थी।

यह गुहा सामान्य अजन्ता की सोलहवीं गुहा के सदृश अर्थात् विहार पद्धति की है, किन्तु आकार में उसकी अपेक्षा बड़ी है। बरामदे के दोनों ओर एक-एक देवकुली (chapel) है जिसके सामने के भाग में मध्य में दो स्तम्भ और बाजू में दो अर्धस्तम्भ हैं। उसमें पीछे की ओर एक छोटा सा कक्ष (cell) है। बरामदे से भीतरी मण्डप में जाने के लिये मध्यभाग में एक बड़ा सा दरवाजा और दोनों ओर दो छोटे दरवाजे हैं। बड़े और छोटे दरवाजों के बीच में प्रकाश के लिए एक खिड़की है।[1] मध्यवर्ती दरवाजे की चौखट पर सुन्दर नक्काशी के काम की दो पट्टियां हैं। तीसरी पट्टी पर बैठी और खड़ी बुद्धमूर्ति, मिथुन इत्यादि को कोर कर उसे सुशोभित किया गया है। छान की ऊँचाई पर दोनो ओर एक-एक देवता है, किन्तु अंजता की गुहा की भांति उसका वाहन मकर नहीं, वराह है। बाजू के दरवाजो और खिड़कियों को पद्मासनस्थ बुद्धमूर्तियुक्त चैत्यवातायनों और उनपर बनी गोलाकृतियों से सुशोभित किया गया है।[2]

भीतरी मण्डप में चार पंक्तियो में विभक्त बीस स्तम्भ हैं। प्रत्येक बाजू के दो बिचले और सिरे के दो स्तम्भ एक पद्धति के और शेष दूसरी पद्धति के हैं। पहिले प्रकार के स्तम्भ नीचे चौकोन तथा ऊपर अष्टकोण और षोडशकोण हैं। उसके ऊपर के भाग पर बत्तीस खड़े कॉर्निस हैं जिनके ऊपर वे स्तम्भ षोडशकोण और अष्टकोण होकर अन्तमें चौकोन हो गये हैं। उसपर सादा शीर्षक और दोनों ओर ब्रेकेट हैं। पिछली दीवार में मध्यभाग में अन्तराल और उसके पीछे चैत्य-मन्दिर है। उसके दोनों ओर तथा दायी और बायीं ओर की दीवार में भी मध्यभाग में बरामदे की भांति देवकुली हैं। इसके अतिरिक्त दायीं ओर की दीवार में चार और बायी ओर की भीत में छह छोटे कक्ष हैं। पिछले और अगले स्तम्भो की पंक्ति में भीत में अर्धस्तम्भ उत्कीर्ण हैं। उनमें से बायीं ओर के सामने वाले अर्धस्तम्भ पर बुद्ध की मूर्ति और उसपर 'ये धर्मा हेतुप्रभवाः' इत्यादि श्लोक है। इसके अतिरिक्त दायीं ओर के सामनेवाले कोन में स्तूप तथा बाजू की दीवार में बैठे और खड़े बुद्धों की मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। वे परवर्ती होनी चाहिए।

१. मानचित्र, क्रमांक १४।
२. दि घटोत्कच केव्ह इन्स्क्रिप्शन्स (हैदराबाद आर्किऑलॉजिकल सीरीज), फलक ४, ५।

मण्डप की पिछली दीवार में मध्यभाग में स्थित चैत्यमन्दिर में सिंहासन पर बुद्ध की भव्य मूर्ति धर्मचक्रप्रवर्तनमुद्रा में उत्कीर्ण है। उसके दायीं ओर वज्रपाणि चामर लिए खड़े हैं। बायीं ओर चामरधारी पद्मपाणि होना चाहिए, किन्तु उसके हाथ में कमल दृष्टिगत नहीं होता। सिंहासन के नीचले भागपर दो हरिणों के मध्य में धर्मचक्र और उसके दोनों ओर शिष्य और श्रावक घुटने टेककर बैठे दिखाये गये हैं। बुद्ध के सिर के आसपास प्रभावलय है और उनके दोनों ओर विद्याधर और विद्याधरी आकाश से माला लेकर पूजा के लिए आते हुए दिखाये गये हैं।[1]

प्रस्तुत गुहा और अजंता की सोलहवीं गुहा में कुछ विषयों में अन्तर है। कुछ विद्वानों के मतानुसार स्थापत्यशैली की दृष्टि से वह अजंता की क्रमांक १६ की गुहा के पहले की होनी चाहिए, किन्तु उस गुहा के उत्कीर्ण लेख से स्पष्ट है कि वह सोलहवीं गुहा के ही काल की अर्थात् षष्ठ शती के अन्त की है।

१. दि घटोत्कच केव्ह इन्स्क्रिप्शन्स, फलक ३।

परिशिष्ट

वाकाटक नृपतियों की प्राकृत गाथाएँ

गाथासप्तशती में वाकाटक नृपतियों के नाम पर अनेक गाथाएं दी गई हैं। इन गाथाओं के कर्ताओं के विषय में टीकाकारों में ऐकमत्य नहीं है। अनेक संस्कृत सुभाषितसंग्रहों में भी इसी प्रकार का मतभेद पाया जाता है। तथापि उपलब्ध जानकारी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने के उद्देश्य से निम्नलिखित गाथाएं यहां दी जा रही हैं। इसमें निर्णयसागर संस्करण (गंगाधरकृत टीका सहित), पीताम्बरकृत गाथासप्तशतीप्रकाशिका, वेबर का संस्करण तथा भुवनपालकी टीका इन चार ग्रन्थों में उपलब्ध सामग्री का उपयोग किया गया है। जिस टीकाकार अथवा सम्पादक ने जिस कविनाम का उल्लेख किया है, वह प्रत्येक गाथा के क्रम से पादटिप्पणी में दिया गया है। अधोलिखित संक्षेपों का उपयोग किया गया है—

गं.—गंगाधर की टीका, निर्णयसागर आवृत्ति, १९११।

पी.—पीताम्बर की गाथासप्तशतीप्रकाशिका, सं० जगदीशलालशास्त्री, लाहौर, १९४२।

वे.—वेबर द्वारा सम्पादित हाल का गाथासप्तशतक (Das Saptaśatakam des Hāla, Leipzic, 1881)।

भु.—भुवनपालकी गाथासप्तशती-टीका (Weber, Indische Studien, Vol. 16, 1883)।

टीकाकारों के नाम के सामने दी गई संख्या उस गाथा का क्रमांक सूचित करती है।

सर्वसेन की गाथाएँ

१ अज्जं पि दाव एक्कं मा मं वारेहि पिअसहि रुअंतिं।
कल्लिं उण तम्मि गए जइ ण मुआ ता ण रोइस्सं॥
(अद्यापि तावदेकं मा मां वारय प्रियसखि रुदतीम्।
कल्ये पुनस्तस्मिन्गते यदि न मृता तदा न रोदिष्यामि॥)

२ एहि त्ति वाहरंतम्मि पिअअमे उअह ओणअमुहीए।
विउणावेढिअजहणत्थलाए लज्जोणअं हसिअं॥

१ सर्वसेनस्य। (पी., ५०४); विक्रान्तभानोः (भु., ५३१)
२ सर्वसेनस्य। (पी., ५०५); शिवराजस्य। (भु. ५३२)

(एहीति व्याहरति प्रियतमे पश्यतावनतमुख्या ।
द्विगुणावेष्टितजघनस्थलया लज्जावनतं हसितम् ॥)

३ जस्स जहिं चिअ पढमं तिस्सा अंगम्मि णिवडिआ दिट्ठी ।
तस्स तहिं चेअ ठिआ सव्वंगं केण वि ण दिट्ठं ॥
(यस्य यत्रैव प्रथमं तस्या अङ्गे निपतिता दृष्टिः ।
तस्य तत्रैव स्थिता सर्वाङ्गं केनापि न दृष्टम् ॥)

४ तं मित्तं काअव्वं जं किर वसणम्मि देसआलम्मि ।
आलिहिअभित्तिवाउलअ व्व ण परम्मुहं ठाइ ॥
(तन्मित्रं कर्तव्यं यत्किल व्यसने देशकालेषु ।
आलिखितभित्तिपुत्तलकमिव न पराङ्मुखं तिष्ठति ॥)

प्रवरसेन की गाथाएँ

१ अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति गणरीए ।
पढम चिअ दिअहद्धे कुड्डो रेहाहिं चित्तलिओ ॥
(अद्य गत इत्यद्य गत इत्यद्य गत इति गणयन्त्या ।
प्रथम एव दिवसार्द्धे कुड्यं रेखाभिश्चित्रितम् ॥)

२ अप्पच्छन्दपहाविर दुल्लहछम्भं जणं वि सग्गन्त ।
आआसपहेहिँ भमन्त हिअअ कइआवि भज्जिहिसि ॥
(आत्मच्छन्दप्रधावनशील दुर्लभलम्भं जनमपि मृगयमाण ।
आकाशपथैर्भ्रमद्धृदय कदापि भङ्क्ष्यसे ॥)

३ अवहत्थिऊण सहिजम्पिआइँ जाणं कए ण रमिओसि ॥
एआइँ ताइँ सोक्खाइँ संसओ जेहिं जीअस्स ॥
(अपहस्तयित्वा सखीजल्पितानि येषां कृते न रमितोसि ।
एतानि तानि सौख्यानि संशयो यैर्जीवस्य ॥)

४ अहव गुण चिअ सहुआ अहवा गुणअण्णुओ ण सो लोओ ।
अहवेम्हि णिग्गुणा वा बहुगुणवन्तो जणो तस्स ॥

३ सर्वसेनस्य । (भु., १८०) ; अद्धराअस्स । (गं., २३४)
४ सर्वसेनस्य । (भु , १६३) ; पालितस्य (गं. २१७)
१ पवरसेणस्य । (गं. २०८) ; नागहस्तिनः । (भु. १५५)
२ पवरसेणस्य । (गं. २०२) ; राघवदेवस्य (भु. १४७).
३ प्रवरराजस्य । (भु. ३५९) ; देवस्स (गं. १५८).
४ प्रवरसेनस्य । (भु. १४८) ; चन्दहत्थिस्स (गं. २०३).

(अथवा गुणा एव लघवोऽथवा गुणज्ञो न स लोकः ।
अथवास्मि निर्गुणा वा बहुगुणवाञ्जनस्तस्य ॥)

५ उअरिदरदिट्ठथएणुअणिलुक्कपारावआणँ विरुएहिं ।
णित्थणइ जाअवेअणँ सूलाहिण्णं व देउलअम् ॥
(उपरीषद्दृष्टशंकुनिलीनपारावतानां विरुतैः ।
निस्तनति जातवेदनं शूलाभिन्नमिव देवकुलम् ॥)

६ कलहन्तरे वि अविणिग्गआइं हिअअम्मि जरमुवगआइं ।
सुअणकआइँ रहस्साइँ डहइ आउक्खए अग्गी ॥
(कलहान्तरेऽप्यविनिर्गतानि हृदये जरामुपगतानि ।
सुजनश्रुतानि रहस्यानि दहत्यायुःक्षयेऽग्निः)

७ कल्लं किर खरहिअओ पवसिहइ पिओ त्ति सुण्णइ जणम्मि ।
तह वड्ढ भअवइ णिसे जह से कल्लं चिअ ण होई ॥
(कल्यं किल खरहृदयः प्रवत्स्यति प्रिय इति श्रूयते जने ।
तथा वर्धस्व भगवति निशे यथा तस्य कल्यमेव न भवति ॥)

८ गज्ज महं चिअ उवरिं सव्वत्थामेण लोहहिअअस्स ।
जलहर लम्बालइअं मा रे मारेहिसि वराइम् ॥
(गर्ज ममैवोपरि सर्वस्थाम्ना लोहहृदयस्य ।
जलधर कम्बालकिकां मा रे मारयिष्यसि वराकीम् ॥)

९ गंधं अग्घाअंतअ पक्ककलंबाणं बाहभरिअच्छ ।
आससु पहिअजुआणअ घरिणिमुहं मा ण पेच्छिहिसि ॥
(गन्धमाजिघ्रन्पक्वकदम्बानां बाष्पभृताक्ष ।
आश्वसिहि पथिकयुवन् गृहिणीमुखं मा न प्रेक्षिष्यसे ॥)

१० जइ ण छिवसि पुप्फवइं पुरओ ता कीस वारिओ ठासि ।
छित्तोसि चुलचुलंतेहि धाविऊण अम्ह हत्थेहिं ॥

५ पवरसेणस्स । (गं. ६४); प्रवरसेनस्य (वे. ६४); पालित्तकस्य । (भु. ६६).
६ प्रवरराजस्य । (भु. २६०); हालस्स (गं., ३२१).
७ प्रवरराजस्य (भु. ४८); लपस्स (वे., ४६); निष्पटस्स (गं. ४६).
८ प्रवरस्य (भु. ४३०); कलशस्स (पी. ५६६).
९ प्रवरसेनस्य (पी. ५६६); विषगन्धेः । (भु. ४२१).
१० प्रवरसेनस्य (पी. ४९३).

(यदि न स्पृशसि पुष्पवतीं पुरस्तत्किमिति वारितस्तिष्ठसि ।
स्पृष्टोसि चुलचुलायमानैर्धावित्वास्माकं हस्तैः ॥)

११ णइऊरसच्छहे जोव्वणम्मि अइपवसिएसु दिअएसु ।
अणिअत्तासु अ राईसु पुत्ति किं दड्ढमाणेण ॥
(नदीपूरसदृशे यौवने अतिप्रोषितेषु दिवसेषु ।
अनिवृत्तासु च रात्रिषु पुत्रि किं दग्धमानेन ॥)

१२ ण वि तह पढमससमागमसुरअसुहे पाविएवि परिओसो ।
जह बीअदिअह सविलक्खलक्खिए वअणकमलम्मि ॥
(नापि तथा प्रथमसमागमसुरतसुखे प्राप्तेऽपि परितोषः ।
यथा द्वितीयदिवससविलक्षलक्षिते वदनकमले ॥)

१३ तुह दंसणे सअण्हा सद्दं सोऊण णिग्गआ जाइं ।
तइ वोलीणे ताइं पआइँ वोढव्विआ जाआ ॥
(तव दर्शने सतृष्णा शब्दं श्रुत्वा निर्गता यानि ।
त्वयि व्यतिक्रान्ते तानि पदानि वोढव्या जाता ॥)

१४ दूईकज्जाअण्णणपडिरोहं मा करेहिइ इमं ति ।
उत्थंघेइ व तुरिअं तिस्सा कण्णुप्पलं पुलओ ॥
(दूतीकार्याकर्णनप्रतिरोधं मा करिष्यति इदमिति ।
उत्क्षिपतीव तूर्णं तस्याः कर्णोत्पलं पुलकः ॥)

१५ पत्तिअ ण पत्तिअन्ती जइ तुज्झ इमे ण मज्झ रुअईअ ।
पुट्ठीअ बाहबिन्दू पुलउब्भेएण भिज्जन्ता ॥
(प्रतीहि न प्रतीयन्ती यदि तवेमे न मम रोदनशीलाया. ॥
पृष्ठस्य बाष्पबिन्दवः पुलकोद्भेदेन भिद्यमानाः ॥)

१६ परिओसविअसिएहिं भणिअं अच्छीहिं तेण जणमज्झे ।
पडिवण्णं तीअ वि उव्वमन्तसेएहिं अंगेहि ॥

११ प्रवरराजस्य । (वे. ४५); पवणराअस्स । (गं. ४५)
कविराजस्य । (भु. ४७).
१२ प्रवरसेनस्य । (भु. १५६); भाणुसत्तिणो । (गं. २०९).
१३ प्रवरसेनस्य । (भु. ५३५).
१४ प्रवरराजस्य । (भु. ४२३).
१५ प्रवरसेणस्य । (गं. २१६); हालस्य (भु. १६२).
१६ प्रवरराजस्य । (भु. २९०).

(परितोषविकसिताभ्यां भणितमक्षिभ्यां तेन जनमध्ये ।
प्रतिपन्नं तयाप्युद्गमत्स्वेदैरङ्गै ॥)

१७ वोलीणालक्खिअरूअजोव्वणा पुत्तिकं ण दुम्मेसि ।
दिट्ठा पणट्ठपोराणजणवआ जम्मभूमि व्व ॥
(व्यतिक्रान्तालक्षितरूपयौवना पुत्रि कं न दुनोषि ।
दृष्टा प्रणष्टपौराणजनपदा जन्मभूमिरिव ॥)

१८ सा तुज्झ वल्लहा तं सि मज्झ वेसो सि तीअ तुज्झ अहं ।
बालअ फुडं भणामो पेम्मं किर बहुविआरं त्ति ॥
(सा तव वल्लभा त्वमसि मम द्वेष्योसि तस्यास्तवाहम् ।
बालक स्फुटं भणाम प्रेम किल बहुविकारमिति ॥)

---

१७ प्रवरराजस्य । (गं. ३४०); विश्वसेनस्य (भु. २८९).
१८ प्रवरसेनस्य । (भु. १३५); उजयस्य । (वे. १२६).

द्वितीय खण्ड

वाकाटक नृपतियों, उनके माण्डलिकों व सचिवों के उत्कीर्ण लेख

वाकाटक नृपतियों के उत्कीर्ण लेख

नन्दिवर्धन शाखा

१. रुद्रसेन प्रथम का देवटेक शिलालेख

उपलब्धि—देवटेक नागपुर के दक्षिण-पूर्व में लगभग पचास मील की दूरी पर एक छोटा सा ग्राम है। वहां जीर्ण-शीर्ण अवस्था में एक मन्दिर है। उसके निकट उत्कीर्ण लेखों से युक्त एक बड़ी शिला पड़ी थी। अब वह नागपुर संग्रहालय में है। सन् १८७३-७४ में कनिंग्हैम का सहायक बेग्लर देवटेक गया था। उसने कनिंग्हैम की आर्किऑलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट (जि. ७, पृ. १२३-२५) में उक्त मन्दिर तथा शिला का वर्णन किया है। बेग्लर द्वारा पेंसिल से लिए गये छापे के आधार पर कनिंग्हैम ने उस शिला पर उत्कीर्ण दो लेखों की यथादृष्ट प्रति (eye-copy) तथा उनका वाचन कॉर्पस् इन्स्क्रिप्शनम् इंडिकॅरम् (भारतीय उत्कीर्ण लेख-संग्रह), प्रथम आवृत्ति, पृ. २८-२९ में प्रकाशित किया। यद्यपि ये उत्कीर्ण लेख महत्त्वपूर्ण हैं, तथापि प्रस्तुत लेखक द्वारा अखिल भारतीय प्राच्य विद्यापरिषद् के १९३५ के मैसूर अधिवेशन में उनके विषय में अपना लेख पढ़ने के पूर्व उनकी ओर किसी का भी ध्यान नहीं गया था। ये लेख छापेसहित उक्त अधिवेशन के प्रतिवेदन में प्रकाशित किये गये हैं।

प्रस्तुत लेखक अक्टूबर १९३५ मे देवटेक गया था। उस अवसर पर उसने इन लेखो के जो छापे तैयार किये उनके आधार पर कनिंग्हैम द्वारा प्रकाशित यथादृष्ट प्रति की अपेक्षा कुछ अधिक अक्षर पढ़ने में आए। इसके विपरीत बच्चों और चरवाहों द्वारा बैठने के लिए उस शिला का उपयोग किये जाने के कारण उसपर उत्कीर्ण प्रथम लेख की अन्तिम पंक्ति के कुछ अक्षर, जो कनिंग्हैम के समय में पढ़े जा सकते थे, अब शिला के पृष्ठभाग के एक अंश के छूट जाने के कारण नष्ट हो गये हैं। इस शिला का वर्णन बेग्लर ने निम्नलिखित शब्दों में किया है—बड़खाबड़ सैकत पत्थर की यह असमान्तर भुजाकृति (trapezium) शिला इमली के एक विशाल वृक्ष के नीचे गांव के रास्ते पर पड़ी है। विश्राम और बैठने के लिए उसका उपयोग किया जाता है। इस कारण उसका पृष्ठभाग चिकना हो गया है। इस शिला की लंबाई नौ फूट और चौड़ाई एक किनारे से साढ़ेतीन फूट और दूसरे किनारे से दो फूट दस इंच है। उसपर दो लेख उत्कीर्ण हैं।

शिला पर उत्कीर्ण दो लेख—ये दो लेख भिन्न काल के हैं। उनमें से प्रथम लेख लम्बाई की ओर से लिखा गया है और उसकी चार पंक्तियां हैं। उसने शिला की चौड़ाई की १ फूट १० इंच जगह घेर ली है और उसके नीचे १ फूट ६ इंच स्थान खाली है। इस लेख की लिपि ब्राह्मी है तथा अनेक अक्षर अशोक के गिरनार प्रस्तरलेख के सदृश हैं। भाषा भी गिरनार लेख के समान आद्य प्राकृत है। प्रतीत होता है कि कुल मिलाकर इस लेख की प्रथम तीन पंक्तियां दाहिने किनारे तक उत्कीर्ण की गई थीं, क्योंकि उसके कुछ अक्षर आज भी शिला के दायीं ओर के भाग में शनै. शनैः दृष्टिगत होते हैं। इन अक्षरों का बाद मे उत्कीर्ण लेख से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त प्राचीन लेख की प्रथम दो पंक्तियों के अक्षर पूर्ण हैं और पढ़ने में आते हैं, किन्तु उनका अर्थ पूर्ण रूप से समझ में नहीं आता। इससे भी यह स्पष्ट है कि उसका दायीं ओर का भाग नष्ट हो गया है। दूसरी बात यह कि लंबाई की ओर से लेख लिखना आरम्भकर लेखक उसे दायें बाजू के अन्त तक न ले जाकर बीच में ही क्यों रुक गया यह समझ में नहीं आता। अतः बेग्लर का यह कथन कि 'परवर्ती लेख इस रीति से उत्कीर्ण किया गया है कि प्राचीन लेख नष्ट न हो तथा उसके वाचन मे कठिनाई न हो' युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। इसके विपरीत यह स्पष्ट है कि प्रथम लेख के भाग को छीलकर उसके स्थान पर परवर्ती लेख उत्कीर्ण किया गया था।

प्रथम लेख—इस प्राचीन लेख का उद्देश्य सम्भवतः चिकम्बुरी में स्वामी (अधिपति) की इस आज्ञा की घोषणा करना था कि (अशोक के पंचम स्तम्भ-लेख के समान कुछ ऋतुओ में अथवा वर्ष भर) प्राणियो का बन्धन और हिंसा न की जाय तथा हिंसा अथवा बन्धन करने पर अमुक दण्ड दिया जायगा। स्वामी के नाम का उल्लेख इस लेख में नही है, किन्तु चौथी पंक्ति में उसे 'राजा' कहा गया है। तृतीय पंक्ति में अमात्यों का उल्लेख है। राजाज्ञा को कार्यरूप देने का उत्तरदायित्व सम्भवतः उनका था। अन्तिम पंक्ति में चौदहवें वर्ष का निर्देश है। यह शासन-वर्ष प्रतीत होता है। इस वर्ष में यह लेख शिलापर उत्कीर्ण किया गया होगा।

प्रतीत होता है कि इस लेख को अशोक के अभिषेक के पश्चात् चौदहवें वर्ष में उसके विदर्भ में स्थित महामात्र ने उत्कीर्ण करवाया था। अशोक के पंचम स्तम्भ लेख से ज्ञात होता है कि उसने अभिषेक के अनन्तर तेरहवें वर्ष में अर्थात् प्रस्तुत लेख लिखने के एक वर्ष पूर्व धर्ममहामात्रों की नियुक्ति की थी। अतः विदर्भ में धर्ममहा-मात्र ने सब प्रजाजनो को अपने प्रभु की आज्ञा से परिचित कराने के उद्देश्य से चिकम्बुरी में यह लेख उत्कीर्ण कराया होगा। देवटेक के समीप ही चिकमारा नामक ग्राम आज भी अस्तित्व में है। वही प्राचीन चिकम्बुरी है। प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अथवा यात्रा का स्थान रहा होगा।

अतः अशोक के धर्ममहामात्र को उस स्थान पर राजाज्ञा की घोषणा करने की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी।

द्वितीय लेख—इस शिला पर का दूसरा लेख उसके संकीर्ण छोर की तरफ़ के भाग पर चौड़ाई की ओर से उत्कीर्ण है। उसकी छह पंक्तियां हैं। प्राचीन लेख के समान इसका भी अधिकांश भाग अस्पष्ट हो गया है। प्रथम पांच पंक्तियों के अधिकांश अक्षर शिला का पृष्ठभाग घिस जाने के कारण नष्ट अथवा अस्पष्ट हो गये हैं। इसके अतिरिक्त इस लेख के मध्यभाग में पानी जाने के लिए एक पनाली खुदी हुई है। उसके कारण भी अनेक अक्षर नष्ट हो गये हैं।

अक्षरों की बनावट और भाषा—समुद्रगुप्त के एरण लेख के अक्षरों के सदृश यहांके अक्षर खिस्तोत्तर चतुर्थ शताब्दी की पेटिकाशीर्षक लिपि के हैं। पांचवीं पंक्ति में 'वंश' में तिकोना 'व', चौथी पंक्ति में त्रिभाग 'य' और पांचवीं पंक्ति में बिना गांठ का 'न' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भाषा संस्कृत है और सम्पूर्ण लेख गद्य में है।

उद्देश्य—इस लेख का उद्देश्य सम्भवतः रुद्रसेन द्वारा चिकम्बुरी में एक धर्मस्थान अथवा देवालय के निर्माण की घोषणा करना था। इस लेख के निकट ही एक छोटा-सा मन्दिर जीर्णावस्था में विद्यमान है। प्रतीत होता है कि उसके सामने पहले एक छोटा-सा मण्डप था। उसके अवशेष वहां गिरे पड़े हैं। यह देवालय बिल्कुल सादा है। उस पर नक्काशी का काम बिल्कुल भी दृष्टिगत नहीं होता। उसके दरवाजे की चौखट के दो भाग वहां पड़े हैं जिनसे ज्ञात होता है कि चौखट बेल-पत्तियो से अलंकृत थी। वर्तमान देवल का दरवाजा छोटा है। उसकी चौड़ाई ४ फूट ४ इंच और ऊंचाई लगभग ४ फूट है। चौखट के ऊपर की पट्टी पर द्विभुज गणपति की छोटी-सी मूर्ति है। मन्दिर का सिखर पिरामिड के आकार का है। इस प्रकार के देवालय पास के पानोरी, आर्मोरी इत्यादि ग्रामों में प्राप्त होते हैं। इस समय गणपति की एक मूर्ति देवालय में प्रतिष्ठित है, किन्तु वह बाद की प्रतीत होती है। यह मन्दिर सम्भवतः शिव का था। शंकर की पिंडी आस पास दिखाई नहीं देती, किन्तु वहां विद्यमान शालुका से अनुमान होता है कि वह बहुत बड़ी, सम्भवतः तेरह इंच व्यास की थी। इस प्रकार के शिवलिंग रामटेक के समीप मनसर में भी पाये जाते हैं। देवल के निकट नन्दी की एक भग्न मूर्ति है। इससे भी स्पष्ट है कि यह देवालय प्राचीन काल में शंकर का था। वर्तमान देवालय वाकाटक काल जितना प्राचीन नहीं है, किन्तु यह स्थान प्राचीन है, इसमें संशय नहीं। प्रतीत होता है वाकाटक कालीन देवालय के जीर्ण हो जाने परवर्ती काल में उसी स्थान पर यह छोटा सा मन्दिर खड़ा किया गया था।

काल-निर्णय—इस लेख में काल निर्देश नहीं है, किन्तु इसमें राजा रुद्रसेन का नाम आया है। चौथी पंक्ति में राजवंश का नाम उत्कीर्ण था, किन्तु अब वह नष्ट हो गया है। तथापि अक्षरों की बनावट के आधार पर कनिंग्हैम का मत था कि यह लेख वाकाटकवंशी रुद्रसेन प्रथम का है। तत्कालीन धारणा के अनुसार कनिंग्हैम ने यह प्रतिपादित किया कि रुद्रसेन कैलकिल यवनों में से एक था और वह सन् १७० के आस पास हुआ था। यह काल निस्सन्देह त्रुटिपूर्ण है। तथापि कनिंग्हैम की यह धारणा सत्य है कि इस लेख को वाकाटकवंशी रुद्रसेन प्रथम ने उत्कीर्ण कराया था। वाकाटकवंश में रुद्रसेन नाम के दो राजा हुए—(१) प्रथम प्रवरसेन का पौत्र और उत्तराधिकारी प्रथम रुद्रसेन, तथा (२) उसका पौत्र तथा गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय—विक्रमादित्य का जामाता रुद्रसेन द्वितीय। इनमें से पहिला स्वामि महाभैरव का भक्त अर्थात् शिवोपासक था और दूसरा अपनी पत्नी प्रभावतीगुप्ता के प्रभाव के कारण चक्रपाणि अर्थात् विष्णु का उपासक हो गया था। प्रस्तुत लेख में बहुधा शिवालय के निर्माण का उल्लेख था क्योंकि जैसा कि हम इसके पूर्व कह चुके हैं, इस लेख के निकट भगवान् शंकर का मन्दिर था। अत. यह लेख रुद्रसेन प्रथम का होना चाहिए। अक्षरों की बनावट से भी यही काल सिद्ध होता है।

लेख का महत्त्व—प्रमुख लेख वाकाटकवंश के सभी ज्ञात उत्कीर्ण लेखों में कालक्रम की दृष्टि से प्रथम है। इसी प्रकार वाकाटकों का एकमात्र यही शिलालेख है। उससे यह स्पष्ट है कि रुद्रसेन प्रथम नर्मदा के दक्षिण में विदर्भ में राज्य करता था। सम्भवतः ही यह रुद्रसेन और आर्यावर्त नृपति रुद्रदेव, जिसका समुद्रगुप्त ने समूल उच्छेद किया था, एक नहीं हो सकते।

अब केवल एक ही प्रश्न शेष रहता है। वह यह कि रुद्रसेन ने यह लेख शिला पर चौड़ाई की ओर से तथा सकड़े सिरे पर क्यों उत्कीर्ण कराया? इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन नहीं है। यह प्रसिद्ध है कि वाकाटकों के काल में वैदिक धर्म तथा संस्कृत विद्या का पुनरुज्जीवन हुआ। वाकाटकों ने स्वतः पशुयज्ञ किये। अतः उनके हृदय में अशोक द्वारा उपदिष्ट अहिंसा धर्म के प्रति आदर होना सम्भव न था। फलस्वरूप जब रुद्रसेन प्रथम ने अपने इष्ट देवता का मन्दिर बनवाया तथा उसकी घोषणा करने के लिए लेख उत्कीर्ण कराने का निश्चय किया तो वहां पड़ी हुई शिला पर उत्कीर्ण प्राचीन लेख को छील कर उसके स्थान पर अपना लेख उत्कीर्ण कराने में उसे तनिक भी संकोच नहीं हुआ। इस शिला का चौड़ा भाग जमीन में डालकर वह खड़ी की थी ऐसा प्रतीत होता है। वाकाटकों के लेख के संकड़े छोर पर आरम्भ होकर शिला के मध्यभाग तक पूर्ण हो जाने के कारण उसके नीचे भूमि में गये हुए अशोक कालीन लेख को छीलने की आवश्यकता नहीं पड़ी होगी। अतः उस प्राचीन लेख का कुछ भाग आज भी अवशिष्ट रह गया है।

स्थलनिश्चय—दोनों लेखों में चिकम्बुरि नामक एकमात्र स्थान का उल्लेख है जो देवटेक के पास का वर्तमान चिकमारा है। लगता है लगभग छह सौ वर्ष तक चिकम्बुरि नगर बहुत समृद्ध था क्योंकि अशोक के महामात्र की भांति वाकाटक नरेश रुद्रसेन प्रथम को भी वहां अपना लेख उत्कीर्ण कराना आवश्यक प्रतीत हुआ। प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में उसका विस्तार काफी अधिक था तथा उसमें वर्तमान देवटेक ग्राम का भी समावेश था।

वाचन

१ चिक्कम्बुरि ··· स ···

२ ··· [स]ज ···

३ प्रवरम ··· मस्यायं

४ ·····

५ ··· वंश[जा*]तस्येदं[1] रुद्र-

६ सेनरा[ज्ञः][2] [स्व*]धर्म्मस्थानं(नम्) [।*]

१. पढ़िए—'वाकाटकवंशजातस्येदं'।

२. पढ़िए—'रुद्रसेनराजस्य'।

२. प्रभावतीगुप्ता का पूना ताम्रपट

उपलब्धि—यह ताम्रपट पूना में बलवंत भाऊ नगरकर नामक एक कसेरे के घर में प्राप्त हुआ था। यह कसेरा मूलतः अहमद नगर का निवासी था और प्रस्तुत ताम्रपट कई पीढ़ियों से उसी के घर में था। तथापि यह ताम्रपट मूलतः वर्धा जिले की हिंगणघाट तहसील का होना चाहिए, क्योंकि, जैसा कि हम आगे देखेंगे, उसमें उल्लिखित अनेक ग्राम इस तहसील में आज भी दृष्टिगत होते हैं। सर्वप्रथम इस ताम्रपट का सारांश प्राध्यापक का. बा. पाठक ने इंडियन ॲंटिक्वरी, जि. ४१ (१९१३), पृ २१४-२१५ में प्रकाशित किया। उसके महत्त्वपूर्ण होने के कारण विद्वानों का ध्यान तत्काल उसकी ओर आकर्षित हुआ और विन्सेंट स्मिथ ने रॉयल एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका में[1] प्रकाशित 'मध्यप्रान्त-बरार का वाकाटक राजवंश' शीर्षक अपने लेख में उसका उपयोग किया। इसके अनन्तर प्रा. का. बा. पाठक तथा रावबहादुर काशीनाथ नारायण दीक्षित ने यह ताम्रपट एपिग्राफिया इंडिका, जि. १५, पृ. ४० इं० में अंगरेजी भाषान्तर और छापे के साथ प्रकाशित किया। उसी छापे के आधार पर उसका वाचन यहाँ दिया जा रहा है। ताम्रपट इस समय कहाँ है, यह ज्ञात नहीं है।

वर्णन—इस ताम्रपट के दो पत्र हैं जिनकी लंबाई ९$\frac{1}{2}$ इंच और चौड़ाई ५$\frac{3}{4}$ इंच है। वे पाव इंच मोटे और पौन इंच व्यास के एक कड़े में बंधे हुए हैं और उसके (कड़े के) सिरे डाग से जुड़े हुए हैं। यह कड़ा ताम्रपट के पत्रों में एक किनारे पर किये गये $\frac{1}{2}$ इंच व्यास के छिद्र में से होकर जाता है। उसमें एक अंडाकृति (Oval) मुद्रा जुड़ी हुई है। वह २$\frac{7}{8}$ इंच लम्बी और २$\frac{1}{2}$ इंच चौड़ी है। मुद्रा पर चार पंक्तियों का एक उत्कीर्ण लेख है जिसके ऊपर चन्द्र-सूर्य की आकृति और नीचे पुष्पाकृति अंकित है। ताम्रपट के पत्रों और कड़े का वजन ९७ तोला है।

प्रस्तुत लेख पत्रों की भीतरी बाजू में उत्कीर्ण है। प्रथम पत्र पर दस और दूसरे पत्र पर बारह पंक्तियाँ हैं। प्रथम पत्र के अक्षर दूसरे पत्र के अक्षरों की अपेक्षा कुछ बड़े हैं। यह लेख अच्छी स्थिति में हैं।

अक्षरों की बनावट—इस लेख की लिपि कीलशीर्षक (Nail-headed) प्रकार की है। बहुतेक अक्षरों के सिर पर उलटा त्रिकोण कोरा हुआ है। कुछ

१. १९१४, पृ. ३१७ इत्यादि।

अक्षर वाकाटकों के अन्य लेखों की भांति पेटिकाशीर्षक प्रकार के हैं। उदाहरणार्थ मुद्रा पर प्रथम पंक्ति में 'वाकाटक' शब्द तथा प्रथम पत्र की प्रथम पंक्ति के आरम्भ में 'सिद्धम्' का 'सि' अक्षर द्रष्टव्य हैं। इन अक्षरों के सिर पर केवल पेटिका ही उत्कीर्ण नहीं है, अपितु उनमें से कुछ-एक की आकृति भी इस लेख में अन्यत्र दृष्टिगत अक्षरों के समान न होकर पेटिकाशीर्षक लिपि के समान है। उदाहरणार्थ 'व' और 'स' अक्षर द्रष्टव्य हैं। इससे प्रतीत होता है कि इस ताम्रपट के लेखक ने प्रस्तुत लेख पेटिकाशीर्षक लिपि में लिखना आरम्भ किया था, किन्तु इस लिपि का उचित अभ्यास न होने के कारण उसने शीघ्र ही इसे छोड़कर अधिक परिचित कीलशीर्षक लिपि में मुद्रा और पत्रों के लेख का अवशिष्ट भाग लिखा। यह लेखक बहुधा उत्तर भारत का निवासी था क्योंकि वहां यह कीलशीर्षक लिपि उस काल में प्रचलित थी।

प्रस्तुत लेख में उत्तरी और दक्षिणी शैली के अक्षरो का मिश्रण है। उनमें भी उत्तरी शैली के अक्षर अधिक संख्या में हैं। उदाहणार्थ 'ग', और 'स' इन अक्षरो के बायीं ओर के भाग में गांठ है। 'ण' के ऊपर की आड़ी रेखा के तथा बीच को खड़ी रेखा के दो भाग हो गये हैं। 'श' और 'ण' अक्षरों में गांठ है, कि 'त' और 'म' मे नहीं। 'ल' का दाहिनी ओर का दण्ड छोटा हो गया है और 'ह' का निचला भाग एकदम बायीं ओर घूम गया है। दक्षिणी शैली के अक्षरों में निम्ननिर्दिष्ट विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—'अ', 'क' और 'र' के खड़े दण्ड का निचला भार बायीं ओर मुड़ा हुआ है। 'ड' का पृष्ठभाग वर्तुल है। व्यंजनयुक्त ऋकार बहुधा बायीं ओर मुड़ी हुई वक्र रेखा के द्वारा व्यक्त किया गया है। जिह्वा-मूलीय का चिह्न बारहवी और पंदरहवीं पंक्तियों में और उपध्मानीय का चिह्न सोलहवीं पंक्तियो में आया है।

भाषा—मुद्रा और पत्रो पर उत्कीर्ण लेख संस्कृत भाषा में हैं। मुद्रा का लेख पद्यबद्ध है, किन्तु पत्रो का लेख अन्त के शापाशीर्वादात्मक श्लोकों को छोड़कर गद्य में है। लेखन की अधोनिर्दिष्ट विशेषताएं उल्लेखनीय हैं—नन्दिवर्द्धनात् (पंक्ति १) जैसे स्थलों में रेफ के अनन्तर आनेवाले व्यंजन का द्वित्व किया गया है। द्रिष्टम् (पं० २-३) शब्द में 'ऋ' के स्थान पर 'रि' का उपयोग किया गया है।

विषय—प्रस्तुत लेख 'दृष्टम्' शब्द से आरम्भ हुआ है, जिससे प्रतीत होता है कि यह दानपत्र पूर्ण होने के पश्चात् सचिवालय में अंकित किया गया था। यह ताम्रपट 'युवराजजननी' प्रभावतीगुप्ता ने नन्दिवर्धन से दिया था। प्रभावतीगुप्ता वाकाटक (द्वितीय) रुद्रसेन की अग्रमहिषी (पटरानी) तथा युवराज दिवाकरसेन की जननी थी। प्रस्तुत लेख में उपलब्ध वर्णन से ज्ञात होता है, कि वह अपने

अल्पवयस्क पुत्र की ओर से राज्यकार्य की देख-रेख कर रही थी। इस ताम्रपट में प्रभावतीगुप्ता द्वारा कार्तिक शुक्ल द्वादशी के दिन भगवद्भक्त आचार्य चनालस्वामी को दक्षुण नामक ग्राम के दान में दिये जाने का उल्लेख है। प्रतीत होता है राजमाता ने एकादशी के दिन उपवास कर द्वादशी के दिन पारणा के अवसर पर यह दान किया था। प्रभावतीगुप्ता अत्यन्त भगवद्भक्त थी। लेख में कहा गया है कि उसने यह दान प्रथम भगवान् के पादमूल अर्थात् पादुकाओं को अर्पित कर बाद में उपरिनिर्दिष्ट आचार्य को दिया। इन पादमूलों का आशय रामगिरि पर स्थित भगवान् रामचन्द्र की पादुकाओं से होना चाहिए, क्योंकि राजमाता ने अपना दूसरा ताम्रपट इसी स्थान से दिया था। दान में दिया गया दक्षुण ग्राम सुप्रतिष्ठ नामक आहार में विलवणक के पूर्व में, शीर्षग्राम के दक्षिण में तथा कदापिञ्जन के उत्तर में था। इस ताम्रपट का काल तेरहवां वर्ष दिया गया है। यह वर्ष युवराज दिवाकरसेन के शासन का होना चाहिए। ताम्रपट का लेखक चक्रदास था।

चर्चा—प्रस्तुत लेख में प्रभावतीगुप्ता ने अपना वर्णन वाकाटक महाराज (द्वितीय) रुद्रसेन की पत्नी कहकर किया है, किन्तु उसके प्रास्ताविक भाग में उसने वाकाटकों की नहीं, अपने माहेर की गुप्तवंश की वंशावली दी है। यही बात उसके ऋद्धपुर ताम्रपट के विषय में भी लागू होती है। उसे गुप्तवंश में अपने जन्म होने का विशेष अभिमान था, इसमें संशय नहीं।

इस ताम्रपट की वंशावली गुप्तों के आदिराज घटोत्कच से आरम्भ होती है। इसके पश्चात् दिये गये राजाओं के नाम इस प्रकार हैं—उसका पुत्र महाराज चन्द्रगुप्त (प्रथम); कुमारदेवी से उत्पन्न उसका पुत्र, लिच्छविदौहित्र, अनेक अश्वमेध यज्ञ करने वाला, महाराजाधिराज समुद्रगुप्त; उसका पुत्र परमभागवत (भगवान् विष्णु का एकनिष्ठ उपासक) महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त (द्वितीय); नागकुलोत्पन्न महादेवी कुबेरनागा से उत्पन्न उसकी पुत्री प्रभावतीगुप्ता। इसके बाद के वर्णन से ज्ञात होता है कि प्रभावतीगुप्ता धारणगोत्र की, वाकाटक महाराज (द्वितीय) रुद्रसेन की अग्रमहिषी तथा युवराज दिवाकरसेन की जननी थी।

प्रस्तुत ताम्रपट में प्राप्त गुप्त नृपतियों का वर्णन स्वयम् गुप्तों के उत्कीर्ण लेखों के वर्णन के साथ पूरी तरह मेल नहीं खाता। इसमें गुप्त वंश के संस्थापक महाराज गुप्त का उल्लेख नहीं है। दूसरा भेद यह है कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने 'महाराजाधिराज' उपाधि धारण की थी, जैसा कि हमें गुप्त लेखों से ज्ञात होता है। किन्तु प्रस्तुत ताम्रपट में उसके लिए 'महाराज' का, जो एक निम्न उपाधि है, प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त 'पृथिवी पर अप्रतिम', 'सब राजाओं का उच्छेद करने वाला', 'जिसके यश ने चारों समुद्रों के जल का आस्वादन किया है,' करोड़ों गाय और सुवर्ण (हिरण्य) सिक्के दान में देने वाला,' ये गुप्त लेखों में सामान्यतः केवल समुद्र-

गुप्त के लिए प्रयुक्त विशेषणों का उपयोग चन्द्रगुप्त द्वितीय के वर्णन में किया गया है। प्रस्तुत वंशावली वर्णन में इन अशुद्धियो के होते हुए भी यह ताम्रपट निस्सन्देह प्रामाणिक है, जाली नहीं, क्योंकि यही वर्णन प्रभावतीगुप्ता के ऋद्धपुर ताम्रपट में भी प्राप्त होता है।

कालनिश्चय—प्रस्तुत ताम्रपट की सहायता से वाकाटकों का काल निश्चित किया जा सका। इस कारण उसका विशेष महत्त्व है। इस ताम्रपट की उपलब्धि के पूर्व प्राप्त प्रवरसेन द्वितीय के सब ताम्रपटों में प्रभावतीगुप्ता का वर्णन 'महाराजाधिराज देवगुप्त की कन्या' कह कर किया गया है। इस देवगुप्त और देववारुणार्क स्तम्भलेख में उल्लिखित उत्तरकालीन गुप्त नृपति महाराजाधिराज देवगुप्त को एक ही मानकर फ्लीट ने यह प्रतिपादित किया था कि वाकाटक नृपति आठवीं शताब्दी में हुए। कीलहॉर्न और सुकथनकरने भी यह मत स्वीकार किया था। प्रस्तुत ताम्रपट में प्रभावतीगुप्ता चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री थी इस स्पष्ट कथन से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया है कि वह ईसा की चतुर्थ शदी के अन्त में हुई। तदनन्तर सांची शिला लेख से यह भी ज्ञात हुआ कि देवगुप्त चन्द्रगुप्त का मनपसंद नाम अथवा उपनाम था। इसी कारण वाकाटक ताम्रपटो में उसका उल्लेख इस नाम से किया गया है।

स्थलनिश्चय—प्रस्तुत ताम्रपट उल्लिखित स्थल नामों में से नन्दिवर्धन की पहचान रा. ब. हीरालाल ने रामटेक के निकटवर्ती नंदरधन अथवा नगरधन से की थी। तदनन्तर उपलब्ध अनेक प्रमाणो से इस मत की सत्यता प्रमाणित हो चुकी है। किन्तु अन्य ग्रामो की पहचान नही की जा सकी थी। सन् १९४० में जांब ताम्रपट प्राप्त होने पर मुझे उसमें भी सुप्रतिष्ठाहार का उल्लेख मिला। इससे मुझे प्रस्तुत ताम्रपट में उल्लिखित ग्रामो का पता लग सका। ये गाव वर्धा जिले में स्थित हिंगणघाट के निकट हैं। विलवण हिंगणघाट के पश्चिम में लगभग ढाई मील पर वणी तथा कदापिञ्जन आग्नेय दिशा मे लगभग तीन मील की दूरी पर स्थित कदाजन होना चाहिए। अतः प्रतीत होता है कि प्राचीन दक्षुण ग्राम के स्थान पर ही वर्तमान हिंगणघाट है। कालान्तर से दक्षुण का हिंगण रूपान्तर हुआ तथा उस स्थान पर वन्ना नदी का उतार होने के कारण 'हिंगण' नाम के साथ 'घाट' शब्द जोड़ दिया होगा। उसके समीपवर्ती कुछ अन्य ग्रामो के नाम भी 'घाट' शब्दान्त हैं। जांब ताम्रपट में सुप्रतिष्ठाहार के अन्तर्गत समाविष्ट ग्राम भी वर्तमान हिंगणघाट तहसील में प्राप्त होते हैं। इससे अनुमान होता है कि प्राचीन सुप्रतिष्ठाहार में सामान्यतः हिंगणघाट तहसील का प्रदेश अन्तर्भूत होता था। पूना जैसे सुदूर स्थान पर प्राप्त होने पर भी प्रस्तुत ताम्रपट मूलतः हिंगणघाट तहसील का था, यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा।

वाचन[1]

पंक्ति

पहिला पत्र

१ द्रिष्टम्[2] [।*] सिद्धम् [।*] जितम्भगवता [।*] स्वस्ति [।*] नान्दिवर्द्धना[3]दासीद्गुप्तादि[राजो] म[हाराज]-

२ श्रीघटोत्कचस्तस्य सत्पुत्रो महाराजश्रीचन्द्रगुप्तस्तस्य सत्पुत्रो-

३ नेकाश्वमेधयाजी लिच्छविदो(दौ)हित्रो महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नो

४ महाराजाधिराजश्रीसमुद्रगुप्तस्तत्प(त्स)त्पुत्रस्तत्पादपरिगृहीतः

५ पृथिव्यामप्रतिरथस्सर्व्वराजोच्छे(च्छे)त्ता चतुरुदधिसलिलास्वादित-

६ यशा ने[4]कगोहिरण्यकोटिसहस्रप्रद-परमभागवतो महारा-

७ जाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तस्तस्य दुहिता धारणसगोत्रा नागकुलसम्भू-

८ ताया(यां) श्रीमहादेव्यां कुबेरनागायामुत्पन्नो भयकुलालङ्कारभूतात्यन्त-भगवद्भक्ता

९ वाकाटकानां महाराजश्रीरुद्रसेनस्याग्रमहिषी युवराज-

१० [श्री]दिवाकरसेनजननी श्रीप्रभावति(ती)गुप्ता सुप्रतिष्ठाहारे

द्वितीय पत्र

११ विलवणकस्य पूर्व्वपार्श्वे शीर्षग्रामस्य दक्षिणपार्श्वे कदापिञ्जनस्या-परपा[र्श्वे]

१२ सिदिविवरकस्योत्तरपार्श्वे दङ्गुणग्रामे ब्राह्मणाद्यान्ग्रामकुटुम्बिन[x]कुशल-

१३ मुक्त्वा समाज्ञापयति [।*] विदितमस्तु वो यथायं ग्रामोस्माभिः स्वपुण्याप्यायना[र्थं]

१४ कार्त्तिकशुक्लद्वादश्या(श्यां) भगवत्पादमूले निवेद्य भगवद्भक्ताचार्य-चनालस्वामिनेपूर्व्व-

१. एपिग्राफिया इंडिका, जि. १५, पृ ४२ के सामने दिये गये छापे से।

२. पढ़िये 'दृष्टम्'। यह शब्द दूसरी व तीसरी पंक्ति के हाशिये में कोरा गया है।

३. पढ़िये 'नन्दिवर्द्धनात्'। तुलनीय-क्रमांक ३, पं. १।

४. पढ़िये 'अनेक'।

१५ दत्त्या उदकपूर्व्वमतिसृष्टो[1] यतो भवद्भिरुचितमर्य्यादया सर्व्वाज्ञा-
xकर्तव्या[:*] पूर्व्व-

१६ [राज्ञा[2]]नुमतांश्चात्र चातुर्विद्यामहारपरिहारान्वितरामस्तद्यथाभटछत्र[3]-
प्रावेश्यः

१७ अचारासनचर्म्माङ्गारकिण्व[4]क्रेणिखनकः अपा[र*]म्पर[:*] अखनि[5]-
मेध्यः अपुष्पक्षीरस[न्दोहः]

१८ सनिधिस्सोपनिधिस्सकृप्तोपकृप्तः[6] [।*] न(त)देष भविष्यद्राजभिस्सं-
रक्षितव्य[:*] परिवर्द्ध-

१९ यितव्यश्च [।*] यश्चास्मच्छासनमगणयमानस्स्वल्पामप्यत्राबाधा(धां)
कुर्य्यात्कारयीत वा[7]

२० तस्य ब्राह्मणे(णै)रावेदितस्य सदण्डनिग्रहं कुर्य्याम [।*] व्यासगि(गी)-
तश्चात्र श्लोको भवति [।*]

२१ स्वदत्ताम्परदत्ता(त्तां) वा यो हरेत वसुन्धरां(राम्) [।*] गवा(वां)
शतसहस्रस्य हन्तुर्हरति दुष्कृतम्[8] [।*]

२२ संवत्सरे च त्रयोदशमे[9] लिखितमिद(दं) शासनम(म्) [।*]
चक्रदासेनोत्कट्टितम् [।*]

मुद्रा

१ वाकाटकललामस्य

२ [क्र]मप्राप्तनृपश्रिय[:।*]

३ जनन्या युवराजस्य

४ शासनं रिपुशास[न][म्[10]।।*]

१. पढ़िये 'मतिसृष्टः' ।
२. पढ़िये 'राजा-' ।
३. पढ़िये '-च्छात्र-' ।
४. पढ़िये 'क्लिन्न' ।
५. पूर्ववर्ती सम्पादकों ने इस शब्द को 'अपशु-' पढ़ा था, किन्तु छापे से ऊपर दिया गया वाचन ही समीचीन प्रतीत होता है ।
६. पढ़िये 'सक्लृप्तोपक्लृप्तः' ।
७. पढ़िये 'कारयेद्वा' ।
८. वृत्त-अनुष्टुभ् ।
९. पढ़िये 'त्रयोदशे' ।
१०. वृत्त-अनुष्टुभ् ।

३. प्रवरसेन द्वितीय का जांब ताम्रपट

उपलब्धि—यह ताम्रपट वर्धा जिले की हिंगणघाट तहसील में हिंगणघाट के उत्तरपूर्व में लगभग ७ मील पर स्थित जांब गांव के चौधरी श्री. बाबूराव माधवराव अठोले के घर में सन् १९४० में प्राप्त हुआ। मैंने उसे एपिग्राफिया इंडिका, जि. २६, पृ० १५५ इ. में छापे सहित प्रकाशित किया। उसी छापे से उसका संपादन यहां किया जा रहा है।

वर्णन—इस ताम्रपट के चार पत्र हैं, जिसमें से प्रत्येक ८ इंच लम्बा और ४·११ इंच चौड़ा है। प्रथम तथा चतुर्थ पत्र पर एक ओर और शेष दो पत्रों पर दोनों ओर लेख उत्कीर्ण है। यह ताम्रपट जब मेरी दृष्टि में पड़ा तो उसके पत्र एक कड़ी से बंधे थे, किन्तु उसमें जुड़ी हुई मुद्रा उपलब्ध नही हुई। सब पत्र अच्छी स्थिति में हैं। इस कारण वाचन के विषय मे सन्देह के लिए अवकाश नहीं है। सब पत्रों का वजन १८५ तौला तथा कड़ी का वजन १६ तौला है।

अक्षरों की बनावट—सम्पूर्ण लेख ३६ पंक्तियो का है। प्रथम तथा चतुर्थ पत्र के एक ओर और अन्य दो पत्रों के दोनो ओर छह-छह पंक्तियां उत्कीर्ण हैं। लिपि पेटिकाशीर्षक प्रकार की है। उसकी निम्ननिर्दिष्ट विशेषताएं उल्लेखनीय हैं—'ज' के सिर पर पेटिका नहीं है, कही-कहीं वह उसके पीछे कोरी गई है। उदाहरणार्थ, 'महाराज' (पं० ७, ८) शब्द द्रष्टव्य है। उपध्मानीय का चिह्न पंक्ति १३, १५ और ३३ में दृष्टिगत होता है। इन सभी उदाहरणो में उसके सिर पर पेटिका कोरी हुई है। अन्त्य 'म्' आकार में छोटा है तथा 'सिद्धम्' (पं० १) शब्द में उसके सिर पर पेटिका दिखाई देती है। व्यञ्जनयुक्त औकार सर्वत्र द्विभागयुक्त है। 'ख' के नीचे गांठ नही है। 'ड' और 'द' कुछ स्थलों पर भिन्न भिन्न चिह्नों द्वारा व्यक्त किये गये हैं; किन्तु 'मण्डुकि' (पं० १८) तथा 'कौण्डिन्य' (पं० २९) शब्दो में 'द' का चिह्न ही 'ड' के लिए प्रयुक्त है। संयुक्त व्यंजनों में नीचे कोरा हुआ 'त' कहीं-कही ग्रन्थियुक्त दिखाई पड़ता है। विरामचिह्न के लिये एक अथवा दो बिन्दुओं का उपयोग किया गया है, किन्तु अनेक स्थलों पर वे निरर्थक हैं।

भाषा—लेख संस्कृत भाषा में है। ३४-३५ वीं पंक्तियो में शापाशीर्वादात्मक श्लोको के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण भाग गद्य में है। लेखन की विशेषताएं इस प्रकार हैं—रेफ के पूर्व व पश्चात् आनेवाले व्यञ्जन का द्वित्व किया गया है।

पंक्ति ६ में 'ध्य' के 'ध्' का द्वित्व हो गया है। पंक्ति १३, १५ और १३ में 'प्' के पूर्ववर्ती विसर्ग के स्थान पर उपध्मानीय का प्रयोग किया गया है।

विषय - प्रस्तुत लेख का आरम्भ 'दृष्टम्' शब्द से होता है। इसके अनन्तर वाकाटक महाराज सम्राट् प्रवरसेन प्रथम से लेकर इस ताम्रपट को देनेवाले वाकाटक नृपति प्रवरसेन द्वितीय तक की वंशावली दी गई है। प्रथम प्रवरसेन विष्णुवृद्ध गोत्र का था। उसने अग्निष्टोम, आप्तोर्याम, उक्थ्य, षोडशिन्, अतिरात्र, वाजपेय, बृहस्पतिसव, साद्यस्क्र तथा चार अश्वमेधों का अनुष्ठान किया था। उसके पश्चात् उसका पौत्र तथा भारशिव महाराज भवनाग की कन्या से उत्पन्न गौतमीपुत्र का पुत्र रुद्रसेन प्रथम सिंहासन पर बैठा। भारशिवों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि अपने कंधे पर शिवलिङ्ग धारण करने से सन्तुष्ट होकर भगवान् शिव ने भारशिव राजवंश उत्पन्न किया। भारशिवों ने अपने सामर्थ्य से प्राप्त करके लाये हुए भागीरथीजल से अपना मूर्धाभिषेक कराया था तथा दस अश्वमेध यज्ञ किये थे। महाराज रुद्रसेन प्रथम स्वामि महाभैरव का परम भक्त था। तदनन्तर उसका पुत्र वाकाटक महाराज परममाहेश्वर (भगवान् शिव का परम भक्त) पृथिवीषेण प्रथम सिंहासन पर आसीन हुआ। उसमें सत्यवादिता, ऋजुता, कारुण्य, शौर्य, विक्रम, नीतिनैपुण्य, विनय, माहात्म्य, योग्य जनो के प्रति आदर, धर्मविजयित्व, मनोनैर्मल्य इत्यादि गुण थे; उसके पास सौ वर्षों से चला आता हुआ कोष और सैन्य था; उसे अपने राज्यकाल में पुत्र-पौत्र देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, इत्यादि सूचना पृथिवीषेण प्रथम के सम्बन्ध में दी गई है। इसके पश्चात् उसका पुत्र वाकाटक महाराज रुद्रसेन द्वितीय गद्दी पर बैठा। उसने अपना ऐश्वर्य भगवान् चक्रपाणि अर्थात् विष्णु के प्रसाद से प्राप्त किया था। उसके अनन्तर महाराजाधिराज देवगुप्त की कन्या प्रभावतीगुप्ता से उत्पन्न उसका पुत्र वाकाटक महाराज प्रवरसेन द्वितीय राज्य करने लगा। वह परममाहेश्वर था तथा उसने भगवान् शिव की कृपा से अपने राज्य में कृतयुग स्थापित किया था। जैसा कि हम इसके पूर्व देख आये हैं, प्रस्तुत ताम्रपट में उल्लिखित प्रवरसेन द्वितीय का मातामह देवगुप्त सुप्रसिद्ध गुप्त सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य से अभिन्न है।

उद्देश्य—प्रस्तुत ताम्रपट का उद्देश्य प्रवरसेन द्वितीय द्वारा सुप्रतिष्ठ आहार में स्थित कोथुरक ग्राम के दान का उल्लेख करना है। यह ग्राम उमा नदी के पश्चिम में, चिञ्चापल्ली के उत्तर में, बोन्थिकवाटक के पूर्व में तथा मण्डुकिग्राम के दक्षिण में था। यह दान तैत्तिरीय शाखा के कौण्डिन्य गोत्री कालुट्टक नामक गणयाजी ब्राह्मण को दान दिया गया था। लेख में कहा गया है कि प्रवरसेन द्वितीय ने प्रस्तुत ताम्रपट अपने शासन के दूसरे वर्ष में आश्विन शुक्ल द्वादशी के दिन नन्दिवर्धन में विजयी धर्मस्थान पर दिया था तथा उसका लेखक नागवर्मा था।

चर्चा—दान प्राप्त करने वाले ब्राह्मण के लिए 'गणयाजी' विशेषण प्रयुक्त है। इससे अनुमान होता है कि यह दान एक गणयाग के अनुष्ठान के अवसर पर दिया गया था तथा वह याग कालुट्टक नामक ब्राह्मण ने किया था। मनुस्मृति, अध्याय ३, श्लोक १६४ में गणयाग कराने वाले ब्राह्मण को श्राद्ध के लिए निमन्त्रित करने का निषेध है। इस श्लोक के 'गणानां चैव याजकः' इस शब्दप्रयोग का अर्थ टीकाकारों ने भिन्न भिन्न प्रकार से किया है। किन्तु डॉ. बुल्हर का यह मत तर्क-संगत प्रतीत होता है कि यह गणयाग तथा बौधायन धर्मसूत्र में वर्णित गणहोम एक ही हैं। बौधायन धर्मसूत्र में कहा गया है कि गणहोम प्रत्येक व्यक्ति को स्वतः करना चाहिए। एकाध ब्राह्मण अपने माता, पिता अथवा गुरु के लिए उक्त होम कर सकता है, किन्तु अन्य किसी के लिए नहीं करना चाहिए। लोभ के वशीभूत होकर दूसरों के लिए गणहोम करने पर वह पापी होकर विष भक्षण करने वाले मनुष्य के समान नष्ट हो जाता है। बौधायन ने आगे यह भी कहा है कि किसी को अपने पाप की निष्कृति करानी हो तो अन्य किसी व्यक्ति द्वारा गणहोम कराने में कोई हानि नहीं। उसे स्वयम् कष्ट सहन करना अनिवार्य नहीं है। बौधायन धर्मसूत्र के टीकाकार गोविन्द स्वामी ने इससे यह अर्थ निकाला है कि एकाध समृद्धिशाली व्यक्ति ब्राह्मण को धन देकर उसके हाथों से गणहोम करा कर पापमुक्त हो सकता है, किन्तु उस ब्राह्मण को वह पाप लगता है। सम्भवतः इसी कारण मनु ने लोभ के वशीभूत होकर दूसरों के लिए गणयाग कराने वाले ब्राह्मण को श्राद्ध में बुलाने का निषेध किया है। स्वभावतः ही ऐसे याग कराने के लिए कठिनाई से कहीं एकाध ब्राह्मण तैयार होता होगा और ऐसे ब्राह्मण को दक्षिणा भी अच्छी मिलती होगी। यही बात मृत मनुष्य के प्रथम सांवत्सरिक श्राद्ध तथा ग्रहण के अवसर पर दिये जाने वाले दान के विषय में भी लागू होती है। प्रस्तुत ताम्रपट प्राप्त करने वाले ब्राह्मण कालुट्टकने सम्भवतः प्रवरसेन द्वितीय के लिये इस प्रकार का गणयाग किया था। जिस की दक्षिणा के रूप में उसे इस लेख में उल्लिखित ग्राम दिया गया होगा।

स्थलनिश्चय—जैसा कि हम इस के पूर्व देख चुके हैं, प्रस्तुत ताम्रपट में उल्लिखित स्थलनामो में से नन्दिवर्धन नागपुर जिले में स्थित वर्तमान नंदरधन अथवा नगरधन है। दान मे दिया गया कोथुरक ग्राम आजकल अस्तित्व में नहीं है। उसके स्थान पर जांब के उत्तर पश्चिम में लगभग ढाई मील की दूरी पर वन्ना नदी के तट पर बसा हुआ मनगांव नामक ग्राम दृष्टिगत होता है। कारण उसकी सीमा के प्रस्तुत ताम्रपट में उल्लिखित सब गांव मनगांव के आस पास उस उस दिशा में प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ, चिंचापल्ली मनगांव के दक्षिण में डेढ़ मील पर स्थित वन्ना नदी के दक्षिणी तट का चिचोली गांव होना चाहिए। बोथिकवाटक मनगांव के उत्तरपूर्व में बसा हुआ वर्तमान बोथड, तथा मंडुकिग्राम मनगांव के

उत्तर में दो मील पर स्थित मांडगांव होना चाहिए। वर्धा जिला गजेटियर में दी गई एक जनश्रुति के अनुसार मांडगांव वन्ना नदी के तट तपस्या करने वाले माण्डव ऋषि ने बसाया था। किन्तु प्रस्तुत ताम्रपट से प्रतीत होता है कि इस गांव का प्राचीन नाम मण्डुकिग्राम था। तीन सीमाओं के तीन ग्राम निश्चित हो जाने पर यह सहज ही सिद्ध हो जाता है कि दान में दिये गये ग्राम की पूर्व-सीमा के रूप में उल्लिखित उमानदी वर्तमान वन्ना है। यह हम पहले ही देख चुके हैं कि जिस सुप्रतिष्ठ आहार में ये गांव थे वह वर्तमान हिंगणघाट तहसील है।

वाचन[1]

पंक्ति

प्रथम पत्र

१ द्रि(ट्)ष्टम् [।*] सिद्धम् [।*] स्वस्त(स्ति) नन्दिवर्द्धनात् [।*] अग्निष्टोमाप्तोर्य्यामोक्थ्यषोडश्यतिरात्र-

२ वाजपेयबृहस्य(स्प)तिसवसाद्यस्क्रचतुरश्वमेधयाजिनः[2] विष्णुवृद्ध-

३ सगोत्रस्य सम्राट्[3] वाकाटकानाम्महाराजश्रीप्रवरसेनस्य सूनो सूनो[4]

४ अत्यन्तस्वामिमहाभैरवभक्तस्य ॥[5] असं[6]भारसन्निवेशितशिवलिङ्गो-

५ [द्भ]हनशिवसुपरितुष्टसमुत्पादितराजवंशानाम् पराक्रमाधिगतभागीर-

६ रत्थ्यमलजलमूर्द्धाभिषिक्तानां दशाश्वमेधावभृथस्नाताना(नां) भारशिवानां

द्वितीय पत्र : पहली बाजू

७ महाराजश्रीभवनागदौहित्रस्य गौतमि(मी)पुत्रस्य ।[7] वाकाट-

८ कानाम्महाराजश्रीरुद्रसेनस्य सूनोः अत्यन्तमाहेश्वरस्य ॥[7]

१. एपिग्राफिया इंडिया, जि. २६, पृ. १६० के सामने दिये गये छापे के आधार पर।

२. यहां और आगे भी कई स्थानों पर सन्धि नहीं की गई है।

३. पढ़िये 'सम्राजो'।

४. पढ़िये 'सूनोः सूनोः'।

५. यह विरामचिह्न निरर्थक है।

६. पढ़िये 'अंस-'।

७. यह विरामचिह्न निरर्थक है।

९ सत्यार्ज्जवकारुण्यशौर्य्यविक्रमनयविनयमाहात्म्यधीमत्व(त्त्व)-
१० पात्रगतभ[क्ति]त्वधर्म्मविजयित्वमनोनैर्म्मल्यादिगुणैस्समु-
११ पेतस्य ॥[1] व[र्ष]शतमभिवर्द्धमानकोशदण्डसाधनसन्तान-
१२ पुत्रपौत्रिण[:] युधिष्ठिरवृत्तेर्व्वाकाटकानाम्महाराजश्रीपृथिवी-

द्वितीय पत्र : दूसरी बाजू

१३ सेनस्य[2] सूनोर्भगवतश्चक्रपाणेरप्रसादा (दो)पार्जितश्रीसमुदयस्य
१४ महाराजश्रि(श्री)रुद्रसेनस्य सूनोः महाराजाधिराजश्रीदेवगुप्त-
१५ सुताय(यां) प्रभावतीगुप्ताय(या)मुत्पन्नस्य ॥[3] शम्भोरप्रसादधृति-
(त)कार्त्त-
१६ युगस्य ।[3] वाकाटकानाम्परममाहेश्वरमहारा[ज*]श्रीप्रवरसेन-
१७ स्य वचना [त्*] सुप्रतिष्ठाह(हा)रे । उमानद्या अपरपार्श्वे ।[3] चिंचापल्या[4]
१८ उत्तरे पार्श्वे ।[3] बोन्थिकवाटकस्य ।[3] पूर्वे पार्श्वे ।[3] मण्डुकिग्रामस्य

तृतीय पत्र . पहली बाजू

१९ दक्षिणे पार्श्वे ।[3] कोथुरकन्नाम ग्रामः कौण्डिन्यसगोत्र ।[3] तैत्तिरि-
कगणयाजि-
२० कालुट्टकब्रह्मचारिणे[5] दत्ताः(त्तः) ॥*] यतोस्मत्सन्तकाः सर्व्वाध्यक्ष-
नियोगनियुक्ता
२१ आज्ञासंचारिकुलपुत्राधिकृता भट्टा[6]श्छात्राश्च विश्रुतपूर्व्वयाज्ञाज्ञापयि-
२२ तव्या[7] विदितमस्तु वः यथेहास्माभिरात्मनो धर्म्मायुर्ब्बलविजयैश्वर्य्यवि-
२३ वृद्धये इहामुत्रहितार्थमात्मानुग्रहाय वैजयिके धर्म्म(र्म्मे)स्थाने अपूर्व्वद-

१. यह विरामचिह्न निरर्थक है ।
२. पढ़िये 'श्रीपृथिवीषेणस्य ।
३. यह विरामचिह्न निरर्थक है ।
४. पढ़िये 'चिंचापल्ल्या' ।
५. पढ़िये 'तैत्तिरीयसब्रह्मचारिणे गणयाजिकालुट्टकाय' ।
६. अन्य ताम्रपटो की भाति पढिये 'भटा—' ।
७. पढ़िये 'विश्रुतपूर्व्वयाज्ञयाज्ञापयितव्याः' ।

२४ त्या (त्या) उदकपूर्व्वमतिसृष्टः [।*] यथास्योपचिता[1] पूर्व्वराजानु-
मताश्चा(श्चा)तुर्वैद्य-

तृतीय पत्र : दूसरी बाजू

२५ ग्राममर्य्यादान्वितरामस्त[2]द्यथा अकरदायि[3] अभटच्छत्र[4]प्रावेश्य[:] अपा-
२६ रम्परगोबलवर्द्द[:*][5] अपुष्पक्षीरसन्दोहः[:*] अवा(चा)रासन-
चर्म्माङ्गार[:*] अल-
२७ लवणक्लिन्नक्लेनीखनकः[6] सर्व्ववेष्टि[7]सपरिहारपरिहृतः सनिधिः
२८ सोपनिधि[:*] सक्लिप्तोपक्लिप्त[:*][8] आचन्द्रादित्यकालि(ली)यः पुत्र-
पौत्रानु[गा*]-
२९ मिकः भुञ्जता(तो) न केनचिद्व्याघातयितव्यः सर्व्वकृ(क्रि)याभि-
स्संरक्षितव्य[:*]
३० परिवर्द्धयितव्यश्चा(श्च)[।*] यश्चास्मच्छासनमगणयमानः स्वल्पामपि
परिबाधां

चतुर्थ पत्र

३१ कुर्य्यात्कारयित वा[9] तस्य ब्राह्मणैर्व्वेदितस्य सदण्डं निग्रहं कुर्य्याम ॥
३२ अस्मिंश्च धर्मादरकरणे अतीतानेकराजदत्तां सञ्चिन्तनपरिपालन[10]
३३ कृतपुण्यानुकीर्त्तनपरिहारार्थं न कीर्त्तयामः [।*] व्यामगि(गी)तश्चात्र
श्लोक-प्रमाणी-
३४ कर्त्तव्य[:] [।*] स्वदत्तां परदत्तां वा हरेद्यो वै वसुन्धरा[म्*]।
गवां शतसहस्रस्य
३५ हन्तुर्हरति दुष्कृतं(तम्)।[11] [।१।।*] संवत्सरे द्वितीये अश्वयुज-[12]
मासशुक्लद्वादश्या(श्यां)
३६ चक्रदेवदूतकः[13] नागवर्म्मणा लिखित[म्] ।।❀[14]।।

१. पढ़िये '-स्योचितां'। २. पढ़िये 'मर्य्यादां वितराम-'।
३. पढ़िये 'अकरदायी'। ४. अन्य ताम्रपटों की भांति पढ़िये 'च्छात्र'।
५. पढ़िये '-बलीवर्द्दः'। ६. पढ़िये 'क्रेणिखनकः'।
७. पढ़िये 'विष्टि'। ८. पढ़िये 'सक्लृप्तोपक्लृप्तः'।
९. पढ़िये '-त्कारयेद्वा'। १०. पढ़िये '—राजदत्तसञ्चिन्तनपरिपालनं'
११. वृत्त—अनुष्टुप्। १२. पढ़िये 'आश्वयुज'।
१३. पढ़िये 'चक्रदेवदूतकं'।
१४. इन दो विरामचिह्नों के मध्य में एक पुष्पाकृति अंकित है।

४-५. प्रवरसेन द्वितीय के दो बेलोरा ताम्रपट

उपलब्धि—ये दो ताम्रपट वर्धा जिले की आर्वी तहसील के बेलोरा नामक ग्राम में श्री. जाने के घर में थे। सन् १९३८ में वे श्री. द. रा. गोमकाले के द्वारा मुझे वाचन के लिए प्राप्त हुए। मैंने उन्हें एपिग्राफिया इंडिका, जि. २४, पृ. २६०-२६७ में छापे के साथ प्रकाशित किया। उन्हीं छापो के आधार पर वे यहाँ दिये जा रहे हैं।

वर्णन—श्री. जाने के पास से मुझे कुल चार पत्र प्राप्त हुए। उनका वाचन करने पर मुझे ज्ञात हुआ कि उनमें से दो एक ताम्रपट से तथा शेष दो दूसरे ताम्रपट सम्बद्ध हैं। इन ताम्रपटो को हम 'अ' और 'ब' कह सकते हैं। प्रतीत होता है कि आरम्भ में इन ताम्रपटो के तीन पत्र थे, किन्तु 'अ' ताम्रपट का अन्तिम पत्र तथा 'ब' ताम्रपट का प्रथम पत्र इस समय प्राप्त नहीं हैं। 'अ' ताम्रपट का प्रथम पत्र केवल एक ओर तथा शेष सब दोनो ओर उत्कीर्ण हैं। 'अ' ताम्रपट के पत्र 'ब' के पत्रो की अपेक्षा कुछ अधिक बड़े और भारी है। 'अ' ताम्रपट के पत्र ९·९ इंच लम्बे और ४·९ इंच चौड़े हैं तथा उनका वजन ६७½ तौला है। 'ब' ताम्रपट के पत्र ९·६ इंच लम्बे तथा ४·८ इंच चौड़े है तथा उनका वजन ६४ तोला है। प्रत्येक पत्र के बायीं ओर से दो इंच पर मध्यभाग मे कड़े के लिए ½ इंच व्यास का छिद्र है, किन्तु दोनो ताम्रपटो के कडे तथा उनकी मुद्राएँ प्राप्त नहीं हुईं। पत्र अच्छी स्थिति मे हैं। उनपर अक्षर गहरे कोरे गये हैं, और कही-कही वे दूसरी ओर उभरे हुए दिखाई देते हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर सब पत्रो पर पहिले कोरे हुए अक्षरो को दबाकर उनके स्थान पर दूसरे अक्षर कोरे दीख पड़ते हैं। ये पूर्ववर्ती अक्षर भी पेटिकाशीर्षक लिपि के ही थे। अतः इस ताम्रपटो पर उत्कीर्ण पूर्ववर्ती दानपत्र भी इसी काल के होने चाहिए। किन्तु उनके अक्षर बलपूर्वक दबा दिये गये है; अतः वे किसको तथा किस प्रयोजन से दिये गये थे और किस कारण नष्ट किये गये, यह कहना असम्भव है।

लिपि—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ये दोनो ताम्रपट अपूर्ण हैं। 'अ' ताम्रपट के पत्रो पर कुल १८ पंक्तिया तथा 'ब' ताम्रपट के पत्रों पर २४ पंक्तियां हैं। दोनो ताम्रपटो की लिपि प्रवरसेन द्वितीय के अन्य ताम्रपटो के समान पेटिकाशीर्षक प्रकार की है। प्रस्तुत ताम्रपट में उसकी उल्लेख्य विशेषता है गाठ से युक्त 'त' अक्षर। यह दोनो ताम्रपटो मे प्राप्त होता है। जहां वह संयुक्त व्यञ्जन के दूसरे अक्षर के रूप में प्रयुक्त है वहां 'न' से उसका भेद दिखाने के लिए

उसका आकार लंबवर्तुल से दिखाया गया है। उदाहरणार्थ, 'अ' ताम्रपट में 'कार्त्तयुग'- (पं. १२) तथा 'भुक्ति' (पं. १३) शब्द द्रष्टव्य हैं।

भाषा—दोनों ताम्रपटो की भाषा संस्कृत है। 'अ' ताम्रपट का उपलब्ध सम्पूर्ण लेख गद्य में है। 'ब' ताम्रपट में भी २७-२८ वी पंक्तियों के शापाशीर्वादात्मक श्लोकों को छोड़कर शेष सम्पूर्ण भाग गद्य मे ही है। दोनों ताम्रपटो के लेखन की विशेषताएं इस प्रकार हैं (१) 'रि' के स्थान पर 'ऋ' तथा 'ऋ' के स्थान पर 'रि' का प्रयोग किया गया है; (२) 'ल' के स्थान पर 'लि' लिखा गया है। संयुक्त व्यञ्जनों में 'र्' के पश्चात् तथा 'र्' और 'य्' के पूर्व आनेवाले व्यञ्जन का द्वित्व किया गया है। इसके अतिरिक्त दीर्घ के स्थान पर ह्रस्व स्वर, व्याकरण-दुष्ट रूप इत्यादि दोनों ताम्रपटो में प्राप्त होते हैं।

विषय—दोनो दानपत्र प्रवरसेन द्वितीय के हैं, तथा उनमें उसके अन्य ताम्रपटों के समान ही उसकी वशावली दी गई है। उनमें उसके मातामह अर्थात् चन्द्रगुप्त द्वितीय का नाम 'देवगुप्त' ही दिया गया है। 'अ' दानपत्र का आरम्भ 'दृष्टम्' शब्द से होता है। वह नन्दिवर्धन में दिया गया था। 'ब' दानपत्र का प्रथम पत्र प्राप्त न होने के कारण उसके आरम्भ का स्थलनिर्देश निश्चित रूप से ज्ञात नही है। तथापि बहुधा वह 'अ' ताम्रपट की भाति ही रहा होगा। 'अ' ताम्रपट मे असिभुक्ति में शैलपुर-मार्ग पर स्थित महल्लमलाट ग्राम के दान का उल्लेख है। 'ब' ताम्रपट में पाकरण राष्ट्र के दीर्घद्रह तथा असि भुक्ति के शैलपुर-मार्ग में महल्लमलाट इन दो ग्रामो के दान का निर्देश है। महल्लमलाट तथा महल्लमलाट एक ही होने चाहिए, क्योकि उनका वर्णन उसी प्रकार का है। इससे प्रतीत होता है कि 'ब' दानपत्र 'अ' दानपत्र के पश्चात् दिया गया था। दोनो दानपत्र प्रवरेश्वरषड्विंशति वाटक में रहने वाले तैत्तिरीय शाखा के काश्यप गोत्री सूर्यस्वामी नामक ब्राह्मण को दिये गये थे। ये दान प्रवरसेन द्वितीय ने अपने वैजयिक धर्मस्थान में अपने पुण्य, आयुष्य, बल, विजय तथा ऐश्वर्य की वृद्धि, ऐहिक तथा पारलौकिक कल्याण तथा अपने अनुग्रह के लिए दिये थे। प्रथम ताम्रपट का काल निर्देश से युक्त पत्र अप्राप्य है, किन्तु दूसरे ताम्रपट के अन्त में कहा गया है कि वह प्रवरसेन द्वितीय के ग्यारहवें शासन-वर्ष में दिया गया था तथा उस समय चित्रवर्मा सेनापति पद पर था।

चर्चा—जैसा कि हम पहले कह आये हैं, 'ब' ताम्रपट में जिन दो ग्रामों के दान का उल्लेख है उनमें से एक पहले ही 'अ' ताम्रपट द्वारा दिया जा चुका था। अतः परवर्ती ताम्रपट में उसके पुनः उल्लेख का कारण समझ में नहीं आता। यह सत्य है कि किन्हीं विशेष प्रसङ्गों पर राजा लोग पूर्ववर्ती दान के उल्लेख से युक्त ताम्रपट देते थे, किन्तु ऐसा करते समय नवीन ताम्रपट देने के कारण का

(उदाहरणार्थ, शत्रु का आक्रमण, अग्नि कारण प्रथम दान पत्र का नाश इत्यादि का) उनमें उल्लेख रहता था। किन्तु 'ब' ताम्रपट में ऐसा कोई कारण नहीं दिया गया है। दोनों ताम्रपट एक ही राजा ने दिये थे तथा उनके बीच दस वर्ष से अधिक अन्तर होना भी सम्भव नहीं है। अतः मनमे शंका होती है कि 'ब' ताम्रपट अथवा उसका वह पत्र, जिसमें दो ग्रामों के दान का उल्लेख है, जाली है। इस शंका को थोड़ा आधार भी प्राप्त होता है जो इस प्रकार है। 'ब' ताम्रपट के दूसरे पत्र के लेख का आरम्भ और अन्त 'अ' ताम्रपट के दूसरे पत्र के लेख के समान ही है। इससे प्रतीत होता है कि वह पत्र पूर्ववर्ती ताम्रपट के पत्र के स्थान पर बिना समझे-बूझे जोड़ दिया गया। किन्तु इसके अतिरिक्त 'ब' ताम्रपट के जालीपन का अन्य कोई प्रमाण नहीं है। हम ऊपर देख आये हैं कि इस ताम्रपट के दोनो पत्र 'अ' ताम्रपट के पत्रो की अपेक्षा कुछ छोटे हैं। अतः यदि पत्र बदले गये हो तो एक नहीं दोनों पत्र बदलने चाहिए थे। किन्तु 'ब ताम्रपट के तृतीय पत्र को बदलने की आवश्यकता रही हो, ऐसा नही प्रतीत होता। दोनो ताम्रपटों के अक्षरो तथा व्याकरणदुष्ट प्रयोगों के साम्य से प्रतीत होता है कि वे वाकाटकों के सचिवालय में एक ही क्लार्क द्वारा लिखे गये थे। सेनापति चित्रवर्मा का उल्लेख भी ब' ताम्रपट की प्रामाणिकता का सूचक है, क्योंकि चम्मक ताम्रपट के उल्लेख से ज्ञात होता है कि चित्रवर्मा कम से कम प्रवरसेन द्वितीय के अठारहवे शासन-वर्ष तक सेनापति पद पर था। अत. 'ब' ताम्रपट बनावटी प्रतीत नहीं होता। उसमें 'अ' ताम्रपट में उल्लिखित ग्राम का उल्लेख पुनः आने का यह कारण होना चाहिए कि दूसरे ग्राम के दान के अवसर पर दान-पात्र ब्राह्मण ने प्रवरसेन द्वितीय से दोनों ग्रामों के एकत्र निर्देश से युक्त ताम्रपट देने की प्रार्थना की होगी।

स्थलनिश्चय— इन ताम्रपटो में उल्लिखित स्थल नामो मे से नन्दिवर्धन नागपुर जिले में रामटेक के पास नदरधन अथवा नगरधन है, यह हम पहले देख आए हैं। महल्ल-लाट अथवा महल्लम-लाट का अर्थ बहुत करके 'बड़ा लाट' (लाट बुद्रुक) होना चाहिए। उसकी पहचान सम्भवतः अमरावती जिले में स्थित लाडकी अथवा घाट लाडकी से की जानी चाहिए। यह गाव बेलोरा के वायव्यमें १८ मीलपर है। महल्लाट जिस शैलपुर मार्ग मे था उसकी पहचान लाडकी के पूर्व मे लगभग १५ मील पर टीलो से वेष्टित सालबर्डी से की जा सकती है। जिस असि-भुक्ति में महल्लाट ग्राम अन्तर्भूत था। उसका मुख्य ग्राम बेलोराके दक्षिण में दस मील की दूरीपर स्थित वर्तमान अष्टी होना चाहिए। दीर्घद्रह सम्भवतः अष्टी के उत्तर में ३० मीलपर वर्धा नदी के वाम तट पर स्थित दीघी है। ये दोनों ताम्रपट जिसे दिये गये थे वह ब्राह्मण प्रवरेश्वरषड्विंशतिवाटकमें रहता था। नामसे वह छत्तीस ग्रामों के विभाग का मुख्य ग्राम प्रतीत होता है। उस स्थानपर

प्रवरसेन प्रथम ने अपने नाम से एक शिवालय बनवाया था। इस शिवालय का उल्लेख क्रमांक १४ के लेख में आया है। उसीसे ग्रामका यह नाम पड़ा होगा। इस ग्राम का तथा पाक्कणराष्ट्र विभाग के मुख्य नगर पाक्कणका, जिसमें दीर्घद्रह अन्तर्भूत था, पता अब तक नहीं लग सका है।

वाचन[1]

'अ' ताम्रपट : प्रथम पत्र

१ द्रिष्टम्[2] [।*] सिद्धम् स्वस्ति[।*] ना(न)न्दिवर्द्धनादग्निष्टोमाप्तोर्य्या-
मोक्थ्यषोडश्यतिरात्रवाजपेयबृहस्पतिसव-
२ साद्यस्क(स्क्र)चतुरस्य श्व)मेधयाजिन.[3] विष्णुवृद्धसगोत्रस्य सम्राट्[4]
वाकाटकानाम्महाराजश्रि(श्री)प्रवर-
३ सेनस्य सूनो[:*] | सूनोः अत्यन्तस्वामिमहाभैरवभक्तस्य अंसभारसन्नि-
वेशितशिवलिङ्गो-
४ द्वहनशिवसुपरितुष्टसमुत्पादितराजवंशानाम्पराक्रमाधिगतभागीरथ्य-
मलजल-
५ मूर्द्धाभिषिक्तानान्दशाश्वमेधावभृथस्नातानाम्भारशिवानाम्महाराजश्रि-
(श्री)भवनागदौहित्रस्य
६ गौतमीपुत्रस्य पुत्रस्य ।[5] वाकाटकानाम्महाराजश्रीरुद्रसेनस्य सूनो-
रत्यन्तमाहेश्वरस्य

द्वितीय पत्र पहिली बाजू

७ सत्यार्ज्जवकारुण्यशौर्य्यविक्रमनयविनयमाहात्म्यश्रीमत्व[6]धीम[त्त्व*]-
पात्रगतभक्तित्व-

१. एपिग्राफिया इंडिया, जि. २४, पृ. २६४ पर दिये गये छापे के आधार पर।
२. पढ़िये 'दृष्टम्'।
३. यहा और आगे भी अनेक स्थानो पर सन्धि नहीं की गई है।
४. पढ़िये 'सम्राजो'।
५. यह विरामचिह्न निरर्थक है।
६. पढ़िये 'श्रीमत्त्व'। यह शब्द इतर वाकाटक ताम्रपटों में प्राप्त नहीं होता।

८ धर्म्मविजयित्वम[नो]नैर्म्मल्यादिगुणै[.*] समुपेतस्य वर्षशतमभिवर्द्ध-
मानकोशद-

९ ण्डसाधनस[न्ता]नपुत्रपौत्र(त्रि)णः युधिष्वि(ष्ठि)रवृत्ते[:] वाक(का)टका-
नाम्महाराजश्रीप्रिथिवीसे-

१० नस्य[1] सु(सू)नोर्भगवतश्चक्रपाणे≍प्रसादोपा[र्ज्जि]तश्रीसमुदयस्य ।[2]
महाराजश्रीरुद्रसेन-

११ स्य सु(सू)नोर्म्महाराजश्रीदेवगुप्तसुतायाम्प्रभावति(ती)गुप्तायामुत्पन्नस्य
शम्भो≍ प्र-

१२ सादधृतिकार्त्तयुगस्य[3] वाकाटकनाम्परममाहेश्वरमहाराजश्रीप्रवरसेनस्य

द्वितीय पत्र दूसरी बाजू

१३ वचनात् [।*] शेलपुरमार्गे[4] असिभुक्तिमहल्लाटग्रामे:(मः)[5]
प्रवरेश्वरषड्विशकवाट-

१४ कवास्तव्याय ॥ तै[त्ति[7]]रि(री)याय । काश्यपसगोत्रशूर्य्यस्व-
मिने[8] दत्तः[।*] यतोस्मत्सत्त(न्त)काः सर्व्वा[द्धय]-

१५ क्षनिया(यो)गनियुक्ताः आज्ञासचारि[9]कुलपुत्राधिकृता भटाश्छात्राश्च
विश्रुतपूर्व्वयाज्ञय या)-

१६ ज्ञापयितव्याः [।*] विदितमस्तु वः यथेहास्माभिरात्मनो धर्म्मायु-
ब्बल[10]विजयैश्वर्य्य-

१. पढ़िये 'श्रीपृथिवीषेणस्य'।
२. यह विरामचिह्न निरर्थक है।
३. पढ़िये 'धृतकार्त्तयुगस्य'।
४. पढ़िये 'शैलपुरमार्गे'।
५. 'ब' ताम्रपट मे इस ग्राम का नाम 'महल्लमलाटग्रामः' आया है।
६. बहुधा 'प्रवरेश्वरपषड्विशति-' होना चाहिए।
७. इसमे निचला 'त्' पूरी तरह नही कोरा गया।
८. पढ़िये 'सूर्य्यस्वामिने'।
९. पढ़िये 'आज्ञासञ्चारि'।
१०. पढ़िये 'धर्म्मायुर्ब्बल-'।

१७ व(वि)वृद्धये ।[1] इहामुत्रहितार्त्थमात्मानुग्रहाय ॥[1] वैजयिके धर्मस्थाने अपूर्व्वदत्या(त्या)

१८ उदकपूर्व्वमतिसृष्टः[2] [॥*]

'ब' ताम्रपट द्वितीय पत्र : पहली बाजू

७[3] सत्यार्ज्जवकारुण्यशौर्य्यविक्रमनयविनयमाहात्म(त्म्य)धीमत्व(त्त्व)-पात्रगतभक्तित्वधर्म्म-

८ विजयित्वमनोनैर्म्म(र्म)ल्यादिगुणै[:*] समुपेतस्य वर्षशतमभि-वर्द्धमानकोशदण्डसा-

९ धनसन्तानपुत्रपौत्र(त्रि)ण. युधिष्ठरवृत्तेर्व्वाकाटकानाम्महाराजश्रीपृथि-विसेनस्य[4]

१० सूनोभ(र्भ)गवतः[5]श्चक्रपाणेरप्रसादोपार्ज्जितश्रीसमुदयस्य म्म(म)-हाराजश्रीरुद्र-

११ सेनस्य सूनोर्म्महाराजाधिराजश्रीदेवगुप्तसुताया[6]रप्रभावति(ती)-गुप्तायामुत्पन्नस्य

१२ शम्भोरप्रसाव(द)धृतिकार्त्तयुगस्य[7] ।[8] वाकाटकानाम्परममाहेश्वरमहे-(हा)राजश्रीप्रवरसे-

द्वितीय पत्र : दूसरी बाजू

१३ त(न)स्य वचना[त्*] । पाक्कणराष्ट्रे दीर्घद्रह्नाम[9] ग्राम[:*] ।[8] शैलपुरमार्ग्गे असिभुक्ति-

१. यह विरामचिह्न निरर्थक है ।
२. यहां एक पुष्पाकृति अंकित है ।
३. इस ताम्रपट के अन्य पत्रों पर छह छह पंक्तियां है । इसी प्रकार खोये हुए पत्र पर भी छह पंक्तियां रही होगीं । अतः द्वितीय पत्र की प्रथम पंक्ति को क्रमांक ७ दिया गया है ।
४. पढ़िये 'श्रीपृथिवीषेणस्य' ।
५. यह विसर्ग निरर्थक है ।
६ पढ़िये 'सुतायां' ।
७. पढ़िये 'धृतकार्त्तयुगस्य' ।
८. यह विरामचिह्न निरर्थक है ।
९. पढ़िये 'दीर्घद्रहं नाम' ।

१४ महल्लमलाटग्रामश्च एवं ग्रामद्वयं ॥[1] प्रवरश्वरषड्विंशतिवाटकवास्तव्य[2]-

१५ तैत्तिरि[3]यकाश्यपसगोत्र[सु]र्य्यस्वामिन[4] दत्त[म्]। यतोस्मत्सन्तकाः सर्व्वद्धयक्ष[5]नियोग-

१६ नियुक्ताः आज्ञासञ्चारिकुलपुत्राधिकृताः भटाश्छात्राश्च विषु(श्रु)त-पूर्व्वयाज्ञाज्ञा[6]-

१७ पयितव्या विदितमस्तु वः [।*] यथै(थे)हास्माभिरात्मनो धर्म्मायु-र्व्वलविजय(यै)श्वर्य्यविवृद्धये। इहा-

१८ मुत्रहितार्त्थमात्मानुग्रह(हा)य वैजैके[7] धर्म्मस्थाने अपूर्व्वदत्या[8] उदकपूर्व्वमति[सृ]ष्ट[9][।*]

तृतीय पत्र : पहिली बाजू

१९ उचितांश्चास्य[10] पूर्व्वराजानुमतां चातुर्व्वैद्यग्राममर्य्यादान्वितराम-[11] स्तद्यथा अकरदायि

२० अभट्टच्छ(च्छा)त्रप्रावेश्य [म्*] अपारम्परगोबलवद्:[12] अपुष्प-क्षिर[13] सन्दोह[म्*] अचारासनच-

१. यह विरामचिह्न निरर्थक है।
२ पढिये 'प्रवरेश्वरषड्विंशतिवाटकवास्तव्य-'।
३. पढिये 'तैत्तिरीय-'।
४. पढिये 'सूर्य्यस्वामिने'।
५. पढ़िये 'सर्व्वाद्धयक्ष-'।
६. पढ़िये 'विश्रुतपूर्व्वयाज्ञयाज्ञा-'।
७. पढ़िये वैजयिके'।
८ पढिये 'अपूर्व्वदत्त्या'।
९. पढिये -मतिसृष्टम्'। यह प. १४ के 'ग्रामद्वय' का विशेषण है।
१०. पढ़िये 'उचितां चास्य'।
११. पढ़िये 'मर्य्यादा वितराम'।
१२. पढ़िये 'गोबलीवर्द्दम्'। यहां और आगे भी अनेक स्थलों पर लेखक ने अन्य ताम्रपटों की भांति विशेषणों के पुल्लिंग रूपों का प्रयोग किया है, किन्तु प्रस्तुत लेख मे 'ग्रामद्वयम्' के लिए उपयुक्त नपुंसक रूप होना चाहिए।
१३. पढिये 'अपुष्पक्षीर-'।

२१ म्मार्ङ्गार[म्*] अलवणक्लिन्नक्रेनिखनकः[1] सर्व्वबेष्टिपरिहारपरिहृतः[2] सनिधः[3] सोप-

२२ निधिः[4] सक्लिप्तोपक्लिप[5] अचन्द्राहित्यकालीय[:][6] पुत्रपौत्रानुगामिकः[7] भुञ्जता(तो)

२३ न केनचिद्व्याघात[≍ क]र्त्तव्यः सर्व्वक्रयाभिस्स(स्सं)रक्षितव्य≍ परिवर्द्धयितव्यश्च। यश्च(श्चा)स्मच्छा-

२४ सनमगणयमानः स्वल्पामपि परिबाधान्कुर्य्यात्कारयिरवा[8] अस्य ब्राह्मणैर्व्वेदितस्य

तृतीय पत्र : दूसरी बाजू

२५ सदण्डनिग्रह(हं) कुर्य्याम ॥ अस्मि(स्मि)श्च धर्मादरकरणे अतीतानेकराजदत्तासंञ्चिन्त्यन[10]परिपा-

२६ लन(नं) कृतपुन्या(ण्या)नुकीर्तनपरिहारार्त्थ(र्त्थं) न कीर्त्तयामः [।*]व्यासगीतौ चात्र श्लोकौ प्रमाणी-

२७ कर्त्तव्यौ। स्वदत्ताम्परत्ताव्वा[11] हरेद्वा[12] वै वसुन्धरा[म्।*] गवा-(वां) शतसहस्रस्य।[13] हन्तुर्ह-

१. पढ़िये '-क्रेणिखनकम्'।
२. पढ़िये 'सर्व्वविष्टिपरिहारपरिहृतम्'।
३. पढ़िये 'सनिधि'।
४. पढ़िये 'सोपनिधि'।
५. पढ़िये 'सक्लृप्तोपक्लृप्तम्'।
६. पढ़िये 'आचन्द्रादित्यकालीयम्'।
७. पढ़िये '-गामिकम्'।
८. पढ़िये 'सर्व्वक्रियाभि-'।
९. पढ़िये 'परिबाधां कुर्य्यात्कारयेद्वा'।
१०. पढ़िये 'राजदत्तसञ्चितन-'।
११. पढ़िये 'परदत्तां वा'।
१२. पढ़िये 'हरेद्यो'।
१३. यह विरामचिह्न निरर्थक है।

२८ रति दुष्कृत[म्*] ॥[१॥*] षष्टि[1] वर्षसहस्राणि स्वर्गे मोदति
भूमिद[:*]। आच्छेत्ता चा-

२९ नुमन्ता च तान्येव नरके वसेत्[2] [॥२॥*] सव्वत्सरे एकादशमे[3] १० १
कार्त्तिकशुक्लपक्ष-

३० त्रयोदश्या[4] १० ३ सेन(ना)पतौ चित्रवर्म्मा(र्म्म)णि ना[5] लिखित
[म्*]।

---

१. पढ़िये 'षष्टि'।
२. दोनो श्लोको का वृत्त-अनुष्टुभ्।
३. पढ़िये 'संवत्सरे एकादशे'।
४. पढ़िये 'त्रयोदश्या'
५. यहाँ मणिना पाठ विवक्षित रहा होगा; किन्तु ताम्रपट पर मूल लेख की प्रतिलिपि करते समय लेखक ने 'मणि' के अक्षरो के सदृश अक्षरो के इसके पूर्व आ चुकने के कारण त्रुटि से इन दो अक्षरों को छोड़ दिया है।

६. प्रवरसेन द्वितीय का चम्मक ताम्रपट

उपलब्धि—यह ताम्रपट अमरावती जिले की अचलपुर तहसील में अचलपुर के उत्तर में चार मील की दूरी पर स्थित चम्मक (प्राचीन चर्माङ्क) नामक ग्राम में सन् १८६८ में भूमि जोतते समय प्राप्त हुआ था। सन् १८७९ में पंडित भगवानलाल इन्द्रजी ने आर्किऑलॉजिकल सर्वे ऑफ् वेस्टर्न इंडिया, पत्रिका क्रमांक ९, पृ० ५४ इत्यादि में उसका वाचन प्रकाशित किया। इसके अनन्तर डॉ० बुल्हर ने पहले आर्किऑलॉजिकल सर्वे ऑफ् वेस्टर्न इंडिया, जिल्द ४, पृ० ११९ में और पुनः इंडियन ऍंटिक्वेरी, जि. १२, पृ. ३३९ इ. में इस लेख को सानुवाद सम्पादित किया। अन्त में डॉ. फ्लीटने कॉर्पस इन्स्क्रिप्शनम् इंडिकॅरम्, जि. ३, पृ. २३५ इ. में उसे छापे और अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित किया। मूल ताम्रपट के उपलब्ध न होने के कारण डॉ. फ्लीट द्वारा प्रकाशित छापे के आधार पर उसका वाचन यहां दिया गया है।

वर्णन—इस ताम्रपट के कुल सात पत्र है, जिनमें से प्रथम तथा अन्तिम पत्र के एक ओर तथा शेष पत्रों के दोनो ओर लेख उत्कीर्ण है। पत्रो की लम्बाई ७$\frac{1}{2}$ इंच और चौड़ाई ३$\frac{1}{2}$ इंच है। उसके किनारे ऊंचे नही किये गये हैं। प्रथम तथा अन्तिम पत्र के कुछ अक्षर जंग खा जाने के कारण अस्पष्ट हो गये हैं, किन्तु शेष लेख अच्छी स्थिति मे है। पत्रो के ऊपर कड़े के लिए छेद है। उसमें से जानेवाला कड़ा $\frac{1}{8}$ इंच मोटा और ३$\frac{5}{8}$ इंच व्यास का है। एक दूसरे छोटे कड़े ने उसे मुद्रा से जोड़ दिया है। तांबे की इस वर्तुलाकार कड़ी का व्यास २$\frac{7}{8}$ इच है। उसपर चार पंक्तियो का लेख उत्कीर्ण है। सात पत्रो का कुल वजन ६ पौंड, १४ औंस और कड़े तथा मुद्रा का वजन १४$\frac{1}{2}$ औंस है।

अक्षरों की बनावट—यह लेख पेटिकाशीर्षक लिपि में है और पंक्ति क्रमांक ५८ और ५९ के अतिरिक्त अन्य सभी अक्षरों के सिर के ऊपर की पेटिकाएं पूर्णरूप से खोदकर बनायी गयी हैं। ६० वी पंक्ति मे संख्या ८ और १० तथा १९ वीं पंक्ति में संख्या ८००० चिह्नो द्वारा व्यक्त की गयी है। उपध्मानीय का चिह्न पंक्ति क्रमांक १३, १६ और ३१ में आया है। लिपि की निम्नलिखित विशेषतायें उल्लेखनीय हैं। दीर्घ ईकार परस्पर विरूद्ध दिशाओं की ओर बढ़ी हुई वक्र रेखाओं द्वारा दिखाया गया है। उदाहरणार्थ पंक्ति ७ में 'श्रीभवनाग' देखिए। किन्तु गौतमीपुत्रस्य (पं. ८) शब्द में दीर्घ ई दायी ओर बढ़ी हुई एक ही चक्ररेखा द्वारा व्यक्त की गई है। व्यंजनयुक्त औ द्विभागात्मक है। सामान्यतः 'त' ग्रन्थिरहित और 'न' ग्रन्थियुक्त है, किन्तु अनेक स्थलों पर इन अक्षरो को कोरने मे अनियमितता दृष्टिगत होती है। उदाहरणार्थ देखिए पं. ९ में 'अत्यन्त' के स्थान पर 'अत्यत्न'।

भाषा—लेख की भाषा संस्कृत है। ३६-३९ पंक्तियों में दो शापाशीर्वादात्मक श्लोको के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण भाग गद्य में है। लेखन की निम्न विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—'र्' के पूर्व तथा पश्चात् आनेवाले और 'य्' के पूर्ववर्ती अक्षरों का द्वित्व किया गया है। अनुस्वार के अनन्तर आनेवाले 'व्' का भी 'संव्वत्सरे' (पं. ६०) शब्द में द्वित्व किया हुआ मिलता है।

विषय—वाकाटको अन्य सब ताम्रपट लेखों के समान इस लेख का आरम्भ भी 'दृष्टम्' शब्द से होता है। प्रवरसेन द्वितीय ने यह ताम्रपट प्रवरपुर से दिया था। पिछले ताम्रपटों की भांति इस लेख में भी उसकी वंशावली दी गयी है, जिसमें उसके मातामह का उल्लेख देवगुप्त नाम से किया गया है। प्रस्तुत लेख का उद्देश्य प्रवरसेन द्वितीय द्वारा भोजकट राज्य मे मधु नदी के तीर पर स्थित चर्माङ्क नामक ग्राम हजार ब्राह्मणो को दान मे देने का उल्लेख करना था। राजमान के अनुसार इस दान का विस्तार आठ हजार निवर्तन था। यह दान शत्रुघ्नराज के पुत्र कोडराज की प्रार्थना पर दिया गया था। इस कोडराज का उल्लेख पट्टन ताम्रपट मे भी आया है। लेख का काल इस प्रकार दिया गया है—अठारहवें राज्यवर्ष की ज्येष्ठ शुक्ल त्रयोदशी। उस समय चित्रवर्मा सेनापति था। पिछले ताम्रपट से हमें ज्ञात होता है कि ग्यारहवे वर्ष में भी वह इसी पद पर था।

स्थलनिश्चय – प्रस्तुत ताम्रपट मे प्रयुक्त स्थलनामो मे से प्रवरपुर नगरी का उल्लेख पहलेपहल इसी लेख मे मिलता है। सम्भवतः प्रवरसेन द्वितीय ने उसे स्वयम् बसाकर अपना नाम दिया होगा। उसके राज्यकाल के ग्यारहवें वर्ष तक उसकी राजधानी नन्दिवर्धन थी। प्रतीत होता है कि इसके पश्चात् प्रवरपुर नगर बसाकर वह अपनी राजधानी वहां ले गया। दीर्घकाल तक प्रवरपुर की खोज नही हो पायी थी। इधर कुछ वर्ष पूर्व वर्धा से छह मील पर धाम नदी के तट पर बसे पवनार नामक ग्राम मे कतिपय गुप्तकालीन मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। उनसे अनुमान होता है कि प्राचीन प्रवरपुर वही था। चर्माङ्क निःसंशय वर्तमान चम्मक है, जहा प्रस्तुत ताम्रपट प्राप्त हुआ था। वह जिस मधुनदी के तीर पर था उसे अब चन्द्रभागा कहते है। जिस 'राज्य' अथवा प्रान्त मे चर्माङ्क अन्तर्भूत था उसका मुख्य नगर भोजकट अत्यन्त प्राचीन है। उसे कृष्ण के साले रुक्मी ने बसाया था। कृष्ण द्वारा रुक्मिणी का हरण किये जाने पर रुक्मी ने कृष्ण को मारकर रुक्मिणी को वापस लौटाये बिना कुण्डिनपुर वापस न जाने की प्रतीज्ञा की। भोजकट नामक नवीन नगर स्थापित कर वह वही रहने लगा। कहते है कि अमरावती से ८ मील की दूरी पर स्थित भातकुली ग्राम ही प्राचीन भोजकट है। वहां रुक्मी का देवालय है और कुछ वर्ष पूर्व वहा जैन तीर्थङ्करो की मूर्तिया प्राप्त हुई थी। अतः इसमें संशय नहीं कि वह एक प्राचीन स्थान है।

वाचन[1]

प्रथम पत्र

१ दृष्टं(ष्टम्) [।*] स्वस्ति [।*] प्रवरपुरादग्निष्टोमाप्तोर्य्यामोक्थ्यषोडश्या-
तिरात्र[2]-

२ वाजपेयबृहस्पतिसवसाद्यस्कचतुरश्वमेधयाजिनः

३ वि[ष्णु]वृद्ध[3]सगोत्रस्य सम्रा[ड्][4] वाकाटकानां महाराज[श्री](श्री)-
प्रवरसेनस्य

४ सूनोः सूनोः अत्यन्त[स्वा]मिमहाभैरवभक्तस्य अ(अं)सभारसन्ति(न्नि)-
वेशि-

५ तशिवलि[ङ्गो]द्वहनशिवसुपरितुष्टसमुत्पादि[त]राजव(वं)शा-

द्वितीय पत्र पहिली बाजू

६ नाम्पराक्रमाधिगतभागीरत्थ्या(त्थ्य)मलजलमूर्द्ध्ना(र्द्धा)भिषिक्तानान्दशा-

७ श्वमेधावभृथस्नातानाम्भारशिवानां महाराजश्रीभवनागदौ-

८ हित्रस्य गौतमीपुत्रस्य पुत्रस्य वाकाटकानां महाराजश्रीरुद्रसे-

९ नस्य सूनोरत्यत(न्त)माहेश्वरस्य सत्यार्ज्जवकारुण्यशौर्य्यविक्रमन-

१० यविनयमाहात्म्या(त्म्य)धि(धी)मत्व(त्त्व[5])हा(पा)त्रा(त्र)गतभक्ती(क्ति)-
त्वधर्म्मवी(वि)जयी(यि)त्व-

१. डॉ. फ्लीट के गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ. २४०-४१ के सामने दिए छापों के आधार पर।
२. पढ़िए 'षोडश्यतिरात्र'।
३. पढ़िए 'विष्णुवृद्ध'।
४. पढ़िए 'सम्राजो'।
५. फ्लीट ने यहां 'माहात्म्याधिकत्व' पाठ सुझाया है, किन्तु उसका कुछ ठीक अर्थ नहीं लगता। पट्टन ताम्रपट की पं. १३ में इस स्थान पर 'धीमत्त्व' है; यहां भी वही विवक्षित होना चाहिए।

द्वितीय पत्र : दूसरी बाजू

११ मनोनैर्म्मा(र्म्म)ल्यादिगुणैस्समुपेतस्य वर्षशतमभिवर्द्धमानकोश-
१२ दण्डसाधनसन्तानपुत्रपौत्रिणः युधिष्ठिरवृत्तेर्व्वाकाटकानां
१३ महाराजश्रीपृथिविषेणस्य सूनोर्भगवतश्चक्रपाणेरप्रसा-
१४ दोपार्ज्जि[1]तश्रीसमुदयस्य वाकाटकानां महाराजश्रीरुद्रसेन-
१५ [स्य*] सूनोर्म्महाराजाधिराजश्रीदेवगुप्तसुतायां प्रभाव-

तृतीय पत्र : पहिली बाजू

१६ ति(ती)गुप्तायामुत्पन्त(न्न)स्य शम्भोरप्रसादधृति(त)कार्त्तयुगस्य
१७ वाकाटकानाम्परममाहेश्वरमहाराजश्रीप्रवरसेनस्य वचना[त्*]
१८ भोजकटराज्ये मधुनदीतटे चर्म्माङ्क[2]नामग्र(ग्रा)मः राजमानिकभु(भू)मि-
१९ सहस्रैरष्टाभिः ८००० शत्र त्र)घ्नराजपुत्रकोण्डराजविज्ञा(ज्ञ)प्त्या नानागो-
२० त्रचरणेभ्यो ब्राह्मणेभ्य सहस्राय दत्तः [।*]

तृतीय पत्र : दूसरी बाजू

२१ यतोस्मत्सन्तका[:*] सर्वाद्धयक्षाधियोगनियुक्ता आज्ञासञ्च(ञ्चा)रिकुल-
पुत्राधिकृता
२२ भटाच्छ(श्छा)त्राश्च विश्रुतपूर्व्वयाज्ञयाज्ञापयितव्या विदितमस्तु वो यथे-
२३ हास्माकम्मनो[3] धर्म्मायुर्व्वलविजयैश्वर्यविवृद्धये इहामुत्रहिता-
२४ र्थमात्मानुग्रहाय वैजै(जयि)के धर्म्मस्थाने अपूर्व्वदत्य(त्त्या)उदकपूर्व्व-
२५ मतिसृष्टः [।*] अथास्योचितां पूर्व्वराजानुमतां चातुर्वैद्यग्राममम-
२६ र्य्यादान्वितरामस्तद्यथा अकरदायी[5] अभटछूछ(च्छा)त्रप्रावेश्य[.*]

चतुर्थ पत्र : पहिली बाजू

२७ अपारम्परगोबलिवर्द[.*] अपुम्प(ष्प)क्षीरसन्दोह[*] सर्व्ववेष्टि[6]परि-
२८ सनचर्म्माङ्गार[:*]अलवणक्लिन्नकूकेणिखनक[:*]सर्व्ववेष्टि[6]परि-

१. कोरनेवाले ने पहिले 'ज्जि कोरा था, जिसे बाद में शुद्ध करके 'ज्जि' किया।
२. कोरनेवाले ने प्रथम 'ङ्गा' कोरा था, जिसे बाद मे 'ङ्क' बनाया।
३. पढिए यथेहास्माभिरात्मनो। ४. पढ़िए 'मर्य्यादां वितराम'।
५. कोरक ने पहिले '–दायै' कोरा था, बाद में उसे ठीक करके 'दायी' किया।
६. पढ़िए 'विष्टि-'।

२९ हारपरीहृतः[1] सनिधिस्सोपनिधिः सक्लिप्तोपक्लिप्तः[2]
३० आचन्द्रादित्यकालीयः पुत्रपौत्र(त्रा)नुगमकः भु(भुं)जतां न के-
३१ नचिद्व्याघातं(तः) कर्त्तव्यस्सर्व्वकृक्रियाभिस्स(स्सं)रक्षितव्य≍पर(रि)-
वर्द्धयि-
३२ तव(व्य)श्च[।*]यश्चायं[3] शासनमगणयमानो(नः) स्वल्प(ल्पा)मपि [प*]-
रिबाधां(धा)[4]-

चतुर्थ पत्र : दूसरी बाजू

३३ न्कु(ङ्कु)र्य्यात्कारयिता वा[5] तस्य ब्राह्मणैर्व्वेदितस्य सव(द)एडनिग्रहं
कुर्य्या-
३४ म ॥ अस्मि(स्मिं)श्च धर्म्मावि(द)रकरणे अति(ती)तानेकराजदत्तसञ्चिल्ल-
(न्त)न-
३५ परिपालनं कृतपुण्यानुकीर्त्तनपरिहारार्थं न कीर्त्तयामः [।*]
३६ व्यासगीतौ चात्र श्लोकौ प्र[6]मानि(णी)कर्त्तव्यौ [.*] स्वदत्ताम्परदत्तां
३७ व्वा(वा) यो हरेत वसुन्धरां(राम्)। गवां शतसहस्रस्य हत्तु(न्तु)-

पञ्चम पत्र : पहिली बाजू

३८ हरति दुष्कृतं(तम्[7])[ः।१॥*] षष्टि वर्षसहस्रानि णि) स्वर्ग्गे मोदति भू-
३९ मिदः [।*] आच्छेत्ता चानुमन्ता च[8] तान्येव नरके वसेदिति [॥२॥*]
इशा(शा)सन-
४० स्थितिश्चेयं ब्राह्मणैरीश्वरैश्चानुपालनीया [।*] तद्यथा राज्ञां स-
४१ प्ताङ्गे राज्ये अद्रोहप्रवृन्ता(त्ता)नां [अ*]ब्रह्मघ्नचौरा(र)पारदारिकराजा-
४२ पथ्यकारिप्रभृति(ती)नां सङ्ग्राम[म*]कुर्व्वतां अन्यग्राम(मे)ष्वन-॥[9]

१. पढ़िए 'परिहृतः'। २. पढ़िए 'सक्लृप्तोपक्लृप्तः'।
३. यहां 'यश्चेदं' अथवा पट्टन ताम्रपट की पं. ३५ की भांति 'यश्चास्म-च्छासन-' पढ़िए।
४. यहां 'कुर्य्या' कोरा गया था। बाद में उसे मिटाया है।
५. '-त्कारयेद्वा' अधिक उत्तम पाठ है।
६. इस अक्षर के पहिले का उपध्मानीयका चिह्न मिटा दिया गया है।
७. इसका व अगले श्लोक का वृत्त-अनुष्टुभ्।
८. कोरक ने प्रथम 'च्छ' कोरा था; बाद में उसे ठीक करके 'च' किया।
९. यह विराम चिह्न निरर्थक है।

पंचम पत्र : दूसरी बाजू

४३ पर(रा)द्वानां आचन्द्रादित्यकालीयः [।*] अतोन्यथा कुर्व्वतामनुमोदतां वा[1]

४४ राज्ञः भूमिच्छेदं कुर्व्वन्तः(तः) अस्तेयमिति [।।*] प्रा(प्र)ति[ग्रा[2]]-हिणश्चात्र

४५ वारनियुत्ता(क्ताः)[।*] शाट्यायनः गणार्य्यः वात्स्यदेवार्य्यः भारद्वाज-

४६ कुमारशर्म्मार्य्यः[:*] पाराशर्य्यगुहशर्म्मा काश्यपदेव(वा)र्य्यः महेश्वरार्य्य[3][:]

४७ मात्रार्य्य· कौण्डिण्य(न्य)रुद्रार्य्य[:*] सोमार्य्य[:*] हरिशर्म्मार्य्य[:*]

षष्ठ पत्र : पहिली बाजू

४८ भारद्वाजकुमारश[र्म्मा]र्य्य[:*] कौण्डिण्य(न्य)मा[तृ]शर्म्मा वरशर्म्मा

४९ गोण्डशर्म्मा नागशर्म्मा भारद्वा[ज*]शान्तिशर्म्मा रुद्रशर्म्मा वात्स्यः

५० भोजकद(दे)वार्य्य[:* मघशर्म्मा देवशर्म्मा भारद्वाजमोक्षशर्म्मा

५१ [ना]गशर्म्मा रेवतिशर्म्मा धर्म्मार्य्य[:*] भारद्वाजशर्म्मार्य्य[:*]

५२ नन्दनार्य्य[:*] मूलशर्म्मा ईश्वरशर्मा वरशर्म्मा

षष्ठ पत्र : दूसरी बाजू

५३ वान्स्य[4]स्कन्दार्य्य[:*] भारद्वाजबप्पार्य[:*] धर्म्मार्य्य[:*] आत्रेय-स्कन्दार्य्य[:*]

५४ गौतमसोमशर्म्मार्य्य[:*] भतृ(तृ)शर्म्मा रुद्रश[र्म्मा]र्य्य[:*] मघार्य्य[:*] मातृ-

५५ शर्म्मार्य्य[:*] ईश्वरशर्म्मार्य्य[:*] गौतमसगोत्रमातृशर्म्मा-

५६ र्य्य[:*] कौण्डिण्य(न्य)देवशर्म्मार्य्य[:*] वरशर्म्मार्य्य[:*] रोहार्य[:*]

१. यहा प्रथम 'ध्वा' कोरा गया था। बाद में उसे ठीक करके 'वा' किया गया।

२ यहा प्रथम 'ग्वा' कोरा गया था। बाद में उसका 'ग्रा' किया गया।

३, 'र्य्य' अक्षर 'रा' के नीचे कोरा गया है।

४. पढ़िए 'वात्स्य'।

सप्तम पत्र

५७ गौतमसगोत्रस्वामिदे[वाः*]र्य्यै[:*] रेवतिशर्म्मार्य्यै[:*]

५८ ज्येष्ठशर्म्मार्य्यै[:*] शाण्डिल्यकुमारशर्म्मार्य्यै[:*] स्वातिशर्म्मा-

५९ र्य्यै[:*] श(शा)ट्यायण(न)काण्ड(ण्डा)र्य्यप्रभृतयः[।।*]सेनापतौ

६० चित्रवर्म्मणि संव्वत्सरेष्टादश(शे) १० ८ ज्येष्ठमासशुक्ल-

६१ पक्षत्रयोदश्या(श्यां) शासनं लिखितमिति ।।

मुद्रा

१ वाकाटकललामस्य

२ क्रमप्राप्तनृपश्रियः [।*]

३ राज्ञ=प्रवरसेनस्य

४ शासनं रिपुशासनं (नम्)[1] [।।*]

१. वृत्त- अनुष्टुभ् ।

७. प्रवरसेन द्वितीय का सिवनी ताम्रपट

उपलब्धि—यह ताम्रपट मध्यप्रदेश के सिवनी जिले के पिंडराई नामक ग्राम में वहां के मालगुजार हजारी गोंड के यहां था। सन् १८३६ में जेम्स प्रिन्सेप ने बंगाल एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका में (जि ५, पृ. ७२६ इ.) उसका वाचन, अंगरेजी अनुवाद और छापे प्रकाशित किये। तदनन्तर डॉ. फ्लीट ने अपने ग्रन्थ गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स में (पृ २४३ इ.) उसका वाचन, अंग्रेजी अनुवाद तथा छापे प्रकाशित किये। उन्हीं छापों के आधार पर वह यहां सम्पादित किया गया है।

वर्णन—इस ताम्रपट के कुल पांच पत्र हैं जिनमे से प्रथम व अन्तिम पत्र के एक ओर तथा शेष तीन पत्रो के दोनो ओर लेख उत्कीर्ण है। पत्रों की लंबाई लगभग ८$\frac{3}{16}$ इंच और चौड़ाई ४$\frac{1}{2}$ इंच है। उनकी किनारें मोड़ी नहीं गई हैं, तथापि उन पर का लेख उत्तम स्थिति मे है। पत्रो के बायों ओर तार के लिए छेद है। यह तार पौन इंच मोटी व ३$\frac{3}{8}$ इंच व्यास की है। चम्मक ताम्रपत्र की कड़ी के समान उसमें ३$\frac{1}{16}$ इच व्यास की वर्तुलाकार मुद्रा जुड़ी हुई है, जिस पर चार पंक्तियो का लेख है। पांचों पत्रो का वजन ३ पौंड, ४$\frac{1}{8}$ औंस तथा तार और मुद्रा का वजन ५$\frac{1}{2}$ औंस है।

लिपि—लिपि पेटिकाशीर्षक प्रकार की है और उसकी शैली जांब ताम्रपट के समान है। अधोनिर्दिष्ट विशेषताएं उल्लेखनीय हैं—'ख' का निचला भाग चौकोन है। 'ड' व 'द' की आकृति स्पष्ट रूप से परस्पर भिन्न भिन्न प्रकार से नहीं बनाई गई है। 'न' का आकार वर्तमान नागरी 'न' के समान है। 'ब' दो प्रकार का है—चौरस आकार का तथा बायी ओर गड्ढे से युक्त। स्वर रहित व्यंजन छोटे आकार के हैं अथवा उनके ऊपर आड़ी रेखा है। उपध्मानीय का चिह्न मुद्रा के लेख की तीसरी पंक्ति में आया है।

भाषा—इस लेख की भाषा संस्कृत है तथा मुद्रा पर उत्कीर्ण श्लोक और अन्त के दो शापाशीर्वादात्मक श्लोको को छोड़ कर लेख का सम्पूर्ण भाग गद्य मे है। लेखन की निम्नलिखित विशेषताएं दृष्टिगत होती हैं—रेफ के अनन्तर आने वाले व्यंजन का द्वित्व किया गया है; 'य' और 'व' के पूर्ववर्ती व्यंजन का भी द्वित्व किया गया है; 'वन्श' (पं ५, १७) तथा 'अन्स' (पं. ४) शब्दो मे अनुस्वार के बदले 'न्' का उपयोग किया गया है; क्लिप्तोपक्लिप्त' शब्दो मे 'लृ' के स्थान पर 'लि' लिखा है।

विषय—वाकाटको के अन्य पूर्ण ताम्रपटों की भांति इसका भी आरम्भ 'इष्टम्' शब्द से होता है। प्रस्तुत ताम्रपट वाकाटक महाराज प्रवरसेन द्वितीय ने अपने विजयी धर्मस्थान अर्थात् अपनी राजधानी से दिया था, किन्तु अन्य ताम्रपटों

के समान इसमें राजधानी का उल्लेख नहीं है। प्रवरसेन द्वितीय की वंशावली उसके अन्य ताम्रपटों के समान ही है तथा उसके मातामह का उल्लेख देवगुप्त नाम से हो किया गया है। ताम्रपट देने का उद्देश्य था प्रवरसेन द्वितीय द्वारा तैत्तिरीय शाखा के मौद्गल्यगोत्री देवशर्माचार्य नामक ब्राह्मण को ब्रह्मपूरक ग्राम के दान का उल्लेख। बेण्णाकार्परभोग में स्थित यह ग्राम वटपूरक के उत्तर में, किणिहिखेटक के पश्चिम में, पवरज्जवाटक के उत्तर में तथा कोल्लपूरक के पूर्व में था। उसके निकटवर्ती ग्राम का नाम था करञ्जविरक। यह दान प्रवरसेन द्वितीय के अठारहवे राज्य-वर्ष में फाल्गुन शुक्ल द्वादशी के दिन दिया गया था। उस समय बाप्पदेव सेनापति पद पर था। इस दान पत्र का लेखक था आचार्य।

स्थलनिश्चय—प्रस्तुत ताम्रपट में उल्लिखित ग्रामों का पता काफी समय तक नहीं लग पाया था। केवल कोल्लपूरक की पहचान डॉ. फ्लीट ने अचलपुर से लगभग २१ मील दक्षिण में स्थित कोलापूर के साथ की थी। किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि उसका वास्तविक नाम खोलापुर था जिसे यादव राजा सिंघण के सेनापति खोलेश्वर ने खिस्तोत्तर तेरहवी शती के आरम्भ में अपने नाम से बसाकर ब्राह्मणों को अग्रहार के रूप में दिया था। अतः उसके साथ प्रस्तुत ताम्रपट के कोल्लपूरक की पहचान सम्भव नहीं है तथा उसके आस पास चतुःसीमा के ग्राम भी दृष्टिगत नहीं होते। पटना संग्रहालय ताम्रपट का सम्पादन करते हुए डॉ. अलतेकर ने प्रतिपादित किया था कि उसमे दान के रूप में दिये गये श्रीपर्णीका ग्राम की सीमा के रूप में उल्लिखित ब्रह्मपूरक तथा प्रस्तुत ताम्रपट में उल्लिखित ब्रह्मपूरक अभिन्न होने चाहिए और उसकी पहचान उन्होने अचलपुर के निकटवर्ती ब्राह्मणवाडा के साथ की। किन्तु इस मत पर भी पूर्वोक्त आक्षेप लागू होता है, क्योंकि उसके आस पास अन्य कोई भी ग्राम प्राप्त नहीं होता। प्रस्तुत ताम्रपट द्वारा दान में दिया गया ग्राम बेण्णाकार्पर भोग में अन्तर्भुत था, यह निर्देश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। तिरोडी ताम्रपट के बेण्णाकट के समान इस विभाग का नाम भी बेण्णा अथवा वैनगंगा नदी से ही पड़ा होगा। यह बात मेरे ध्यान में आने पर अन्य ग्रामों का पता लगाने में कठिनाई नहीं हुई। करञ्जविरक दक्षिण-पूर्व रेलवे के नागपुर-कलकत्ता मार्ग पर स्थित आमगांव स्टेशन से छह मील दूर बसा हुआ कारंजा होना चाहिए। कारंजा से तीन मील दूर विद्यमान ब्रह्मनी दान में दिया गया प्राचीन ब्रह्मपूरक है। कोल्लपूरक की पहचान ब्रह्मनी के पश्चिम में पांच मील दूर कारंजा के निकटवर्ती कुल्पा के साथ की जा सकती है। पवरज्जवाटक तथा वटपूरक नामक ग्राम बम्हनी के निकट परसवाडा तथा वडगांव नाम से आज भी विद्यमान हैं। ये सब ग्राम वैनगंगा के पूर्वी तट से बीस से तीस मील के भीतर हैं। अतः प्राचीन काल में बेण्णाकार्पर भोग में उनका समावेश होता था, इसमें संशय नहीं।

वाचन[1]

प्रथम पत्र

पंक्ति

१ दृष्टम् ॥ अग्निष्टोमाप्तोर्य्यामोक्तथ्यषोडश्यतिरात्रवाजये(पे)यबृहस्पति-
सव-

२ साद्यस्क्रव(च)तुरश्वमेधयाजिनः विष्णुवृद्धसगोत्रस्य सम्राट्[2] वाकाटकाना-

३ म्महाराजश्रीप्रवरसेनस्य सूनोः सूनोः अत्यन्तस्वामिमहा-

४ भैरवभक्तस्य अन्स[3] भारसन्निव (वे) शितशिवलिङ्गोद्वहनशिवसुपरितुष्ट-

५ समुत्पादितराजवन्शा(वंशा)नाम् पराक्रमाधिगतभागीरत्थ्या(त्थ्य)-
मलजलमूर्द्धाभि-

द्वितीय पत्र : पहिली बाजू

६ षिक्तानाम् दशाश्वमेधावभृथस्नातानाम्भारशिवानाम्महाराजश्रीभवना-

७ गदौहित्रस्य गौतमि(मी)पुत्रस्य पुत्रस्य[4]। वाकाटकानाम्महाराजश्री-

८ रुद्रसेनस्य सूनोः अत्यन्तमाहेश्वरस्य। सत्यार्ज्जवकारुण्यशौ-

९ र्य्यविक्रमनयविनयमाहात्म्यधि(धी)मत्व(त्त्व)पात्रगतभक्तित्व[5]धर्म्म-
विजयि-

१० त्व मनोनैर्म्मल्यादिगुणसमुदितस्य। वर्षशतमभिवर्द्धमानकोश-

११ दण्डसाधनसन्तानपुत्रपौत्रिणः युधिष्ठिरवृत्तेर्व्वाकाटकानाम्महाराज-

द्वितीय पत्र : दूसरी बाजू

१२ श्रीपृथिवि(वी)षेणस्य सूनो[:*] भगवतश्चक्रपाणेः प्रसादोपार्ज्जित-

१३ श्रीसमुदयस्य। वाकाटकानाम्महाराजश्रि(श्री)रुद्रसेनस्य सूनोः

१. फ्लीट कृत गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ. २४८-४९ के सामने दिये गये छापों के आधार पर।

२. पढ़िये 'सम्राजो'। ३. पढ़िये 'अंस—'।

४. यह व इसके सदृश ७-२१ पंक्तियों में प्रयुक्त विरामचिह्न निरर्थक हैं।

५. डॉ. फ्लीट ने यहां 'पात्राधिगतभक्तित्व' पढ़ने का सुझाव दिया है, किन्तु वह आवश्यक नहीं है।

१४ पूर्व्वराजानुवृत्तमार्ग्गानुसारिणः सुनयबलपराक्क्रमो-
१५ च्छिन्नसर्व्वद्विषः महाराजाधिराजश्रीदेवगुप्तसुतायाम्प्रभावति(ती)-
१६ गुप्तायामुत्पन्नस्य शम्भो[:*] प्रसादधृति(त)कार्त्तयुगस्यः(स्य) वाकाटक-

तृतीय पत्र : पहिली बाजू

१७ वन्शालङ्कार[1]भूतस्य । महाराजश्रीप्रवरसेनस्य वचनात् वेण्णा-
१८ कार्परभा(भो)गे प्रवर्द्धमानराज्यसव्वत्सरे[2] । अष्टादशमे[3] । फाल्गु-
१९ नशुक्लद्वादश्याम् मौद्गल्यसगोत्राय । तैतिरि(री)यायाद्ध्वर्य्य-
२० वे देवशर्म्माचार्य्यायोदकपूर्व्वम् सकोरटः सपञ्चाशत्कः
२१ ब्रह्मपूरकन्नामग्रामोतिसृष्टः [।*] वटपूरकस्योत्तरेण । किणिहिखे-
२२ टकस्यापरेण । पवरज्जवाटकस्य दक्षिणेन । कोल्लपूरकस्य

तृतीय पत्र : दूसरी बाजू

२३ पूर्व्वेण । स्वसीमापर(रि)च्छ (च्छे)देन करञ्जविरकतटे । अत्रा(तो)-
स्मत्सन्तकाः
२४ सर्व्वाद्ध्यक्षन(नि)योगनियुक्ताः आज्ञासञ्चारिकुलपुत्राधिकृता भटाः[4]
२५ श्छात्राश्च विश्रुतपूर्व्वया आज्ञया आज्ञापयितव्याः [।*] विदित-
२६ मस्तु तः(वः) यथैपोस्माभिः आत्मनो धर्म्मायुर्व्वलविजयैश्वर्य्यवि[5]वृध-
(द्ध)ये
२७ इह(हा)मुत्रहितार्त्थमात्वा(त्मा)नुग्रहाय । वैजयिके धर्म्मस्थाने[6] ।
अभट-

चतुर्थ पत्र : पहिली बाजू

२८ च्छ(च्छा)त्रप्रावेश्यः अपारम्परगोबलिवर्द्दः अपुष्पक्षीरसन्दोह [:*]
अचा-
२९ रासनचर्म्माङ्गारः अल[7]वणक्लिन्व(न्न)क्रेणिखनकः सर्व्वविष्टिपरिहार-

१. पढ़िये 'वंशालंकार-' । २. पढ़िये 'संवत्सरे' ।
३. पढ़िये 'अष्टादशे' । ४. पढ़िये 'भटा—' ।
५. यहां प्रथम 'वि' कोरा गया था, बाद में उसे ठीक करके 'वि' किया गया ।
६. 'प्रतिसृष्टः' पद यहां छूट गया है ।
७. प्रथम 'लि' कोरा गया था । बाद में उसके शीर्षका अर्धवृत्त मिटा दिया गया ।

३० परिहृतः सनिधिः सोपनिधिः सक्लिप्तोपक्लिप्तः[1] आचन्द्रादित्य-

३१ कालि(ली)यः पुत्रपौत्रानुगामी । भुज्यमानो न केनचिद्बाधाघायि-

३२ तव्यः सर्व्वक्रियाभिः संरक्षितव्यः परिवर्द्धयितव्या(व्य)श्च [।*] यश्चास्म-

३३ च्छासनमगणयमानः स्वल्पामपि परिबाधान्कुर्य्यात्कारयीत वा[2]

चतुर्थ पत्र : दूसरी बाजू

३४ तस्य ब्राह्मणैरावेदितस्य । सदण्डनिग्रहं कुर्य्याम कारयेम वेति [।*]

३५ सेनापतौ बाप्पदेवे लिखितमाचार्येण ।। अस्मि(स्मि)श्च ध[र्म्मा]-धिकर-

३६ णे[3] अति (ती)तानेकराजदत्तास्संचिन्तनपरिपालन[4] कृतपु-

३७ ण्यानुत्कीर्त्तयामः[5] [।*] एष्यन्तत्कालप्रभविष्णूनं[6] गौरवाद्भविष्यान्वि-

३८ ज्ञापयामः ।। व्यासगीतौ चात्र श्लोकौ प्रमाणीकर्त्तव्यौ ।।

३९ षष्टिवर्षसहस्राणि स्वर्गे मोदति भूमिद [।*] आच्छेत्ता चानुमन्ता-(न्ता)

४० च तान्येव नरके वसेत(त्[7]) ।। [१।।*] स्वदत्ताम्परदत्तार्व्वा यो हरे-

४० त वसुन्धराम(म्) [।*] गवां शतसहस्रस्य हन्तुर्हरति दुष्कृतमिति[8] ।।

मुद्रा

१ वाकाटकललामस्य

२ क्रमप्राप्तनृपश्रिय. [।*]

३ राज्ञ्=प्रवरसेनस्य

४ शासन(नं) रिपुशासनम्[10] [।।*]

१. पढ़िये 'सक्लप्तोपक्लप्तः' । २. पढ़िये 'परिबाधाङ्कुर्य्यात् कारयेद्वा ।

३. इस राजा के अन्य दान पत्रों में 'धर्म्मादिरकरणे' पद प्राप्त होता है ।

४. पढ़िये '—राजदत्तसञ्चिन्तनपरिपालनं' ।

५. पढ़िये 'कृतपुण्यानुकीर्त्तनपरिहारार्थं न कीर्त्तयामः' ।

६. पढ़िये 'एष्यत्कालप्रभविष्णूनां' ।

७. इसका व अगले श्लोकक वृत्त —अनुष्टुभ् । ८. पढ़िये -म्परदत्तां वा' ।

९. पढ़िये 'दुष्कृतम् ।। इति ।।' १०. वृत्त—अनुष्टुभ् ।

८. प्रभावतीगुप्ता का ऋद्धपुर ताम्रपट

उपलब्धि—यह ताम्रपट अमरावती जिलेके ऋद्धपुर ग्राम में महानुभाव पंथ के महंत दत्तराज के संग्रह में था। श्री० य० रा० गुप्त ने दो बार इसका संपादन किया—प्रथम भारत इतिहास संशोधन मण्डल की त्रैमासिक पत्रिका में[1] और बाद में बंगाल एशियाटिक सोसायटी की शोध-पत्रिका में[2]। बगाल एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका में उन्होंने इस ताम्रपट के पत्रों की उलटी छाप और अंगरेजी अनुवाद भी प्रकाशित किया है। इसी छाप से यह ताम्रपट यहां संपादित किया जा रहा है।

वर्णन—इस ताम्रपट के चार पत्र हैं। उनकी लंबाई ६$\frac{3}{4}$" और चौड़ाई ३$\frac{3}{4}$" है। प्रथम तथा चतुर्थ पत्र के एक ओर और अन्य पत्रों के दोनों ओर लेख उत्कीर्ण है। लेख में कुल ३२ पंक्तियां हैं। उनमें से प्रथम पत्र पर पांच, दूसरे और तीसरे पत्र के दोनों ओर छह छह, तथा चौथे पत्र पर तीन पंक्तियां हैं। अक्षर गहरे कोरे गये हैं। सम्पूर्ण लेख अच्छी स्थिति में है। प्रत्येक पत्र में कड़े के लिए $\frac{1}{4}$ इंच व्यास का छेद है। किन्तु कड़ा अथवा उसपर की मुद्रा उपलब्ध नहीं है। चारो पत्रों का कुल वजन ११६ तोला है।

लिपि—इस लेख की लिपि प्रवरसेन द्वितीय के ताम्रपटों की भांति पेटिका-शीर्षक प्रकार की है। उसकी निम्नलिखित विशेषताएं उल्लेखनीय हैं—दीर्घ 'ई' दो अर्धवृत्तों के द्वारा अथवा एक अर्द्धवृत्त में बिंदु रखकर बनाया गया है। व्यञ्जनरहित ऐकार 'ऐहिक'—(पंक्ति १३) शब्द में आया है। व्यञ्जनयुक्त 'औ' द्विभागयुक्त है। 'खनक' (पं० १९) शब्द में 'ख' के नीचे गांठ है, किन्तु 'लिखित' (पं० ३१) शब्द में वह दृष्टिगत नही होती। 'ग' और 'श' की बायी ओर की रेखा का निचला सिरा भीतर की ओर मुड़ा हुआ है। 'ड' और 'द' के आकार भिन्न हैं। 'ब' के बायीं ओर गड्ढा है। स्वररहित व्यञ्जनों का आकार छोटा है। जिह्वामूलीय का चिह्न २२ वीं पंक्ति में तथा उपध्मानीय का चिह्न पंक्ति क्रमांक १, ६, २२, २६ व २९ में आया है।

भाषा—प्रस्तुत लेख की भाषा संस्कृत है तथा अन्त के शापाशीर्वादात्मक श्लोकों के अतिरिक्त शेष भाग गद्य में है। अन्य ताम्रपटों की भांति इस लेख में भी लेखन की निम्न विशेषताएं हैं—'र्' के पूर्व तथा पश्चात् आनेवाले व्यञ्जन का द्वित्व किया गया

१ जि. ३, क्रमांक २-४, पृ. ८० इत्यादि।
२ नवीन माला, जि. २०, पृ. ५३ इत्यादि।

है। इसी प्रकार 'य्' के पूर्ववर्ती व्यञ्जन का भी द्वित्व पाया जाता है। 'ल्' के स्थान पर लि 'लि' लिखा गया है। उदाहरणार्थ २० वीं पंक्ति में 'उपक्लिप्त' द्रष्टव्य है।

विषय—प्रभावतीगुप्ता के पूना ताम्रपट के समान प्रस्तुत ताम्रपट के लेख का आरम्भ भी 'जितं भगवता' (भगवान् विष्णु विजयी हुए) इन शब्दों से हुआ है। पूना ताम्रपट में तथा प्रवरसेन द्वितीय के बहुतेक पूर्ण ताम्रपटो के आरम्भ में प्रयुक्त 'दृष्टम्' शब्द प्रस्तुत लेख में दृष्टिगत नहीं होता। तथापि प्रस्तुत ताम्रपट की लिपि तथा लेख का अवलोकन करने पर उसकी प्रामाणिकता में सन्देह के लिए अवकाश नहीं रहता।

प्रस्तुत लेख महाराज रुद्रसेन द्वितीय की अग्रमहिषी तथा वाकाटक महाराज दामोदरसेन-प्रवरसेन की जननी प्रभावतीगुप्ता का है। यह ताम्रपट वाकाटक महाराज प्रवरसेन द्वितीय के १९ वें शासन वर्ष में प्रदान किया गया था; किंतु यह आश्चर्य का विषय है कि इस लेख के प्रास्ताविक भाग में वाकाटको की वंशावली न देकर गुप्तों की वंशावली दी गई है। यही प्रकार प्रभावतीगुप्ता के पूना ताम्रपट में भी पाया जाता है। वह ताम्रपट प्रभावतीगुप्ता ने उस समय दिया था जब वह अपने अल्पवयस्क पुत्र युवराज दिवाकरसेन की ओर से राज्यकार्य संभाल रही थी। प्रतीत होता है कि उस समय उसके पिता द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपनी पुत्री को राज्यकार्य मे सहायता देने के लिए कुछ गुप्त अधिकारियो को वाकाटक राजसभा में भेजा था। यह कहा जा सकता है कि इन्ही अधिकारियों के प्रभाव के कारण पूना ताम्रपट मे वाकाटको की वंशावली न देकर गुप्त वंशावली दी गई होगी; किन्तु प्रस्तुत ताम्रपट मे गुप्त-वंशावली का यह कारण नही हो सकता, क्योंकि इस ताम्रपट के समय प्रवरसेन द्वितीय बालिग हो चुका था। इतना ही नहीं, उसके राज्यकाल का वह १९ वर्ष था। उसके सभी ताम्रपटो मे वाकाटको की ही वंशावली दी गई है। अतः प्रस्तुत ताम्रपट मे गुप्तो की वंशावली देने का कारण प्रभावतीगुप्ता का पितृकुलविषयक अभिमान ही होना चाहिए।

इस ताम्रपट में गुप्तो की वंशावली पूना ताम्रपट के समान है। अन्तर केवल इतना है कि इसमे चन्द्रगुप्त द्वितीय के लिए सम्राट् पद की सूचक 'महाराजाधिराज' उपाधि का प्रयोग किया गया है। दिग्विजयी समुद्रगुप्त सहित उसके (चन्द्रगुप्त के) सभी पूर्वजो के सम्बन्ध में केवल 'महाराज' की उपाधि का उल्लेख है। वाकाटक सम्राट् रुद्रसेन द्वितीय तथा प्रवरसेन द्वितीय के लिए भी अन्य ताम्रपटों की भांति 'महाराज' की उपाधि का ही प्रयोग किया गया है। प्रभावतीगुप्ता का वर्णन 'भगवत्पादानुध्याता' (भगवान् विष्णु के चरणों के ध्यान में लीन) शब्द के द्वारा किया गया है। इससे स्पष्ट है कि वह विष्णु की उपासिका थी।

यह ताम्रपट रामगिरिस्वामी की पादुका के निकट (रामगिरिस्वामिनः पाद-मूलात्) प्रदान किया गया था। रामगिरिस्वामी का आशय भगवान् रामचन्द्र से है। प्रस्तुत लेख का उद्देश्य था प्रभावतीगुप्ता द्वारा कतिपय ब्राह्मणों को कौशिक मार्ग में स्थित अश्वत्थनगर का एक खेत, घर तथा कृषकों के लिए निर्मित चार झोंपड़े दान करने का उल्लेख। उसमे कहा गया है कि ये ब्राह्मण तैत्तिरीय शाखा तथा पाराशर गोत्र के थे; किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि प्रस्तुत लेख में उनके नामों का उल्लेख नहीं है। यह ताम्रपट प्रवरसेन द्वितीय के १९ वें शासन-वर्ष में कार्तिक शुक्ल द्वादशी के दिन दिया गया था। विष्णु की उपासिका होने के कारण प्रभावतीगुप्ता ने यह दान प्रबोधिनी एकादशी के दिन उपवास कर द्वादशी को पारणा के समय दिया था। उसका पूना ताम्रपट भी ऐसे ही प्रसङ्ग में दिया गया था। प्रस्तुत लेख का दूतक (सचिवालय मे राजाज्ञा पहुंचानेवाला) देवनंदस्वामी और लेखक प्रभुसिंह था।

चर्चा—प्रभावतीगुप्ता के वर्णन में प्रयुक्त एक विशेषण विद्वानों के बीच अत्यधिक विवाद का विषय रहा है। इस ताम्रपट के सम्पादक श्री० य० रा० गुप्ते ने इस विशेषण को 'साग्रवर्षशतदिवपुत्रपौत्रा' इस प्रकार पढ़ा तथा उसके दो अर्थ किये—(१) जिसे पुत्र और पौत्र उत्पन्न हुए हैं तथा जो शतायु होकर अन्त में स्वर्ग में जाकर निवास करेगी, और (२) जिसके यशस्वी पुत्र व पौत्र विद्यमान हैं तथा जो सौ वर्ष जीवित रही है। श्री. गुप्ते आगे कहते हैं कि इस लेख के लेखक को इन शब्दो का वाच्यार्थ विवक्षित न था तथा उनका उद्देश्य केवल यह सूचित करना था कि प्रभावतीगुप्ता दीर्घकाल तक जीवित थी तथा उसे यशस्वी पुत्र व पौत्र उत्पन्न हुए थे। तदनन्तर यह पाया गया कि इस स्थल का शुद्ध पाठ 'दिवपुत्रपौत्रा' न होकर 'जीवपुत्रपौत्रा' है। डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार ने प्रस्तुत वर्णन को वाच्यार्थ में लेकर उसका यह अर्थ किया कि प्रवरसेन द्वितीय के राज्य के उन्नीसवें वर्ष में प्रभावतीगुप्ता शतायु हो चुकी थी तथा उसके पुत्र और पौत्र हो चुके थे। इस अर्थ को उन्होंने वाकाटको के कालविषयक अपनी कल्पना का आधार बनाया है। किन्तु वह युक्तिसंगत प्रतीत नही होता। उपर्युक्त शब्द-समूह में 'जीवपुत्रपौत्रा' इस भाग का अर्थ है 'जिसके पुत्र व पौत्र जीवित हैं'। इसी अर्थ में 'जीवपुत्रा' तथा 'जीवसुता' ये दो विशेषण ऋग्वेद, महाभारत, रामायण आदि प्राचीन ग्रन्थों तथा कतिपय उत्कीर्ण लेखों में प्राप्त होते हैं। अपने पुत्र-पौत्रो का जीवित होना भाग्य का लक्षण माना जाता था; अतः इस प्रकार के विशेषण स्त्रियों के वर्णन में अनेक स्थलों पर प्रयुक्त हैं। 'जीवपुत्रपौत्रा' के पूर्व प्रयुक्त दीर्घायुष्य-सूचक 'साग्रवर्षशत' इस सामासिक शब्द का सम्बन्ध आगे प्रयुक्त 'जीव' शब्द से है। अतः इस शब्दसमूह का अभिप्राय प्रभावतीगुप्ता के नहीं अपितु उसके पुत्र-पौत्रों के दीर्घायुष्य से है।

प्रभावतीगुप्ता के समान विधवा के लिए सौ वर्ष जीने का लोभ होना सम्भव नहीं है। कोई भी भारतीय स्त्री वैधव्य में अपने दीर्घायुष्य का उल्लेख अपने ही लेखों में अभिमान के साथ नहीं करेगी। अतः इस शब्दसमूह में उल्लिखित शतायु का सम्बन्ध प्रभावतीगुप्ता से न होकर उसके पुत्र-पौत्रों से है, यह स्पष्ट है। इस उल्लेख को वाच्यार्थ में न लेकर छोटे बालकों के लिए 'दीर्घायु' अथवा 'आयुष्मान्' आदि विशेषण जिस अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, उसी अर्थ में लेना चाहिए। बालकों के दीर्घायुष्य की कामना करना ही ऐसे विशेषणों का उद्देश्य रहता है। अतः प्रस्तुत विशेषण का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए, वह (स्त्री) जिसके शतायु होनेवाले पुत्र और पुत्र जीवित हैं।

प्रभावतीगुप्ता के वर्णन में दूसरा विशेषण है "वाकाटकानां महाराज-श्रीदामोदरसेनप्रवरसेनजननी"। इस विशेषण का अर्थ भी संशोधकों ने विविध प्रकार से किया है। डॉ० मजूमदार के मतानुसार प्रभावतीगुप्ता के दामोदरसेन तथा प्रवरसेन नामक दो पुत्र थे। किन्तु यदि ऐसा होता तो जिस प्रकार 'वाकाटकानां महाराज' विशेषण मृत दामोदरसेन के नाम के साथ लगाया गया है उसी प्रकार जीवित प्रवरसेन के लिए भी प्रयुक्त होता। वाकाटक ताम्रपटो में उन सभी राजाओं के लिए, जिन्होने राज्य किया था, इस विशेषण का प्रयोग किया गया है। यदि यह विशेषण दोनो को लगाने का उद्देश्य था, तो यह कहना कठिन है कि उनके पूर्ववर्ती दिवाकरसेन का नाम इसमे क्यो छोड़ दिया गया। पूना ताम्रपट के समय प्रभावतीगुप्ता को प्रवरसेन पुत्र उत्पन्न हो चुका था। किन्तु उस ताम्रपट मे उसका नाम न देकर उस समय सिंहासन पर आसीन 'युवराज' दिवाकरसेन का ही उल्लेख किया गया है। अतः प्रस्तुत ताम्रपट का उल्लेख भी मृत राजा अथवा राजपुत्र का न होकर उस समय राज्य करनेवाले राजा अर्थात् केवल प्रवरसेन द्वितीय का होना चाहिए। इस प्रकार प्रतीत होता है कि दामोदरसेन व प्रवरसेन एक ही थे तथा राज्याभिषेक के समय दामोदरसेन ने अपने यशस्वी पूर्वज प्रवरसेन प्रथम का नाम धारण किया था।

स्थलनिश्चय—प्रस्तुत ताम्रपट मे उल्लिखित स्थलों में से **रामगिरि** नागपुर से २७ मील दूर स्थित रामटेक है। यह गांव वाकाटको की प्राचीन राजधानी नन्दिवर्धन से लगभग तीन मील है। कविकुलगुरु कालिदास ने अपने मेघदूत में रामगिरिका उल्लेख निर्वासित यक्ष के निवासस्थान के रूप में किया है। मेघदूत के वर्णन से प्रतीत होता है कि रामगिरि पर भगवान् रामचन्द्र की पादुकाओं की पूजा होती थी। प्रस्तुत ताम्रपट भी रामगिरिस्वामी की (अर्थात् भगवान् रामचन्द्र की) पादुकाओ के निकट ही दिया गया था। मेघदूत में रामगिरि और वहां से उत्तर की ओर जानेवाले मार्ग मे पड़ने वाले स्थलो का वर्णन रामटेक के सम्बन्ध में भली भांति

लागू होता है[1]। इस के अतिरिक्त अनेक शताब्दियों से लेकर आज तक रामटेक एक पवित्र क्षेत्र माना जाता रहा है। अतः वही रामगिरि है, इस में संशय नहीं। प्रभावतीगुप्ता तथा प्रवरसेन द्वितीय के कितने ही दान प्रथम भगवान् की पादुकाओं को अर्पित कर बाद में ब्राह्मणो को दिये गये थे। यहां भगवान् का अभिप्राय श्रीरामचन्द्र से है जिन की पादुकाएँ रामगिरि पर स्थापित थीं। अश्वत्थनगर अमरावती जिले की अचलपुर तहसील में स्थित असतपुर होना चाहिए। जिस 'कौशिकमार्ग' अर्थात् विभाग में अश्वत्थनगर बसा हुआ था, उस का अब कोई नाम निशान नहीं है।

वाचन[2]

पंक्ति

प्रथम पत्र

१ जित(तं) भगवता ॥ रामगिरिस्वामिन×पादमूलाद् गुप्तान(ना)मादि-

२ राजो[3] महाराजश्रीघटोत्कचस्तस्य पुत्रो महाराजश्रीचन्द्र-

३ गुप्त[:*] तस्य पुत्रस्तत्पादपरिगृहि(ही)त(तो) लिच्छविदौहित्रो

४ महादेव्या(व्यां) कुमारदेव्यामुत्पन्नो महाराजश्रीसमुद्रगुप्तस्तस्य पुत्र-

५ स्तत्पादानुद्ध्यातो न्यायागतानेकगोहिरण्यकोटिसहस्रप्रदस्सर्व्वराजो-

द्वितीय पत्र : पहिली बाजू

६ च्छेत्ता पृथिव्यामप्रतिरथ×परमभागवतो महादेव्या(व्यां) दत्तदेव्यामु-

७ त्पनो(न्नो) महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तस्तस्य दुहिता धारणसगोत्रा

८ नागकुलोत्पन्नाया(यां) कुबेरा(र)नाग(गा)देव्यामुत्पन्ना उभयकुलाल-

९ ङ्कारभूता वाकाटकाना(नां) महाराजश्रीरुद्रसेनस्याग्रमहिषी

१० वाकाटकानाम्महाराजश्रीदामोदरसेनप्रवरसेनजननी भग-

१ हमारी पुस्तक 'मेघदूत में रामगिरि अर्थात् रामटेक' मे इसका सविस्तर विवेचन देखिये।

२. बंगाल एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका, जि. २०, पृ ५८ व ६८ के सामने की छापो पर से।

३. पूना ताम्रपट में 'गुप्तादिराजो' है।

११ वत्पादानुद्ध्याता स(सा)प्रवर्षशतजीवपुत्रपौत्रा श्र(श्री)महादेवी
प्रभ(भा)वती[1]-

द्वितीय पत्र : दूसरी बाजू

१२ गुप्ता ॥ कौशिकमार्गे(र्गे) अश्वत्थनगरे सब्रह्(ब्राह्म)णपुर(रो)ग-
ग्राममहत्तरा(रां)श्च

१३ कुशलमुक्त्वा सम(मा)ज्ञापयत(ति) [।*] ऐहिकामुत्रिकमस्मिन्नगरे स्व-
पुण्याप्या[यना]र्थे(र्थं)

१४ पराशरगोत्राणा(णां) तैत्तिरीयब्राह्मणानामप्यपुत्रापुत्राणां[2] अभ्य-

१५ न्तरनिवेशने[न*] सह कर्षकनिवेशनानि च[3] चत्वार(रि)

१६ भुक्ता(क्त)काभोगक्षेत्रमुदकपूर्व्व(र्व्वं) शासनेनो(न) सति(नि)बद्धं(द्धम्)।
उचितांश्चास्य[4]

१७ पूर्व्वराजानुमताञ्चातुर्व्विद्यग्राममर्य्यादान्वितराम[5]स्तद्यथा

तृतीय पत्र : पहिली बाजू

१८ अकरदायी(यि[6])अभटच्छत्रप्रावेश्य(श्यं) अपुष्पक्षीरसन्दोह(हं) अचारा-

१९ सनचर्म्माङ्गार(रं) अलवणक्लिन्नक्रेणिखनक(कं) सर्व्वविष्टिपरिहारा(र)-

२० परिहृत(तं) सनिधानं सोपनिधानं सक्ल(क्लृ)प्तोपक्लि(क्लृ)प्तम(मा)-
चन्द्रा-

२१ दित्यकालीय(यं) पुत्रपौत्रानुगामि भुजन्ता(तां) न केनिचिद्व्याघात-

२२ ×कर्त्तव्यः सर्व्वक्रियाभिस्संरक्षितव्य×परिवर्द्धयितव्यश्च [।*] यश्च-
(श्चा)स्मा(स्म)-

२३ च्छासनमगणयमान[:*] स्वल्पामपि परिबाधा(धां) कुर्य्यात्कारयि(ये)-
त वा तस्य

१. छापे में 'प्रभावती' में 'ती' का इकार दीर्घ दिखाई देता है। श्री. गुप्ते 'प्रभावति' पढ़ते हैं।

२. पढ़िये 'ब्राह्मणानां सपुत्रापुत्राणां'। ३. यह शब्द निरर्थक है।

४. पढ़िये 'उचितां चास्य'। ५. पढ़िये 'मर्य्यादां वितराम'।

६. यह व इसके बाद के विशेषण नपुंसक लिंग एक वचन में होने चाहिए; क्योंकि इनका विशेष्य 'भुक्तकाभोगक्षेत्रं' (पं.१६) है।

तृतीय पत्र : दूसरी बाजू

२४ ब्राह्मण(णै)रावेदितस्य सदण्डनिग्रहं करिस्या(ष्या)मः [।*] अस्मि-
(स्मि)श्च धर्मादर-

२५ करणे अनी(ती)तानेकराजदत्ता(त्त)सञ्चित(न्त)नपरिपालनं पुण्यानु-
कीर्त्तन-

२६ परिहारार्थं न कीर्त्तयामः [।*] सङ्कल्पाधि(भि)योगपराक्रमोपजि-

२७ तातान्वर्त्तमानाम(ना)ज्ञापयामः। व्यासगीतश्चात्र श्लोक×प्रमाणं(णम्)।

२८ स्वदत्ता(त्तां) परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धराम् [।*] गवां शतसहस्रस्य

२९ हन्तु×पिबति दुष्कृतमिति[1] ॥ वाकाटकाना(नां) महाराजश्रीप्रवर-

चतुर्थ पत्र

३० सेनस्य राज्यप्रशासतसव्वत्सरे[2] एकुनविंशतिमे[3] ॥ कार्त्तिकमा-

३१ सशुक्लपक्षद्वादश्या(श्याम्।) दूतक(को) देवनन्दस्वामि(मी)[4] [।*]
ली(लि)खितं

३२ प्रभुसिङ्हेन[5] ॥

१. पढ़िये 'दुष्कृतम्' 'इति'। वृत्त-अनुष्टुभ्।
२. पढ़िये 'राज्यं प्रशासतः संवत्सरे'।
३. पढ़िये 'एकोनविंशतितमे'।
४. श्री. गुप्तेने अपने दोनों लेखों में यह नाम 'वेवन्दस्वामि' दिया है, किन्तु शुद्ध वाचन ऊपर दिया गया है।
५. पढ़िये 'प्रभुसिंहेन'।

९. प्रवरसेन द्वितीय का इन्दौर ताम्रपट

उपलब्धि—यह ताम्रपट इन्दौर के स्व. पंडित वामनशास्त्री इसलामपुर करके संग्रह में था। वह कहाँ प्राप्त हुआ था, ज्ञात नहीं है। किन्तु पं० इसलामपुरकर के संग्रह में विद्यमान कुछ अन्य ताम्रपटो के समान यह भी मूलतः इंदौर का न होकर संस्कृत पोथियों तथा प्राचीन वस्तुओं के संग्रह के लिए उनके द्वारा की गई यात्रा के समय कहीं अन्यत्र प्राप्त हुआ प्रतीत होता है। श्री. सुशील बोस को वह प्रकाशन के लिए प्राप्त हुआ। श्री. बोस ने उसे एपिग्राफिया इंडिका, जि० २४, पृ० ५२३ में छापे सहित प्रकाशित किया। उसी छापे से यहां उसका वाचन किया गया है।

वर्णन—इस ताम्रपट के तीन पत्रो की लम्बाई ७ इंच और चौड़ाई $3\frac{1}{2}$ इंच है। उनकी किनारें मोड़ी नही गई हैं। प्रत्येक पत्र की बायीं ओर की किनारे से दो इंच पर मध्यभाग में कड़े के लिए $\frac{5}{16}''$ व्यास का एक छिद्र है, किन्तु कड़ा अथवा मुद्रा प्राप्त नहीं हुई। अवशिष्ट लेख से प्रतीत होता है कि आरम्भ में इस ताम्रपट के चार पत्र थे। उनमे से प्रथम पत्र इस समय प्राप्त नहीं है। प्रवरसेन द्वितीय के अन्य ताम्रपटों के समान वह पत्र भी सम्भवतः एक ही ओर उत्कीर्ण था। इस प्रकार प्रस्तुत लेख के आरम्भ की लगभग सात पंक्तियां सम्प्रति नष्ट हो चुकी हैं। अवशिष्ट तीन पत्रो मे से प्रथम दो पर दोनो ओर तथा अन्तिम पत्र पर एक ओर लेख उत्कीर्ण है। लेख अच्छी स्थिति में है। उसके अवशिष्ट भाग में सब मिलाकर चौंतीस पंक्तियां हैं; उनमे से दूसरे पत्र के प्रथम पार्श्वपर छह तथा उसके व इतर पत्रो के उत्कीर्ण पार्श्वोंपर सात सात पंक्तियां हैं। पत्रो के वजन का उल्लेख नहीं किया गया।

लिपि—प्रवरसेन द्वितीय के अन्य ताम्रपटो की भांति प्रस्तुत लेख की लिपि भी पेटिकाशीर्षक प्रकार की है। उसकी निम्न विशेषताएं उल्लेखनीय हैं। लृकार, जो बहुत कम प्रयुक्त है, 'सक्लृप्तोक्लृप्त' (पं० २३) शब्दो में आया है। 'ग' और 'श' के बायीं ओर की रेखा का निचला भाग भीतर की ओर मुड़ा हुआ है। 'पौत्रिणः' (पं. ४) शब्द मे 'ण' मे गाठ नही है। 'न' का नागरी लिपी का रूप 'रुद्रसेन —(पं. ६) शब्द मे दृष्टिगत होता है। 'त' बहुधा ग्रन्थिरहित है, किन्तु कही कहीं 'न' के साथ उसकी अदला-बदली हो गई है। उदाहरणार्थ, 'सञ्चिन्तन' (पं. २८) द्रष्टव्य है। सिवनी ताम्रपट के समान 'ब' दो प्रकार का है।

भाषा—लेख संस्कृत भाषा में है तथा अन्तिम शापाशीर्वादात्मक श्लोकों के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण भाग गद्य मे है। लेखन की विशेषताएं इस प्रकार हैं—

'र्' के अनन्तर व 'य्' के पूर्व व्यञ्जनका द्वित्व किया गया है; 'परिदत्ताव्वा' (पं. ३२) शब्द में 'व्' का द्वित्व सम्भवतः अलिखित अनुस्वार के कारण हुआ है। कहीं-कहीं 'ऋ' और 'रि' की अदलाबदली हो गई है।

विषय—प्रस्तुत दानपत्र वाकाटक महाराज द्वितीय प्रवरसेन का है। उसकी वंशावली जांब ताम्रपट के समान ही थी, किन्तु प्रथम पत्र प्राप्त न होने से उसका आरम्भिक भाग, जिसमें प्रथम प्रवरसेन तथा भवनाग का वर्णन था, नष्ट हो गया है। जिस स्थान से यह ताम्रपट दिया गया था उसका नाम भी स्वभावतः ही नष्ट हो गया है। किन्तु प्रस्तुत दान वैजयिक धर्मस्थान में दिया गया था। अतः यह ताम्रपट भी राजधानी प्रवरपुर से ही दिया गया होगा। यह लेख असावधानी से लिखा गया है। कुछ स्थलों पर शब्द छूट हो गये थे; वे बाद में उचित स्थान पर न लिखकर अन्यत्र लिखे गये हैं। एक स्थान पर तो ग्राम के स्थान पर ब्राह्मण का नाम लिखा गया है। इन सब कारणों से सम्पूर्ण लेख का अर्थ समझना कठिन हो गया है। तथापि प्रवरसेन द्वितीयके एक ग्रामदान का उल्लेख करना उसका उद्देश्य प्रतीत होता है। लेखक की असावधानी से इस ग्राम का नाम नहीं लिखा गया, तथापि उसकी चारों सीमाएं दी गई हैं। 'गेपुर के मार्ग' में स्थित यह ग्राम आरामक के उत्तर में, कोविदारक के पूर्व मे, कोशम्बक के दक्षिण मे तथा अञ्जनवाटक के पश्चिम में था। ग्यारहवी पंक्ति में कहा गया है कि प्रवरसेन ने यह दान अपने पुण्य, आयुष्य, बल तथा ऐश्वर्य की वृद्धि के निमित्त दिया था। किन्तु बीसवीं पंक्ति तथा तेरहवीं पंक्ति के अन्तिम शब्दों को एक साथ पढ़ने पर ज्ञात होता है कि उस वाटक का अर्धभाग चन्द्र नामक बनियां ने खरीदकर भगवान् की पादुकाओ के निकट ब्राह्मणों को दिया था। ये पादुकाएं बहुधा रामगिरि पर श्रीरामचन्द्र की ही होनी चाहिए। सतरहवीं तथा अठारहवी पंक्तियो में कहा गया है कि यह ग्राम पहले ही दे दिया था और इस ताम्रपट में उसका उल्लेख मात्र किया गया है। तथापि प्रवरसेन कहता है कि यह दान मैं जल छोड़कर दे रहा हूँ। इन विविध उल्लेखो से ज्ञात होता है कि चन्द्र नामक बनियां ने ग्राम का अर्धभाग खरीदकर कतिपय ब्राह्मणो को दान दिया और द्वितीय प्रवरसेन से उसके निमित्त ताम्रपट देने की प्रार्थना की। इसपर प्रवरसेन ने अवशिष्ट अर्धभाग अपने पुण्यादि की वृद्धि के निमित्त उन्हीं ब्राह्मणों को दान देकर सम्पूर्ण ग्राम का ताम्रपट दिया। यह दान अधोनिर्दिष्ट ब्राह्मणों को दिया गया था आरामक-निवासी वाजिकौशिकगोत्री विशाखार्य का पुत्र गोडार्य तथा उसके छह पुत्र मनोरथार्य, गोवार्य, देवार्य, बप्पार्य, कुमारार्य और द्रोणार्य। यह दान द्वितीय प्रवरसेन के तेईसवें शासन-वर्ष में वैशाखकृष्ण पंचमी को दिया गया था। इस ताम्रपट का लेखक था रजुक कोट्टदेव।

रज्जुक—प्रस्तुत ताम्रपट में रज्जुक (अथवा राजुक) नामक अधिकारी का उल्लेख महत्त्व का है। राजुक का सर्वप्रथम उल्लेख अशोक के लेखों में प्राप्त होता है। वह एक उच्च अधिकारी था जिसका शासन हजारों लोगो पर चलता था। उनपर निग्रहानुग्रह करने का अधिकार उसे प्राप्त था। 'राजुक' शब्द संस्कृत 'रज्जु' से निकला है। अतः मूलतः इस अधिकारी का कार्य भूमि को मापकर कर निश्चित करता रहा होगा। प्रस्तुत ताम्रपट में उसके उल्लेख से ज्ञात होता है कि ईसा को पांचवीं शती के आरम्भ तक यह संज्ञा प्रचलित थी।

स्थलनिश्चय—प्रस्तुत ताम्रपट निश्चितरूप से किस स्थान पर प्राप्त हुआ, यह ज्ञात न होने से उसमें उल्लिखित ग्रामो का पता लगाना एक कठिन काम है और इसी कारण उनमें से एक का भी पता अब तक नहीं लग पाया था। पर्याप्त प्रयत्न करने पर कुछ ग्राम बालाघाट जिले में प्रस्तुत ताम्रपट में निर्दिष्ट दिशाओं में मुझे प्राप्त हुए। दान में दिये गये ग्राम के उत्तर में स्थित कोशम्ब ग्राम तथा प्रवरसेन द्वितीय द्वारा तिरोडी ताम्रपट में दिया गया कोशंबखंड सम्भवतः एक हैं। वह तिरोडी के दक्षिण में ६ मील पर कोसंब नाम से आज भी विद्यमान है। पूर्व के अंजनवाटक की पहचान कोसंब के दक्षिण-पूर्व में ५ मील दूर अंजनवाडी से की जा सकती है। पश्चिम का कोविदारक कदाचित् कोसंब के नैर्ऋत्य में ४ मील की दूरी पर स्थित कुनार गांव हो। ये तीन ग्राम प्रस्तुत ताम्रपट में उल्लिखित दिशाओं में प्राप्त होते हैं; अतः उनकी पहचान ठीक प्रतीत होती है। केवल गेपुरक तथा आरामक का पता आसपास नही लगता। तथापि उपर्युक्त तीन ग्रामों की शोध से प्रतीत होता है कि प्रस्तुत ताम्रपट मूलतः मध्यप्रदेश के बालाघाट जिले का था।

वाचन[1]

पंक्ति *द्वितीयपत्र : पहली बाजू*

१ द (दौ)हित्रस्य गौतमीपुत्रस्य पुत्रस्य वाकाटक(का)नाम्महार(रा)ज-श्रीरुद्रसेनस्य सूनो[:*]

२ अत्य[न्त]म(मा)हेश्वरस्य सत्यार्जवकारुण्यशौर्य्यविक्रमनयविनय-माहात्म्य-

३ धि(धी)मत्व(त्त्व) पात्रगतभक्तित्वधर्म्मविजयित्वमनोनैर्म्मल्यादिगुणस-मुदितस्य

१. एपिग्राफिया इंडिया, जि. २४, पृ. ५५ के सामने दी गई छाप से।

४ वर्षशतमभ(भि)वर्द्धमानकोशदण्डसाधनसन्तानपुत्रपौ[त्रिण][:*] युधिष्ठिर-

५ वृत्तेर्व्वाकाटकाना(नां) महाराजश्रीप्रि(पृ)थिविषेणस्य सूनोः भगवतश्च-क्रपाणे[:*]

६ प्रसादोपार्ज्जितश्रीसमुदयस्य वाकाटकाना(नां) महाराजश्रीरुद्रसेन-

द्वितीय पत्र : दूसरी बाजू

७ स्य सूनो[:*] महाराजाधिराजश्रि(श्री)देवगुप्तसुताया(यां) प्रभावति-गुप्तायामुत्पन्न-

८ स्य वाकाटकानाम्महाराजश्रीप्रवरसेनस्य वचना[त्*] गेपुरमार्गे अस्म-

९ त्सन्तिका[1]स्सर्व्वाद्धयक्षनियोगनियुक्ताः आज्ञासंचारिकुलपुत्राधिकृता भटा-

१० [च्छा[2]]त्राश्च व्युषितपूर्व्वमयाज्ञयाज्ञापयितव्या[:।*] विदितमस्तु वः

११ यवा(थे)हास्माभिरात्मनो ५(ध)र्म्म(र्म्मा)युर्ब्ले(र्ब्ब)ल(लै)श्वर्य्यविवृद्धिय[4] इहामुत्रहितार्थं

१२ वैजयिके धर्म्मस्थाने आरामकस्य उत्तरपार्श्वे कोबिदारिकाया(याः) पूर्व-

१३ पार्श्वे मुल दतामिति[5] ।

तृतीय पत्र : पहिली बाजू

१४ कोशम्बकस्य दक्षिणपार्श्व(र्श्वे) अञ्जनव(वा)टकस्य अपरप(पा)र्श्वे विशाखार्य्यवाटक-

१५ स्य (वाटकं) अ(आ)रामकवास्तव्यवाजिकौशिकसगोत्रविशाखार्यपुत्र-गोण्डा-

१६ र्य्याय गोण्डार्य्यपुत्रमनोरथार्याय गोवार्य्याय देवार्य्याय

१. पढ़िये 'अस्मत्सन्तका-' ।
२. इसका प्रथम व्यञ्जन पूरी तरह नहीं कोरा गया । पढ़िये 'श्छात्राश्च'
३. पढ़िये 'विश्रुतपूर्व्वया' । ४. पढ़िये 'विवृद्धये' ।
५. 'मु(मू)ल(ले) दता(त्त)मिति' शब्दों का सम्बन्ध बीसवीं पंक्ति के 'भगवत्पाद-' शब्द के साथ है ।

१७ बाप्पार्य्याय च कुमारार्य्याय द्रोणार्य्याय च पूर्व्वदत्ता इति कृत्वा

१८ यतोस्म(स्मा)भि[:*] शासननिबन्धःकृतः अपूर्व्वदत्ता(त्त्या) उदक-पूर्व्वमतिसृष्ट [।*]

१९ उचिता(तां)श्चास्य पूर्व्वराजानुमता(तान्) चातुर्व्व(र्व्वै)द्यग्राममर्य्यादाम्प-रिहा[1] वित-

२० राम[:*]अत्र वाटा(ट)कार्द्ध(र्द्धे) वाणिजकचंद्रेण [क्र]यक्रीतं ब्राह्म[णे*]-भ्यो भगवत्पाद[2]-

तृतीय पत्र : दूसरी बाजू

२१ तद्यथा अकरदायी अभटच्छात्रप्रावेश्य[:*] अपारंपरतो(गो)बलिवर्द्द[:*]

२२ अपुष्पक्षि(क्षी)रसन्दोहः अचार(रा)सनचमा(र्म्मा)ङ्गार[:*] अलवण-क्लित्व(न्न)क्रेणिखनक[:*]

२३ सर्व्वविष्टिपरिहारपरिहृ(हृ)तः सतिधिः[3] सोपतिथिः अवलुप्तोपक्लुप्तः

२४ आचन्द्रादित्यकालीयः पुत्रपौत्रानुगामी भुञ्जता(तां) न केनचि[द्]

२५ व्याघात(तः) न[4] कर्त्तव्यस्सर्व्वकृ(क्रि)याभि[:*] स(सं)रक्षितव्यःपरि-वर्द्धयितव्यश्च[।*] यश्चा-

२६ स्मच्छासनमगनि(ण)यमाना(नः) स्वल्पामपि परिबाधात्कुर्यात्कारयिनं[5] वा

२७ तस्य ब्राह्मणैर्व्वेवि(दि)तस्य सदण्डनिग्रहं कुर्य्यामः[6] [।]अस्मिश्चं[7] धर्म्म(र्म्मा)धि-

१. पढ़िये 'ग्राममर्य्यादापरिहारान्'।
२. इसके बाद के शब्द 'मूले दत्तमिति' गलती से १३ वी पंक्ति के अन्त में आये हैं।
३. पढ़िये 'सनिधिः सोपनिधिः'।
४. यह शब्द यहाँ निरर्थक है।
५. पढ़िये 'परिबाधां कुर्य्यात्कारयेद्वा'।
६. पढ़िये 'कुर्यामि'।
७. पढ़िये 'अस्मिश्च'।

चतुर्थ पत्र

२८ करणे[1] अतीतानेकराजदत्ता(त्त)सञ्चित्न(न्त)नपरिपालन(नं) कृतपुण्या-
नुकि(की)-

२९ र्त्तनपरिहारार्त्थ(र्त्थं न कीर्त्तयामः[।*]संकल्पाभिद्योघ[2]पराक्रम(मो)पजा-
(जि)तान्वत्थ(र्त्त)-

३० घाता(माना)नाज्ञापयामः[।*] एष्यत्कालप्रभव(वि)[ष्णा](ष्णु)गौरवाद्भ-
विषाद्विज्ञा-

३१ पयाम[3]ः[।*]व्यासगीतश्चात्र श्लोक~प्रमाणीकर्त्तव्यः। स्वदत्ता(त्तां)

३२ परदत्ता(त्तां)ऽवा[4] यो हरेत वसुन्धरा(राम्।) गवा(वां) शतसहस्रस्य हन्तु-

३३ ≍पिबति दुष्कृत[5](तम्।।)संवत्सरे त्रयोविंशे वैशाखबहुलपञ्चम्यां

३४ आज्ञा स्वयं(यम्)[।।*]रजुककोट्टदेवेन[1]लिखितम्[।*]

१. वाकाटकों के अन्य दानपत्रों में 'धर्मादिरकारणे' पाठ है। वही पढ़िये।
२. पढ़िये 'संकल्पाभियोग-'।
३. पढ़िये 'भविष्यान्विज्ञापयामः'।
४. पढ़िये 'परदत्तां वा'।
५. वृत्त-अनुष्टुभ्।

१०. प्रवरसेन द्वितीय का दुदिया ताम्रपट

उपलब्धि - यह ताम्रपट छिंदवाडा जिले के दुदिया ग्राम मे किसी गोंड के संग्रह में था। डॉ० कीलहॉर्न ने उसे एपिग्राफिया इंडिका, भा. ३, पृ. २५८ इ. में छापे के साथ प्रकाशित किया। उसी छापे के आधार पर यहां उसका वाचन किया गया है।

वर्णन—इस ताम्रपट के चार पत्र हैं जिनकी लम्बाई ७$\frac{१}{२}$" और चौड़ाई ३$\frac{५}{८}$" है। प्रथम पत्र के एक ओर और दूसरे व तीसरे पत्र के दोनों ओर लेख उत्कीर्ण है। चौथे पत्र पर लेख नही है तथा वह तीसरे पत्र के अक्षरों को साबूत रखने के उद्देश्य से जोड़ा गया है। इन पत्रो की किनारें मुडी नहीं हैं; तथापि लेख अच्छी स्थिति मे हैं। प्रत्येक पत्र के बाये सिरे से १$\frac{१}{४}$" पर मध्यभाग मे कड़े के लिए $\frac{७}{१६}$" व्यास का छेद है। कड़े की मोटाई $\frac{१}{४}$" से $\frac{३}{८}$" तथा व्यास ३$\frac{१}{८}$" है। उसपर फिरने वाले दूसरे चपटे कड़े से जुडी हुई ३$\frac{१}{१६}$" व्यास की वर्तुलाकार मुद्रापर चार पंक्तियो का लेख है। चार पत्रो का वजन ३$\frac{३}{४}$ रत्तल तथा कड़े और मुद्रा का वजन $\frac{१}{२}$ रत्तल है।

लिपि—प्रस्तुत ताम्रपट की पेटिकाशीर्षक प्रकार की लिपि इन्दौर ताम्रपट के लेख के समान ही है। 'न' 'त' जैसा है; 'ब' दो प्रकार का है; मुद्रापर 'ल्' के दायीं ओर की रेखा गोलाई लिये हुए है; जिह्वामूलीय का चिह्न लेख को बाईसवी पंक्ति में तथा उपध्मानीय का चिह्न सोलहवी पंक्ति तथा मुद्रालेख की तृतीय पंक्ति में आया है। विरामचिह्न एक या दो आड़ी किंवा खड़ी रेखाओ द्वारा व्यक्त किया गया है।

भाषा - लेख की भाषा संस्कृत है तथा अन्त के शापाशीर्वादात्मक श्लोक तथा मुद्रापर के श्लोको के अतिरिक्त सम्पूर्ण भाग गद्य में है। इतर ताम्रपटो के समान ही 'र्' के पूर्व और पश्चात्, 'य्' के पूर्व तथा अनुस्वार के अनन्तर आनेवाले व्यञ्जन का कहीं-कही द्वित्व किया गया हैं।

विषय—प्रस्तुत लेख का आरम्भ 'दृष्टम्' शब्द से होता है। वाकाटक महाराज प्रवरसेन द्वितीय द्वारा प्रवरपुर से दिये गये इस ताम्रपट की वंशावली जांब ताम्रपट के समान ही है। प्रवरसेन द्वितीय द्वारा चन्द्रपुर संगमिका के दर्भमलक ग्राम में पच्चीस निवर्तन भूमि कौशिकगोत्री ब्राह्मण यक्षार्य को तथा हिरण्यपुर भोग के कर्मकार ग्राम में साठ निवर्तन भूमि कौण्डिन्यगोत्री ब्राह्मण कालीशर्मा को देने का

उल्लेख करना प्रस्तुत ताम्रपट का उद्देश्य था। प्रस्तुत ताम्रपट की राजाज्ञा आरम्भि राज्य के कुलपुत्र (अधिकारी), भट व छात्र को सम्बोधित कर निकाली गई है। अतः प्रतीत होता है कि उपरिनिर्दिष्ट दोनों ग्राम इस राज्य में समाविष्ट थे। इस लेख के समय नर्मिदास सेनापति पदपर था। इसका लेखक गोलदास था।

प्रस्तुत लेख प्रवरसेन द्वितीय के तेईसवें शासन-वर्ष में वर्षाऋतु के चतुर्थपक्ष के दसवें दिन प्रकाशित किया गया था। इस तिथि की परीक्षा करना सम्भव नहीं है, किन्तु भाद्रपद शुक्ल दशमी विवक्षित तिथि प्रतीत होती है। वाकाटक लेख में केवल दो ही तिथियां ऋतु, पक्ष और दिवस के द्वारा सूचित की गई हैं। प्रस्तुत तिथि उनमें से एक है। अन्य सब लेखों में चान्द्रमास, पक्ष व तिथि द्वारा काल-निर्देश किया गया है।

स्थलनिश्चय—प्रस्तुत लेख में उल्लिखित स्थल नामों का पता निश्चितरूप से नहीं लग सका है। डॉ० कीलहॉर्न के अनुसार चन्द्रपुर सिवनी के दक्षिण तथा वैनगंगा के पश्चिम में स्थित चांदपुर होना चाहिए। किन्तु उन्होंने अन्य ग्रामों की पहचान नही की। रायबहादुर हीरालाल ने आरम्भि की पहचान वर्धा जिले में स्थित आर्वी से तथा चन्द्रपुरसंगमिका की पहचान चांदूर के साथ की थी, क्योंकि चादूर के निकट चन्द्रभागा तथा सरस्वती का संगम होता है। उनके अनुसार हिरण्यपुर चादूर के निकट सोनेगाव, और कर्मकार उसके समीप स्थित कलमगांव होना चाहिए। किन्तु यह स्थलनिश्चय भी पूर्णतः सन्तोषजनक प्रतीत नही होता। हिरण्यपुर बहुत करके हिरण्या नदी के तट पर बसा हुआ होना चाहिए। इस नदी का उल्लेख वडगांव ताम्रपट मे प्राप्त होता है। हिरण्या नदी का वर्तमान नाम इरई है। चन्द्रपुर की पहचान चादा जिले के मुख्य नगर चांदा से की जानी चाहिए। उसका चन्द्रपुर नाम आज भी प्रचलित है। चादा के समीप इरई और झरपट नदियो का संगम है। बहुधा इन नदियों द्वारा बनाये हुए भूकोण में ही चांदा नगर बसा हुआ है। चन्द्रपुर-संगमिका नाम उसपर उत्कृष्ट रीति से लागू होता है। किन्तु पाढुर्णा ताम्रपट मे आरम्भि राज्य का उल्लेख आने से 'आरम्भि' पाढुर्णा से पश्चिमोत्तर दिशा में ४० मील दूर आमला होना अधिक संभवनीय है।

वाचन[1]

पंक्ति

प्रथम पत्र

१ दृष्टम्[।*]प्रवरपु|रा|त्[2] अग्निष्टोम(मा)प्तोर्य्यामोक्थ्यषोडश्यतिरात्र[3]वा-
जपेयबृहस्पति-

१. एपिग्राफिया इंडिका, जि. ३, पृ. २६०-२६१ के सामने दिये गये छापों पर से।
२. यहां और आगे भी अनेक स्थानो पर सन्धि नहीं की गई है।
३. प्रथम '-तिरोत्र-' कोरा गया था, किन्तु बाद में शुद्ध करके उसे '-तिरात्र-' बनाया गया।

२ सवसाद्यस्कचतुरश्वमेधयाजिनः विष्णुवृद्धसगोत्रस्य सम्राटः(जः) वाकाटकानाम्म-

३ हाराजश्रि(श्री)प्रवरसेनस्य सूनोः सूनोः अत्यन्तस्वामिमहाभैरवभक्तस्य अंसभारस-

४ न्निवेशितशि[व*]लिङ्गोद्वहनशिवसुपरितुष्टसमुत्पादितराजवंशानाम्परा-क्र-

५ माधिगतभागि(गी)रत्थ्यमलजलमूर्द्धाभिषिक्तानान्दशाश्वमेधावभृत(थ)-स्नातानाम्भा-

६ रशिवानाम्महाराजश्रि(श्री)भवनागदौहित्रस्य गौतमिपुत्रस्य पुत्रस्य वाकाट-

७ कानाम्मह(हा)राजश्रीरुद्रसेनस्य सूनोः अत्यन्तमाहेश्वरस्य सत्या-र्ज्जवकारुण्य-

द्वितीय पत्र : पहिली बाजू

८ शौर्य्यविक्रमनयविनयमाहात्म्यधि(धी)मत्व(त्त्व)पात्रगतभक्तित्व[1]धर्म्म-विजयित्वमनोनैर्म्मल्य(ल्या)दिगु-

९ णै[:*] समुदितस्य वर्षशतमभी(भि)वर्द्धमानकोशदण्डसाधनसन्तानपुत्र-पौत्रिणः युधिष्ठिरवृत्तेर्व्वा-

१० काटकान(ना)म्महाराजश्रीपृथिविषेन(ण)स्य सूनोः भगवतश्चक्रपा-णे[:*] प्रसादोपार्ज्जि(र्ज्जि)तश्रीसमुद-

११ यस्य वाकाटकानाम्महाराजश्रि(श्री)रुद्रसेनस्य सूनोः महाराजाधिराज-देवगुप्त-

१२ सुतायाः(यां) प्रभावतिगुप्तायामुत्पन्नस्य वा[का]टकानाम्मह(हा)राजश्री-प्रवरसेनस्य

१३ वा(व)चनात् आरम्भिराज्ये अस्मत्सन्तकास्स[र्व्वा]द्व्यक्षनियोगनि-युक्ताः आज्ञासञ्चारिकुल-

१. यहां कीलहॉर्न ने 'पात्रागतभक्तित्व' पढ़ने का सुझाव दिया है, किन्तु यह ठीक नहीं है।

द्वितीय पत्र : दूसरी बाजू

१४ पुत्र(त्रा)धिकृताः भटाश्छात्र(त्रा)श्च व्यूषतपूर्व्वगयाज्ञया[1]ज्ञापयितव्याः [।*]विदितमस्तु व(वः) यथेहास्माभि-

१५ रात्मनो धर्म्मायुर्व्वलमैश्वर्य्य[2]विवृद्धये इहामुत्रहितार्त्थमात्मानुग्रहाय वैजयैके[3] धर्म्मस्थाने चन्द्रपुर-

१६ सङ्गमिकायाः[4] दर्व्भमलके भूमे[च[5]]ऽपञ्चविशां[6] कौशिकसगोत्र(त्रा)य यज्ञार्य्याय हिरण्यपुरभोगे

१७ कर्म्मकारग्रामे भूमे[:*] षष्टि[:*]कौण्डिण्य(न्य)सगोत्राय कालिशर्म्माय[7] अपूर्व्वदत्या(त्त्या) उदकपु(पू)र्व्व-

१८ मतिसृष्ट[8][।*] उचिताश्चास्य[9] पूर्व्वराजानुमतां चातुर्व्वैद्यग्राममर्य्य-(र्य्या)[10]दापरिहारार्त्थन्वितरामस्त-[11]

१९ [12]तद्यथा अकरदायिन्यौ[13] अभटच्छात्रप्रावेश्य[14] अपाररम्परगोवली-वर्द्द[15] अपुष्पक्षि(क्षी)र-

तृतीय पत्र : पहिली बाजू

२० सन्देहौ[16] अवा(चा)रासनचर्म्माङ्गारौ। अलवणक्लिन्नक्केणिखनकौ सर्व्ववे(वि)ष्टिपरिहारपरी(रि)हृतौ

१. पढ़िये 'विश्रुतपूर्व्वयाज्ञया'। २. पढ़िये 'बलैश्वर्य्य-'।
३. पढ़िये 'वैजयिके'। ४. पढ़िये '-संगमिकायां'।
५. यह अक्षर निरर्थक है। ६. पढ़िये 'भूमेः पञ्चविंशतिः'।
७. पढ़िये 'कालिशर्म्मणे'। ८. पढ़िये '-मतिसृष्टा'।
९. पढ़िये 'उचितां चास्याः'।
१०. पढ़िये 'ग्राममर्य्यादा वितरामः' अथवा 'ग्रामपरिहारान्वितरामः'। तुलनीय-लेख क्रमांक २, पं. १६ और क्रमांक ३, पं. २५।
११. 'म' के बाद का विसर्ग मिटाया गया है।
१२. यह अक्षर निरर्थक है।
१३. पढ़िये 'अकरदायिनौ'। २० वीं पंक्ति में 'चर्म्माङ्गारौ' इत्यादि विशेषण देखिए। ये विशेषण 'भूमिखण्डौ' जैसे अध्याहृत विशेषण को लक्ष्य करके प्रयुक्त प्रतीत होते हैं।
१४. पढ़िये 'अभटच्छात्रप्रावेश्यौ'। १५. पढ़िये '-बलीवर्द्दौ'।
१६. पढ़िये '-क्षीरसन्दोहौ'।

२१ सनिधिस्सोपनि[धी[1]]। सक्ति(क्ल)प्रोपक्ति(क्ल)प्तौ। आचन्द्रादि-
त्यकालीयौ पुत्रपौत्रानुगामी(मिनौ) भुञ्जता(तां) न केनचि-

२२ व्या(द्व्य)घातxकर्त्तव्यः सर्व्वैक्रियाभिस्संरक्षितव्यः परिवर्द्धयितव्य-[2]
श्च[।*] यश्चास्मच्छासना(न)मगन(ण)य-

२३ मानेः(नः) स्वल्पा(ल्पा)मपि परिबाधां[3] कुर्य्यात्कारयित वा[4] तस्य
ब्राह्मणैर्व्वेदितस्य सदण्ड-

२४ निग्रहङ्कुर्य्यामः(म।)अस्मो(स्मि)श्च धर्म्मादरकरणे अतीतानेकराजदत्तां
सञ्चिन्तन[5]परिपालन(नं)

२५ कृतपुण्यानुकीर्त्तनपरिहारार्त्थन्न कीर्त्तयामः[।*] सकल्पाभिद्योध(योग)-
पराक्रमोपजात(जिता)न्वर्त्तमाना-

तृतीय पत्र : दूसरी बाजू

२६ नाज्ञापयाम [।*] एष्यतत्काले[6]प्रभविष्णुगौरवां(वा)द्भविष्यान्विज्ञापयामः
[।*]व्यासगीतश्चात्र श्लोक.।[7]

२७ प्रमाणीकर्तव्यः। स्वदत्ताम्परद[त्तां]व्वा यो हरेत वसुन्धरान्(म्)
[।*]गवा(वां) शतसहस्रस्य हन्तु(न्तु)र्ह-

२८ रति दुष्कृतम्[8][।।*]संव्वत्सरे त्रयोवित्शतिमे[9] वर्ष(र्षा)पक्षे चतुर्थे दिवसे
दशमे सेनापतौ।[9]

२९ नमिदासे।[7] लिखितं।गोलदासेन॥

मुद्रा

१ वाकाटकललामस्य।[7]
२ क्रमप्राप्यनृपश्रियम्[10][।*]
३ राज्ञ=प्रवरसेनस्य
४ शासनं रिपुशासनम् [।।*]

१. पढ़िये 'सनिधिसोपनिधी'। २. पढ़िये 'संरक्षितव्यौ परिवर्द्धयितव्यौ च'।
३. यह अनुस्वार अगले अक्षर के ऊपर कोरा गया है।
४. पढ़िये 'कारयेद्वा'। ५. पढ़िये 'राजदत्तसञ्चिन्तन'।
६. पढ़िये 'एष्यत्काल-'। ७. यह विरामचिह्न निरर्थक है।
८. वृत्त-अनुष्टुभ्। ९. पढ़िये 'संवत्सरे त्रयोविंशतितमे'।
१०. पढ़िये '-प्राप्तनृपश्रियः'।

११. द्वितीय प्रवरसेन का तिरोडी ताम्रपट

उपलब्धि -- यह ताम्रपट मध्य प्रदेश के बालाघाट जिले में कटंगी ग्राम के आग्नेय में आठ मील पर स्थित तिरोडी ग्राम में मँगनीज की खदानों के निकट प्राप्त हुआ था। इन खदानो के व्यवस्थापक श्री टी. ए. वेल्स्टेडने उसे मेरे पास प्रकाशन के लिए भेजा। मैंने उसे एपिग्राफिया इंडिका, जि. २१, पृ. १६७ इ. मे अगरेजी अनुवाद और छापे के साथ प्रकाशित किया। उसी छापे से वह यहां सम्पादित किया गया है।

वर्णन—इस ताम्रपट के चार पत्र हैं जिनमे से प्रत्येक की लम्बाई ७·७ इंच और चौड़ाई ३·८ इंच है। प्रथम तथा चतुर्थ पत्र पर एक ओर तथा अन्य पत्रों पर दोनो ओर लेख उत्कीर्ण है। उनके छोर मोड़े नही गये हैं, तथापि लेख उत्तम स्थिति मे है। प्रत्येक पत्र के बायें सिरे से २·१ इच के अन्तर पर मध्यभाग में कड़े के लिए ·४ इंच व्यास का एक छिद्र है। इस कड़े का व्यास ३·३ इंच है तथा सिवनी ताम्रपट की मुद्रा के समान २·७ इंच व्यास की ताबे की चपटी बर्तुलाकार मुद्रा उससे जुडी हुई है। उसपर चार पंक्तियो का लेख उत्कीर्ण है। सब पत्रो का वजन १२६ तोला और कड़े तथा मुद्रा का वजन १८½ तोला है। प्रथम दो पत्रों के कोरे हुए पार्श्वों पर छह-छह, तृतीय पत्रपर दोनो ओर पांच-पांच तथा चतुर्थ पत्र के कोरे हुए पार्श्व पर चार पंक्तियां है।

लिपि— प्रवरसेन द्वितीय के अन्य ताम्रपटो की भांति प्रस्तुत लेख की लिपि भी पेटिकाशीर्षक प्रकार की है। उसकी निम्ननिर्दिष्ट विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं— (दीर्घ) ईकार परस्परविरूद्ध जानेवाली दो वक्र रेखाओ द्वारा अथवा (ह्रस्व) इकार के अर्ध-वृत्त मे एक छोटा-सा अर्ध-वृत्त बनाकर व्यक्त किया गया है। व्यञ्जनयुक्त ओकार अक्षर के सिरपर दोनो ओर दो मात्रा लगाकर अथवा केवल दायीं ओर एक वक्र रेखा द्वारा व्यक्त किया गया है। 'ड' और 'द' के चिह्नो मे भेद नहीं है। अन्य वाकाटक ताम्रपटो की भांति 'ब' दो प्रकार का है। अनेक स्थलो पर विसर्ग का उपयोग विरामचिह्न के रूप में किया गया है।

भाषा- प्रस्तुत लेख की भाषा संस्कृत है और मुद्रा-लेख तथा अन्त के शापाशीर्वादात्मक श्लोको के अतिरिक्त सम्पूर्ण भाग गद्य में है। लेखन की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—'र्' और अनुस्वार के अनन्तर तथा 'य्' के पूर्व आनेवाले व्यञ्जन का द्वित्व किया गया है। 'ऋ' के स्थान पर 'रि' और 'लृ' के स्थान पर 'लि' का उपयोग किया गया है। कहीं-कही 'रि के स्थानपर 'ऋ' लिखा हुआ

दृष्टिगत होता है। उदाहरणार्थ, 'सव्वंकुयाभि,' शब्द द्रष्टव्य है। कुछ स्थलों पर अन्तिम व्यञ्जन छोड़ दिया है। उदाहरणार्थ देखिए 'नरत्तङ्गवारिस्थाना' (पं. १)।

विषय—यह ताम्रपट वाकाटक महाराज द्वितीय प्रवरसेन ने नरतङ्गवारि-स्थान से दिया था। इसमे उसकी वंशावली उसके अन्य ताम्रपटो के समान ही दी गई है। प्रस्तुत ताम्रपट का आरम्भ 'दृष्टम्' शब्द से होता है। उसमें प्रवरसेन द्वितीय द्वारा चान्द्रपुर निवासी त्रिवेद पारंगत अथर्ववेदी हर्करिगोत्री वरुणार्य नामक ब्राह्मण को कोशंबखण्ड ग्राम के दान मे दिये जाने का उल्लेख है। दान में दिया हुआ ग्राम जमली के पश्चिम में, वर्धमानक के उत्तर में, मुगसिम के पूर्व में तथा मल्लकपेषक के दक्षिण में था। प्रस्तुत लेखकी राजाज्ञा वेन्नाकट के अपरपट्ट अथवा पश्चिम विभाग मे स्थित अधिकारियो, भटों व छात्रो को सम्बोधित की गई है जिससे अनुमान होता है कि दान दिया गया ग्राम इसी विभाग मे था। लेख के अन्त में कहा गया है कि प्रस्तुत दानपत्र स्वयम् प्रवरसेन द्वितीय की आज्ञा से राज्याधिकृत चमिदास ने लिखा था।

तिथि का महत्त्व—प्रस्तुत दानपत्र प्रवरसेन द्वितीय के तेईसवें शासन-वर्ष में माघ कृष्ण द्वादशी को दिया गया था। प्रवरसेन के अधिकाश ताम्रपट राजधानी से दिये गये थे, किन्तु प्रस्तुत ताम्रपट नरत्तङ्गवारिस्थान से दिया गया है। यह तीर्थस्थान होना चाहिए। पुराणों के अनुसार माघ मास अत्यन्त पवित्र है तथा इस मास मे किसी तीर्थक्षेत्र में स्नान करने से विशेष पुण्य मिलता है। पूर्णिमान्त माघ के कृष्णपक्ष की एकादशी को 'षट्तिला एकादशी' कहते हैं। इस दिन उपोषणका माहात्म्य पद्मपुराण में वर्णित है। अतः प्रवरसेन द्वितीय षट्तिला एकादशी को स्नान करने के लिए नरत्तङ्गवारिस्थान गया होगा। उस दिन उपवास करने के पश्चात् दूसरे दिन पारणा के अवसर पर उसने प्रस्तुत ताम्रपट दिया होगा। यह दान उसने स्वतः के पुण्य, आयुष्य, बल तथा ऐश्वर्य की वृद्धि, ऐहिक एवम् पारलौकिक कल्याण तथा अपनी माता के पुण्योपार्जन के निमित्त दिया था। इसमें प्रवरसेन ने अपने दिवंगत पिता का उल्लेख न कर केवल माता का उल्लेख किया है, जिससे ज्ञात होता है कि प्रभावतीगुप्ता उस समय जीवित थी। कदाचित् वह अपने पुत्र के साथ नरत्तङ्गवारि तीर्थ भी गई होगी। इसके चार वर्ष पूर्व ही उसने अपना ऋद्धपुर ताम्रपट दिया था।

स्थल-निश्चय—प्रस्तुत ताम्रपट मे उल्लिखित स्थानो में से नरतङ्गवारि तीर्थ होना चाहिए, यह ऊपर कहा जा चुका है। देवली ताम्रपट में उल्लिखित नागपुर-नन्दिवर्धन के समान यह संयुक्त नाम प्रतीत होता है। संभवतः उसका अर्थ है 'नरत्तंग के समीप स्थित वारि' अकोला जिले की आकोट तहसील में बाण नदी के

तट पर स्थित, किन्तु इस समय उजड़े हुए, वारिनामक ग्राम के साथ इस वारि की पहचान की जानी चाहिए। इसको भैरवगढ़ भी कहते हैं और आज भी इसकी गणना पुण्यक्षेत्र के रूप में की जाती है। नरत्तङ्ग वारि के अठारह मील पश्चिम में स्थित नरनाला से अभिन्न प्रतीत होता है। वहां एक पुराना किला है। कोसंबखंड तिरोडी के छह मील ईशान में स्थित कोसंब होना चाहिए। बेन्नाकट नामक जिस विभाग में वह अन्तर्भूत था उसका मुख्य नगर बेन्ना कोसंब के पैंतीस मील पूर्व में बेणी नामक ग्राम के रूप में आज भी विद्यमान है। यह बेन्नाकट बेण्णा (वेणा) अथवा वैनगंगा नदी के द्वारा पूर्व तथा अपर (पश्चिम) इन दो पट्टों अथवा विभागों में बंटा हुआ था। कोसंब (प्राचीन कोसंबखंड) वैनगंगा के पश्चिम तट से केवल बीस मील दूर है। अतः वह बेन्नाकट के अपरपट्ट अर्थात् पश्चिम विभाग में समाविष्ट था, इसमें संशय नहीं। कोसंबखण्ड के सीमावर्ती ग्रामोंमें से जमली कोसंब से तीन मील पूर्व में स्थित जामुनतोला से अभिन्न प्रतीत होता है। जिस ब्राह्मण को दान दिया गया था वह चांद्रपुर का निवासी था। इसकी पहचान कोसंब के बीस मील आग्नेय में स्थित चांदपुर के साथ की जा सकती है। अन्य ग्रामों का पता नहीं लग पाया है।

वाचन[1]

प्रथम पत्र

१ द्रि(द्ट)ष्टम् [।*] नरत्तङ्गवारिस्थाना[त्*]। अग्निष्टोमाप्तोर्य्यामोक्थ्य-षोडश्य[ति]रात्रवाजपेयबृहस्पतिस-

२ वसाद्यस्कचतुरश्वमेधयाजिनः[2] विष्नु(ष्णु)वृद्धसगोत्रस्य सम्राट(जो) वाकाटकानाम्महाराजश्री-

३ प्रवरसेनस्य सूनोः सूनोरत्यन्त[3]स्वामिमहाभैरवभक्तस्य।[4] अंसभार-सन्निवेशि-

४ तशिवलिङ्गोद्वहनशिवसुपरितुष्टसमुत्पादितराजवंशानां पराक्रमाधिगत-भागी-

१. एपिग्राफिया इंडिका, जि. २२, पृ. १७२-१७३ के सामने दी हुई छापसे।
२. यहां तथा और भी अनेक स्थलों पर सन्धि नहीं की गई है।
३. 'न्त' अक्षर के ऊपर की पेटिका पूरी तरह से नहीं कोरी गई है।
४. यह विरामचिह्न निरर्थक है।

५ रत्थ्या(त्थ्य)मलजलमूर्द्ध्ना(र्द्धा)भिषिक्तानाम्म[1]हाराजश्रीभवनागदौहि-
त्रस्य गौतमी-

६ पुत्रस्य पुत्रस्य वाकाटकानाम्महाराजश्रि(श्री)रुद्रसेनस्य सु(सू)नोः

द्वितीय पत्र : वहिली बाजू

७ अत्यन्तमाहेश्वरस्य सत्या[ज्र्ज]वकारुन्य(ण्य)शौर्य्यविक्रमनयविनयमाहा-
त्म्यधि(धी)मत्व(त्त्व)-

८ गतभन्तिक्व[2]धर्म्मविजयित्वमनोनैम्म(र्म्म)ल्यादिगुणै[:*] समुदितस्य
वर्षशतमभिवर्द्धमा-

९ नकोशदण्डसाधनसन्तानपुत्रपौत्रिणः युधिष्ठिरवृत्तेर्व्वाकाटकानां(ना)-
म्महा-

१० राजश्रीपृथिविसेनस्य[3] सूनो[.*] भगवतश्चक्रपाणे-प्रसादोपार्जितश्री-
समुदयस्य

११ वाकाटकानाम्महाराजश्रीरुद्रसेनस्य सूनोः महाराजाधिराजश्रीदेवगुप्त-

१२ सुतायां(या)म्प्रभावतिगुप्तायामुत्पन्नस्य ।[4] वाकाटकानाम्महा-

द्वितीय पत्र : दूसरी बाजू

१३ राजश्रि(श्री)प्रवरसेनस्य वचना|त् ।। बेन्नाकटस्य अपरपट्टे ।।[5] अस्म-
त्सन्तकास्सर्व्वाद्धयक्षनियोग-

१४ नियुक्ता आज्ञासंचारिकुलपुत्राधिकृता भटाच्छात्राश्च[6] व्युपितपूर्व्वम-
याज्ञाया[7] ज्ञापयितव्याः ।।*]

१५ विदितमस्तु वः यथेहास्माभिरात्मनो धर्म्मायुर्व्वलमैश्वर्य्य[8]विवृद्धये
इहामुत्रहि-

१. इसके सदृश अन्य ताम्रपटों में पाया जानेवाला 'दशाश्वमेधावभृथस्नातानां' विशेषण यहां छूट गया है।

२. पढ़िये 'पात्रगतभक्तित्व'।

३. पढ़िये 'पृथिवीषेणस्य'।

४. यह विरामचिह्न निरर्थक है।

५. यह विरामचिह्न निरर्थक है।

६. पढ़िए 'भटाश्छात्राश्च'।

७. पढ़िए 'विश्रुतपूर्वयाज्ञया'।

८. पढ़िए '-र्व्वलैश्वर्य्य-'।

१६ तार्त्थं मातु≍[पु]ण्योपचयार्त्थं जमल्या अपरपार्श्वे वर्द्धमानकस्य उत्तरपार्श्वे

१७ मृगसिमस्य पूर्व्वपार्श्वे मल्लकपेधकस्य दक्षिणपार्श्वे कोशम्बखण्डं नाम ग्रामः

१८ चाद्ध(चांद्र)पुरवस्तव्यअथेर्व्वाण[1]हर्क्करि[2]सगोत्रवरुणार्य्याय त्रिवेदाय दत्तः[3]

तृतीय पत्र : पहिली बाजू

१९ अपूर्व्वदत्या[4] उदकपूर्व्वमतिसृष्टः[।*] उचितांश्चास्य पूर्वराजानुमताचा-(तांश्चा)तुर्वैद्यग्रामम-

२० र्य्यादापरिहारान्वितरामः स्तद्यथा[5] अकरदायि.(यी) अभटच्छ(च्छा)-त्रप्रावेश्यः अपारंपरगो-

२१ बलिवर्द्द[·*] अपुष्पक्षि(क्षी)रसन्दोहः अचारासनचर्म्माङ्गारः अलवन-(ण) क्लिण्ण(न्न)क्रे-

२२ णिखनक सर्व्वविष्टिपरिहारपरिहृतः सनिधिः सोपनिधि[:] सक्लि-(क्लृ)प्तो-

२३ पक्लि(क्लृ)प्तः आचन्द्रादित्यकालीयः पुत्रपौत्रानुगामी भुञ्जतो न केनचिव्व्याघात[6]

तृतीय पत्र : दूसरी बाजू

२४ कर्त्तव्यः सर्व्वकृ(क्रि)याभिस्संरक्षितव्य≍परिवर्द्धयितव्यश्च ॥ यश्चास्म-च्छासनमगन(ण)य-

२५ मानस्स्वल्पामपि परिबाधात्कुर्य्यात्कारयित वा[7] तस्य ब्राह्मणैर्व्वेदितस्य सदण्डं निग्र-

१. पढ़िए 'वास्तव्याथर्व्वण-'।
२. गौत्रप्रवरनिबन्धकदम्ब के अनुसार इस गोत्र का नाम 'हार्क्करि' है।
३. यह शब्द निरर्थक है।
४. पढ़िए 'अपूर्व्वदत्या'।
५. पढ़िए '-न्वितरामस्तद्यथा'।
६. पढ़िए 'केनचिद्व्याघातः'।
७. 'परिबाधां कुर्य्यात् कारयेद्वा'।

२६ हं कुर्य्याम ॥ अस्मि(स्मि)श्च धर्माद्धि(धि)करणे अतीतानेकराजदत्तां संचीन्तनपरि[1]-

२७ पालने(नं) कृतपुण्यानुकीर्त्तनपरिहारार्त्थन्न क(की)र्त्तयाम. संकल्पाभिद्यो-(यो)गपरा-

२८ क्रमोपजिताव्व(न्व)र्त्तम(मा)नानाज्ञापयामः एष्यतत्काल[2]प्रभविष्णु-गौरवा-

चतुर्थ पत्र

२९ ब्भ(द्भ)विष्यान्विज्ञापयामः]।*] व्यासगीतश्चात्र श्लोक×प्रमाणीकर्त्तव्यः [।*]स्वदत्ताम्पर-

३० दत्ताव्वा(दत्तां वा)यो हरेत वसुन्धराः(राम्)[।*] गवान्शतहस्रस्य ।[3] हन्तुर्हरति दुष्क्रितं[4] ।

३१ साव्वत्सरे त्रयोवीशे[5] ।[6] माघबहुलपक्षे द्वादश्या[म्*] । आज्ञा

३२ स्य(स्व)यं(यम् ।) राज्याधिकृतन(कृतेन) [च]मिदासेन लिखितमिति ।

मुद्रा

१ वाकाटकललामस्य

२ क्र(क्र)मप्राप्तन्नि(नृ)पश्रियम्(यः)[।*]

३ राज्ञ[ः*]प्रवरसेनस्य ।[6]

४ शासनं रिपुशासनम्[7] ॥

१. पढ़िए 'राजदत्तसञ्चिन्तन-' ।
२. पढ़िए 'एष्यत्काल-' ।
३. पढ़िए 'गवां शतसहस्रस्य' । अगला विरामचिह्न निरर्थक है ।
४. पढ़िए 'दुष्कृतम्' । वृत्त अनुष्टुभ् ।
५. पढ़िए 'संवत्सरे त्रयोविंशे' ।
६. यह विरामचिह्न निरर्थक है ।
७. वृत्त-अनुष्टुभ् ।

१२. प्रवरसेन द्वितीय का वडगांव ताम्रपट

उपलब्धि—यह ताम्रपट चांदा जिले की वरोडा तहसील के वडगांव नामक ग्रामक ग्राम में एक गृहस्थ के संग्रह में था। उसका पौत्र भगवान शिवा गनार किसी कारण से नागपुर आने पर संग्रहालय देखने के लिए गया। वहां उसने कुछ वाकाटक ताम्रपट प्रदर्शनी में देखे। उन्हें देखते ही उसे अपने पितामह के घर में भी इसी प्रकार के ताम्रपट देखने की घटना स्मरण हो आई। उसने वह ताम्रपट नागपुर संग्रहालय के अध्यक्ष डॉ. एस्. एस्. पटवर्धन को लाकर दिया। डॉ. पटवर्धन ने उसे वाचन के लिए मेरे पास भेजा। मैंने उसे छापे के साथ ऐपिग्राफिया इंडिका, जि. २७, पृ. ७४ ई. मे प्रकाशित किया। उसी छापे से यहां उसका सम्पादन किया गया है।

वर्णन—इस ताम्रपट के चार पत्रों में से प्रथम व अन्तिम एक ओर तथा शेष दो दोनों ओर उत्कीर्ण हैं। उनकी लम्बाई ६·५ इंच, चौड़ाई ३·५ इंच और वजन ९७ तोला है। इन पत्रो की बायीं किनारे से १·३ इंच पर मध्यभाग में किये गये छिद्र में से होकर जानेवाली कड़े से वे परस्पर जुड़े हुए हैं। इस कड़े का वजन तीन तोला है। इस कड़े पर अन्य ताम्रपटों के समान मुद्रा रही होगी, किन्तु इस समय वह प्राप्त नही है। लेख में कुल ४२ पंक्तियां हैं जिनमें से पत्रों के प्रत्येक कोरे हुए भाग पर छह-छह पंक्तियां उत्कीर्ण हैं। सम्पूर्ण लेख उत्तम स्थिति में है। कोरनेवाले ने कुछ स्थलों पर अपनी त्रुटियों का संशोधन किया है। उदाहरणार्थ, 'अंसभार' (पं. ४) तथा 'सत्याज्जंव' (पं. ९) द्रष्टव्य हैं। किन्तु अन्य अनेक त्रुटियां असंशोधित ही रह गई हैं। द्वितीय पत्र के प्रथम पार्श्वपर निचले दायें किनारे पर 'मारदे(दा)से' अक्षर उत्कीर्ण हैं; वे अनवधान के कारण ४२ वी पंक्ति में छूट गये होगे। इक्कीसवीं पंक्ति में कुछ मूल अक्षरों को दबाकर उनके स्थान पर 'विषुववाचनक' शब्द कोरा गया है। ऐसा करने में पहले हुई त्रुटि के संशोधन का उद्देश्य था अथवा ताम्रपट में परिवर्तन करने का हेतु था, कहना कठिन है। किन्तु बाद के ये अक्षर अन्य अक्षरों के समान हैं; अतः इसमें संशय नहीं कि वे वाकाटककाल में ही कोरे गये थे।

लिपि—इस लेख की लिपि पेटिकाशीर्षक प्रकार की है। वह प्रवरसेन द्वितीय के अन्य लेखो के समान ही है। किन्तु निम्ननिर्दिष्ट विशेषताएं उल्लेखनीय हैं—'सूनोः' (पं. ४) में व्यञ्जनयुक्त ऊकार घुमावदार (cursive) है; 'दौहित्र' (पं. ७) में व्यञ्जनयुक्त 'औ' द्विभागात्मक है; 'अधिकृत' (पं. २३) में व्यञ्जनयुक्त

'ऋ' तथा 'क्लृप्तोपक्लृप्त' (पं. ३१) में व्यञ्जनयुक्त लृ' के रूप द्रष्टव्य हैं। २ व ३ संख्याओं के चिह्न यथाक्रम द्वितीय व तृतीय पत्र के पृष्ठभाग पर तथा ४०० संख्या का चिह्न बीसवी पंक्ति में प्राप्त होता है।

भाषा—प्रस्तुत लेख की भाषा संस्कृत है तथा अन्त के दो शापाशीर्वादात्मक श्लोकों के अतिरिक्त सम्पूर्ण लेख गद्य में है। लेखन मे 'र्' के अनन्तर व 'य्' के पूर्व आनेवाले व्यञ्जन का द्वित्व किया गया है।

विषय—यह लेख 'दृष्टम्' शब्द से आरम्भ होता है तथा इसमें प्राप्त वाकाटक महाराज प्रवरसेन द्वितीय की वंशावली अन्य ताम्रपटो के समान ही है। यहां भी उसके मातामह का नाम 'देवगुप्त' ही दिया गया है। दो वेदो में पारंगत वाजिलौहित्यगोत्री रुद्रार्य नामक ब्राह्मण को प्रवरसेन द्वितीय द्वारा सुप्रतिष्ठ आहार के वेलुसुक ग्राम मे राजमान के अनुसार ४०० निवर्तन भूमि दान देने का उल्लेख करना प्रस्तुत लेख का उद्देश्य था। वह ब्राह्मण एकार्जुनक का निवासी था। वेलुसुक ग्राम गृध्रग्राम के पूर्व मे, कदम्बसरक के दक्षिण में, नीलीग्राम के पश्चिम में तथा कोकिलार के उत्तर में था। यह दान प्रवरसेन द्वितीय के पच्चीसवें शासन वर्ष में ज्येष्ठ शुक्ल दशमी को दिया गया था। उस समय प्रवरसेन का पड़ाव हिरण्यानदी के तटपर था। उस समय बाप्पदेव सेनापतिपद पर था। इसका नाम प्रवरसेन द्वितीय के सिवनी ताम्रपट मे भी आया है। प्रस्तुत ताम्रपट का लेखक मारदास था।

चर्चा—यह ताम्रपट जिस ब्राह्मण को दिया गया था उसका वर्णन 'विषुव-वाचनक' शब्द द्वारा किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि प्रस्तुत दान विषुवसंक्रान्ति के अवसर पर दिया गया था। प्रस्तुत ताम्रपट की तिथि के पूर्व का विषुव चैत्रमास की मेष संक्रान्ति है। इस संक्रान्ति को वेदमन्त्रो के पाठ की दक्षिणा के रूप में यह दान दिया गया होगा।

स्थलनिश्चय—प्रस्तुत ताम्रपट में उल्लिखित स्थलनामों में से सुप्रतिष्ठ आहार का उल्लेख प्रभावतीगुप्ता के ऋद्धपुर ताम्रपट मे तथा प्रवरसेन द्वितीय के जांब ताम्रपट मे भी प्राप्त होता है। प्रतीत होता है कि इस आहार में हिंगणघाट, वरोडा और यवतमाल तहसीलो का कुछ भाग सम्मिलित था। दान में दी हुई भूमि जिस वेलुसुक ग्राम मे थी वह इस समय अस्तित्व मे नहीं है। प्रतीत होता है कि उसके स्थान पर इस समय वन्ना नदी के दक्षिण तटपर चिचमण्डल बसा हुआ है, क्योंकि सीमा के रूप मे उल्लिखित सभी ग्राम उस उस दिशा में आज भी दृष्टिगत होते हैं। गृध्रग्राम चिचमडल के पश्चिम में ८ मील दूर स्थित गदेघाट और नीलीग्राम ५ मील पूर्व मे स्थित नीलजाई होना चाहिए। कदम्बसरक दो मील उत्तर में स्थित कोसरा तथा कोकिलार ४ मील वायव्य में स्थित खैरी होना चाहिए। इस

प्रकार चतुःसीमा के सब ग्राम चिचमंडल के चारों ओर पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त चिचमंडल वडगांव से, जहां यह ताम्रपट प्राप्त हुआ है, केवल ५ मील दक्षिण में है। हिरण्यानदी वरोडा तहसील की दक्षिणवाहिनी इरई है। आगे चलकर यह वर्धा नदी में मिल जाती है। दुदिया ताम्रपट में उल्लिखित हिरण्यपुर कदाचित् इसी नदी के तटपर रहा होगा। ताम्रपट प्राप्त करनेवाले ब्राह्मण का निवासस्थान एकार्जुनक इरई नदी के तटका अर्जुनी होना चाहिए। यह ग्राम वरोडा तहसील के मुख्य स्थान वरोडा से १६ मील ईशान में है।

वाचन[1]

पंक्ति

प्रथम पत्र

१ सिद्धम[2][।*]दृष्टं(ष्टम्)[।*]हिरण्यानदि(दी)वासकादग्निष्टोम(मा)प्तोर्य्या-
मोक्थ्यषोडश्या(श्य)ति-

२ रात्रवाजपेयबृहस्प(स्प)तिसवसद्यःक्र(स्क्र[3])[च*]तुरश्वमेधयाजिनः

३ विष्ण(ष्णु)वृ[द्ध]सगोत्रस्य सम्राट्[4] वाकाटकानां महाराजश्रि(श्री)प्रवरसेन-

४ स्य सूनोः सूनोरत्यन्तस्वामिमहाभैरवभक्तस्य अंस[भा][5]-

५ रसन्निव(वे)शितशिवलि[ङ्गो]द्वहनशिवसुपर(रि)तुष्टसमुत्पादित[रा]-

६ जवंशाना(नां) पराक्रम(मा)धिगतभागि(गी)रथ्यमलजलमु(मू)र्द्ध(र्द्धा)-
भिषिक्तानां दशा-

७ श्वमेधा[व*]भृथस्नातानां भारशिवानां महाराजश्रीभवनागदौहित्रस्य

द्वितीय पत्र : पहिली बाजू

८ गौतमीपुत्रस्य वाक(का)टकाना(नां) महाराजश्रि(श्री)रुद्रसेनस्य सूनोरत्य-

९ न्तमाहेश्वरस्य सत्यार्ज्जव[6]कारुण्यशौर्य्यविक्रमनयनविनयम(मा)हात्म्य-

१. एपिग्राफिया इंडिका, जि. २७, पृ ७६-७७ के सामने दिये गये छापों के आधार पर.

२. यह शब्द चिह्नद्वारा व्यक्त किया गया है।

३. पढ़िये 'साद्यस्क्र'। ४. पढ़िये 'सम्राजः'।

५. कोरकने प्रथम 'सा' कोरा था, पर बाद में ठीक कर के 'भा' कर दिया।

६. यह अक्षर पहिले छूट गया था। बाद में वह छोटे आकार में लिखा गया है।

१० धीमत्य(त्त्व)पात्रगतभक्तित्वधम्म(र्म्म)विजयी (यि)त्वमनोनैर्म्मल्यादि-
भीगु(भिर्गु)णैः
११ समुप(पे)तस्य वष र्प)शतमभिवर्द्धमानकोशदण्डा(ण्ड)साधनसन्ता-
१२ नपुत्रपौत्र(त्रि)णः युधोष्ठ(धिष्ठि)रवृत्तेः वाकाटकानां महाराजश्रि-
(श्री)पृथि[1]वी-
१३ षेणस्य सूनोर्भगवतः चक्रप(पा)णेः प्रसादोप(पा)र्जितश्रि(श्री)समुद-
१४ यस्य व(वा)काटकानां महाराजश्रीर(रु)द्रस(से)नस्य सूनोः महाराजा-[3]

द्वितीय पत्र दूसरी बाजू

१५ धिराजा(ज)श्रि श्री)देवगुप्तसुतायो(यां) प्रभावतीगुप्तायामुत्पन्नस्य शा-
(श)म्भो :*]
१६ प्रसादधृति(त)कार्त्तयुगस्य वाकाटकानाम्परममाहै(हे)श्वरमहा-
१७ राज(ज)श्रीप्रवरसेनस्य वचना[त्*]॥सुप्रतिष्ठ(ष्ठा)हारे ग्रिहग्रामस्य[4]
१८ पूर्व्वतः कदम्बसरकस्य [द]क्ष(क्षि)णतः नीलीग्रामस्य प-
१९ श्चिमेनः(मतः) कोकिलारश्य(स्य) उत्तरतः वेलुसुकन्नाम ग्राम. अत्रस्मा[6]
२० राजमानेनः[7] भूम(मे)न्नि(न्नि)वर्त्तनशतानी(नि) चत्वारि ४०० वीश-
तीम[8] सं-
२१ वत्सरे विपुववाचनक[9]वाजी(जि)लोहित्या(त्य)सगोत्रस्य

१. इस अक्षर की 'इ' प्रथम दीर्घ कोरी गई थी, बाद में उसे ह्रस्व बनाया गया।
२. कोरकने प्रथम 'कि' कोरा और बाद में उसका 'श्रि' किया।
३. इस अक्षर के नीचे 'मारदे|से|' अक्षर उत्कीर्ण हैं, किन्तु वे ४२ वीं पंक्ति मे 'बाप्पदेवे' शब्द के पश्चात् व 'न' के पूर्व पढ़े जाने चाहिए।
४. पढ़िये 'गृध्रग्रामस्य'।
५. इस शब्द के पूर्व २ का चिह्न उत्कीर्ण है जो इस पत्र के क्रमांक का सूचक है।
६. पढ़िये 'एतस्मात्'।
७. यह विसर्ग निरर्थक है।
८. पढ़िये 'विंशतितमे'। बहुधा 'पञ्चविंशतितमे' विवक्षित है। ४१वी पंक्ति में शासनवर्ष देखिये। 'पञ्च' का 'ञ्च' अक्षर ४२वी पंक्ति में लिखा है।
९. बड़े आकार के ये अक्षर पहिले के अक्षरों को भीतर की ओर ठोक कर उनके ऊपर कोरे गये हैं।

तृतीय पत्र : पहिली बाजू

२२ एकार्जुनकव(वा)स्तव्यस्य[1] द्विवेदरुद्राय्या(र्य्या)य दत्तानि [।*] यतो-
स्मत्सन्तकाः

२३ सर्व्वाद्धि(द्धय)क्ष[नि]योगनियुक्ताः आज्ञासञ्चार(रि)कुलपुत्राधिकृता
भजा(टा)श्छ(श्छा)-

२४ त्र(त्रा)श्च विश्रुतपूर्व्वयज्ञापयितव्याः[2] [।*] विदितमस्तु वः यथेहास्मा-

२५ भिरात्मनो धर्म्मायू(यु)र्व्वलविजयि(यै)श्वर्य्य[वि]वृद्धये इहामुत्र-

२६ ही(हि)तार्त्थमात्मानुग्रहाय वैजयिके धर्म्मस्थाने अपूर्व्वदत्या(त्त्या)[उ]द-

२७ कपूर्व्वमती(ति)सृष्टः[3] [।*] अथास्योचिता(तां) पूर्व्वराजानुमता(तां) चा-
तुर्व्वै(र्व्वै)द्या-

२८ ग्रहारमर्य्यादान्वितरामः[4] [।*] तद्यथा अकरदायी अभटच्छात्र-

तृतीय पत्र : दूसरी बाजू

२९ प्रावेश्यः अपारंपरगोबलीवर्द्दः अपुष्पक्षीरसन्दोहः

३० अचारासनचर्म्माङ्गारः अलवणक्री(क्ति)न्नक्के[ण](णि)खनकः
सनि[धिः]

३१ सोपन(नि)धिः सक्लृप्तोपक्लृप्तः सर्व्ववे(वि)ष्टिपरिहारपरिहृतः

३२ [5]आचन्द्रादित्या(त्य)कालीयः पुत्रपौत्रा[नु][ता](गा)मि(मी) भुज्यमा-

३३ नः न केनचिद्व्याघातयितव्यः सर्व्वक्रियाभिस्संरक्षितव्यः

३४ परी(रि)वर्द्धय(यि)तव्या(व्य)श्च [।*] यस्माच्छासनमरणयमानः[6] स्व-
ल्पामपी(पि)

१. पढ़िये '-सगोत्राय' तथा '-वास्तव्याय'।
२. पढ़िये 'विश्रुतपूर्व्वयाज्ञया'।
३. 'ग्रामः' शब्द को इसका विशेष्य मानना चाहिये। किन्तु इस दान-पत्र का लेखक यह भूल गया कि इसमें सम्पूर्ण ग्राम नहीं, अपितु केवल कुछ निवर्तन भूमि दान में दी गई है।
४. पढ़िये 'मर्य्यदां वितरामः'।
५. इस शब्द के पूर्व ३ का चिह्न है जो इस पत्र के क्रमांक का सूचक है।
६. पढ़िये 'योस्मच्छासनमगणयमानः'।

३५ परिबाधा(धां) कुर्य्यात्कारयात वः[1] तस्य ब्राह्मणैर्व्वेदी(दि)तस्य सदण्डां(डं)

३६ निग्रह(हं) कुर्य्यमः (कुर्याम)[।]अस्मि(स्मि)श्च धर्म्मादा[र*]रकरणे अतीतानेकराज[दत्त*]सञ्चि-

३७ न्तनपरिप(पा)लन(नं) कृतपुण्यनुकीर्त्तिनं[2] कीर्त्तयामः [।*] व्यासगीतो-(तौ) चात्र

३८ श्लोका(श्लोकौ) प्रमासिकर्त्तव्यौ[3] ॥ स्वदत्ता(त्तां) परदत्तां वा हरेद्यो वै वसुन्धराम् [।*]

३९ गवां शतसहस्रस्य हतु[4]र्हरति दुष्कृत(तम्) ॥[5] [१॥*]षष्टिं वर्षसह-

४० स्रानि(णि) स्वर्ग्गे मोदति भूमिद [।*]आच्छेत्ता चानुमन्त(न्ता) च त-(ता)न्येक(व) नरका(के)

४१ वसेदिति (वसेत् ॥ २ ॥ इति)॥ संवत्सरे पञ्चवोङ्शातीम[6] ज्येष्ठसुक्लदशम्या[7]

४२ सेन(ना)स(प)तौ बा[प्प[8]]देवे न[9] लीखीतं[10]॥[ञ्च[11]]मस्तु[12] ॥

१. पढ़िये 'कारयेद्वा'।
२. पढ़िये 'कृतपुण्यानुकीर्त्तनपरिहाराय न'।
३. पढ़िये 'प्रमाणीकर्त्तव्यौ'।
४. 'हन्तु' का 'न्' अकारण मिटा दिया गया है।
५ उसका व अगले श्लोक का वृत्त—अनुष्टुभ्।
६. पढ़िये 'पञ्चविंशतितमे'।
७. पढ़िये 'शुक्लदशम्यां'।
८. इस संयुक्त व्यञ्जन का दूसरा (निचला) अक्षर 'ह' कोरा गया था। बाद में उसका 'प' किया गया।
९. पढ़िये 'मारदासेन'। 'मारदासे' अक्षर यहां अनवधान से छूट गये थे, वे गलती से द्वितीय पत्र की पहिली बाजू पर दायीं ओर के नीचे के कोने में लिखे हैं।
१०. पढ़िये 'लिखितम्'।
११. 'ञ्च' 'पञ्च' का अवशिष्ट अंश है। यह शब्द २०वीं पंक्ति के 'वोशतीम' के पूर्व आना चाहिए था।
१२. पढ़िये 'सिद्धमस्तु' किंवा 'शुभमस्तु'।

१३. प्रवरसेन द्वितीय का पट्टन ताम्रपट

उपलब्धि—यह ताम्रपट मध्यप्रदेश के बैतूल जिले के पट्टन ग्राम में एक किसानको खेत जोतते समय सन् १९५३ में प्राप्त हुआ था। बाद में नागपुर संग्रहालय के अधिकारियोने उसे हस्तगत कर वाचन के लिए मेरे पास भेजा। मैंने उसे एपिग्राफिया इंडिका, जि. २४, पृ. ८१ इ. में छापे के साथ प्रकाशित किया। उसी छापे से यहां उसका वाचन किया गया है। ताम्रपट इस समय नागपुर संग्रहालय में है।

वर्णन—इस ताम्रपट के पांच पत्रो में से प्रथम तथा अन्तिम पत्र एक ओर तथा शेष पत्र दोनों ओर उत्कीर्ण हैं। प्रत्येक पत्र की लम्बाई ६·९ इंच चौड़ाई ४ इंच और मोटाई $\frac{1}{16}$ इंच है। लेख की सुरक्षा के लिए पत्रो की किनारे मोड़ी नहीं गई हैं। प्रत्येक पत्र को बायीं किनारे से १·९ इंच के अन्तर पर मध्यभाग में कड़ी के लिए आधे इंच व्यास का छिद्र है। ताम्रपट के पत्र जब नागपुर संग्रहालय आये तब उनको कड़ी सीधी हो गई थी तथा पत्र और मुद्रा उससे अलग हो गई थी। आरम्भ में पत्र अच्छी तरह चिकने नहीं किये गये थे। इसके अतिरिक्त उनपर काफी जंग लग गई है। ४५ वीं पंक्ति के दायी ओर के तथा अगली दो पंक्तियों के अनेक अक्षर पत्रो के परस्पर घर्षण से अस्पष्ट हो गये हैं, तथापि पर्याप्त प्रयत्न से वे पढ़े जा सकते हैं। पत्रों के प्रत्येक कोरे हुए पार्श्व पर छह पंक्तियां हैं, किन्तु तृतीय पत्र की पहली बाजूपर केवल पांच पंक्तियां उत्कीर्ण हैं। मुद्रापर चार पंक्तियो का एक श्लोक है, जो प्रवरसेन द्वितीय के समस्त ताम्रपटों की मुद्राओ पर उत्कीर्ण पाया जाता है।

लिपि—प्रस्तुत लेख की लिपि पेटिकाशीर्षक प्रकार की है। उसकी निम्न विशेषताएं उल्लेखनीय हैं—ईकार बहुधा अर्धवृत्त में छोटी सी वक्र रेखा द्वारा व्यक्त किया गया है; किन्तु कहीं-कहीं परस्पर विरुद्ध दिशाओं में जानेवाली वक्र रेखाओं के द्वारा अथवा अर्धवृत्त में बिन्दु रखकर बनाया गया है। व्यञ्जनयुक्त ओकार कहीं कही घुमावदार और औकार सर्वत्र द्विभागयुक्त है। 'ज' और 'ब' के बायीं ओर गड्ढा नहीं है। अन्तिम व्यञ्जन छोटे आकार द्वारा अथवा उसके सिरपर आड़ी रेखा बनाकर सूचित किया गया है। उपध्मानीय का चिह्न ताम्रपट-लेख की १५, १८ और ३५ वी पंक्तियों में और मुद्रा-लेख की चौथी पंक्ति में दिखाई पड़ता है। विरामचिह्न दो या तीन खड़े दण्डों और उनके अनन्तर छोटी-सी कुछ वक्र आड़ी रेखा के द्वारा व्यक्त किया गया है।

भाषा—लेख की भाषा संस्कृत है और मुद्रापर के श्लोक तथा ताम्रपट के अन्त के शापाशीर्वादात्मक श्लोकों के अतिरिक्त सम्पूर्ण भाग गद्य में है। उसमें शुद्ध लेखन, सन्धि, वाक्यरचना, नामों और क्रियापदो के रूप, कृदन्त, तद्धित रूप इत्यादि की अनेक त्रुटियां हैं। इन त्रुटियो का कारण लेखक का अज्ञान अथवा असावधानी प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, 'सुनोः' (पं. ४) शब्द में दीर्घ स्वर के स्थानपर ह्रस्व स्वर, 'प्रिथिवि' (पं. १४) मे 'ऋ' के स्थान पर 'रि' और 'क्लिप्तोपक्लिप्त' (पं. ३) में 'लृ' के स्थान पर 'लि' का प्रयोग किया गया है। 'गुणै समुपेतस्य' (पं. १२) जैसे स्थलों पर सन्धि की त्रुटियां दृष्टिगत होती हैं। 'पूर्व्वाया' (पं. २५), 'कारयीत' (पं. ३६), 'कुर्य्यामः' (पं. ३७) इत्यादि स्थलो पर अशुद्ध रूप प्रयुक्त हैं। 'कारावक' (पं. ४६-४७) शब्द में कृदन्त तथा 'राजक्य' (पं. २२) में तद्धितान्त अशुद्ध हैं। 'सुतायाः प्रभावतीगुप्तायाम्' (पं १७) में समन्वय का तथा 'मूर्ध्नाभिषिक्ताना-' (पं. ७) मे समास के नियमो का पालन नहीं किया गया है। कुछ स्थलों पर 'र्' के पूर्व तथा पश्चात् और 'य्' के पूर्व आनेवाले व्यञ्जन का द्वित्व किया गया है जो व्याकरणविषयक नियमो के अनुरूप है।

विषय—अन्य अनेक वाकाटक दानपत्रों की भांति प्रस्तुतलेख का आरम्भ भी 'दृष्टम्' शब्द से होता है। वाकाटक महाराज प्रवरसेन द्वितीय के इस लेख में दी गई उसकी वंशावली उसके अन्य दानपत्रों के समान ही है। इसमे भी उसके मातामह का नाम देवगुप्त ही दिया गया है। प्रवरपुर से दिये गये प्रस्तुत ताम्रपट का उद्देश्य इस बात का उल्लेख करना है कि अश्वत्थखेटक मे महापुरुष अर्थात् विष्णु की पादुकाओ के (देवालय के) अन्नसत्र को प्रवरसेन द्वितीय ने नारायणराज की प्रार्थना पर राजमान के अनुसार ४०० निवर्तन भूमि दान में दी। यह ग्राम लोहनगर भाग में वरदाखेट नामक मार्ग मे था। यह दानपत्र प्रवरसेन द्वितीय के सत्ताइसवे शासन-वर्ष मे कार्तिक कृष्ण सप्तमी को लिखा गया था। इसका लेखक सेनापति कात्यायन का सेवक कालिदास था। लेख के अन्त में कहा गया है कि कौण्डराज के सेवक सुवर्णकार ईश्वरदत्त ने इस ताम्रपट को कोरा और पितामह तथा नन्द ने यह राजशासन तैयार कराया।

चर्चा—यह ताम्रपट प्रवरसेन द्वितीय के राज्यकाल के सत्ताईसवे वर्ष में दिया गया था। इस ताम्रपट मे प्रवरपुर के उल्लेख से इसमें संशय नहीं रहता कि वह नगरी प्रवरसेन द्वितीय के शासनकाल के प्रायः अन्त तक वाकाटकों की राजधानी थी। इस ताम्रपट मे उल्लिखित कौण्डराज तथा जिसके आग्रहपर प्रवरसेन द्वितीय ने चम्मक ताम्रपट दिया था वह राजा शत्रुघ्न का पुत्र कौण्डराज दोनो अभिन्न प्रतीत होते हैं।

कालिदास—एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न जो हमारे समक्ष उपस्थित होता है वह यह है कि प्रस्तुत ताम्रपट मे लेखक के रूप मे उल्लिखित कालिदास तथा सुप्रसिद्ध

संस्कृत कवि कालिदास भिन्न हैं या अभिन्न। अधिकाधिक आधुनिक विद्वानों को कालिदास की गुप्तकालीनता मान्य होती जा रही है। तथापि उत्कीर्ण लेखों में कालिदास का नामोल्लेख शक ५५६ (सन् ६३४) के ऐहोले शिलालेख के पूर्व प्राप्त नहीं होता। गुप्तकालीन उत्कीर्ण लेखों में कालिदास के नामोल्लेख का यह प्रथम उदाहरण है।

यह सत्य है कि प्रस्तुत ताम्रपट में कालिदास का नाम लेखक के रूप में आया है, किन्तु केवल इस कारण यह कहना उचित न होगा कि वह कविकुलगुरु कालिदास से भिन्न ही है। ये दानपत्र सामान्यतः सान्धिविग्रहिक (परराष्ट्रविभाग का अध्यक्ष) अथवा सेनापति के कार्यालय के क्लार्कों द्वारा लिखे जाते थे, किन्तु कई बार उनमें उच्च अधिकारियों के नाम लेखक के रूपमें पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, तिरोडी ताम्रपट में तत्कालीन राज्याधिकृत का नाम लेखक के रूपमें आया है। उज्जयिनी कालिदास का निवासस्थान मानी जाती है, किन्तु प्रवरसेन द्वितीय के राज्यकाल में विदर्भ में उनका आना असम्भव नही। प्राकृत काव्य सेतुबन्ध के टीकाकार रामदास ने एक परम्परागत कथा का उल्लेख किया है जिसके अनुसार महाराजाधिराज विक्रमादित्य की आज्ञा से महाराज प्रवरसेन के लिये कालिदास ने उस काव्य की रचना की। यह विक्रमादित्य गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय से तथा प्रवरसेन वाकाटक नृपति प्रवरसेन द्वितीय से अभिन्न है। इस काव्य के लिए कालिदास विदर्भ में कुछ समय रहा होगा। प्रतीत होता है कि विदर्भ में रहते समय वाकाटक राजधानी नन्दिवर्धन के निकट रामगिरि जाने पर उसे मेघदूत काव्य की कल्पना सूझी होगी। विदर्भवास के समय प्रस्तुत ताम्रपट के उल्लेखानुसार यदि कालिदास सेनापति के कार्यालय में नियुक्त किया गया हो तो इसमे कोई आश्चर्य नही। अतः यह मानना अनुचित न होगा कि प्रस्तुत ताम्रपट उसने लिखा है।

किन्तु प्रस्तुत दानपत्र का सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर उपरिनिर्दिष्ट मत ग्राह्य प्रतीत नहीं होता। इस दानपत्र के लेखक को संस्कृत भाषा का अत्यल्प ज्ञान था। जैसा की ऊपर कहा जा चुका है, इस लेख में शुद्ध लेखन तथा व्याकरण की अनेक त्रुटियां हैं। इन त्रुटियो के लिए लेखक ही उत्तरदायी होना चाहिए, ताम्रपट को कोरनेवाला नही। सस्कृत भाषा पर कालिदास का प्रभुत्व सर्वमान्य है। एक उपमा में उसने शुद्ध भाषा का महत्त्व सूचित किया है[1]। अन्य कवियों के ग्रन्थों की अपेक्षा उसकी रचनाओ मे व्याकरणदुष्ट प्रयोग बहुत कम दृष्टिगत होते हैं। अतः कविकुलगुरु कालिदास के हाथो प्रस्तुत ताम्रपट के समान शुद्ध लेखन, विशेषण-

१. 'संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च' कुमार-सम्भव, १।२८।

विशेष्य-समन्वय, सन्धि, नामों तथा क्रियापदों के रूप, कृदन्त, तद्धित, इत्यादि की त्रुटियां होना सम्भव नहीं है। इस प्रकार प्रस्तुत ताम्रपट का लेखक कविकुलगुरु कालिदास न होकर उसका समकालीन तन्नामधारी साधारण क्लार्क था। वाकाटकों के ताम्रपटों में ऐसे 'दास' पदान्त अनेक नाम प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए देखिए सेनापति नमिदास, राज्याधिकृत चमिदास, लेखक चक्रदास, गोलदास और मारदास।

स्थलनिश्चय—प्रस्तुत ताम्रपट में उल्लिखित स्थलनामों में से वरदाखेट अमरावती जिले की मोरशी तहसील में स्थित वरूड होना चाहिए। यह ग्राम पट्टन से लगभग १२ मील दक्षिण में है। लोहनगर की पहचान वरूड से लगभग ६ मील नैर्ऋत्य में स्थित लोणी के साथ की जानी चाहिए। दान में दी गई भूमि जिस अश्वत्थखेटक ग्राम में थी वह इस समय कहीं भी दृष्टिगत नहीं होता। वर्तमान पट्टन सम्भवतः उसी के स्थान पर बसा हुआ है। पट्टन ग्राम के विषय में एक दन्तकथा प्रचलित है जिसके अनुसार वहा का प्रचलित ग्राम सुलेमानशाह नामक एक मुसलमान फकीर के शाप से उलटा होकर भूमि मे समा गया था। खुदाई करने पर आज भी पट्टन ग्राम में बड़े आकार की ईंटें, मणि और प्राचीन मुद्राएँ प्राप्त होती हैं, जिससे स्पष्ट है कि यह प्राचीन ग्राम के स्थान पर बसा हुआ है। इसके अतिरिक्त वरूड के निकट होने के कारण सम्भवतः प्राचीन वरदाखेट नामक 'मार्ग' में उसका समावेश होता था। इस प्रकार प्रस्तुत लेख में उल्लिखित अश्वत्थखेटक का वर्णन पट्टन ग्राम पर लागू होता है।

वाचन[1]

प्रथम पत्र

१ दृष्टः(ष्टम्) [।*] स्वस्ति ॥ प्रवरपुरात् अग्निष्टोमाप्तोर्य्यामोक्थ्यषो-
२ डश्यतिरात्रवाजपेयबृहस्पतिसवसाद्यस्क्रचतुरश्व-
३ मेधयाजिनः विष्णुवृद्धसगोत्रस्य सम्राट्[2] वाकाटका-
४ नाम्महाराजश्रीप्रवरसेनस्य सु(सू)नोः सु(सू)नोरत्यन्त्य(न्त)स्वामिम-
५ हाभैरवभक्तस्य अन्स[3]भारसन्निवेशितशिवलिङ्गोद्वहनशि-
६ वसुपरितुष्टसमुत्पादितराजवङ्शानां[4]म्पराक्रमाधिगतभा-

१. एपिग्राफिया इंडिका, जि. २३, पृ. ८६-८८ के सामने के छापो से।
२. पढ़िये 'सम्राजः'। ३ पढ़िये 'भंस-'।
४. पढ़िये 'वंशाना-'।

द्वितीय पत्र : पहिली बाजू

७ गीरत्थ्या(त्थ्य)मलजलमूर्ध्ना(र्धा)भिषिक्तानान्दशाश्वमेधावभृथस्नाता-
८ नाम्भारशी(शि)वा[1]नाम्महाराजश्रीभवनाग[दौ]हित्रस्य गौतमीपु-
९ त्रपुत्रस्य[2] वाकाटकानाम्महाराजश्रीरुद्रसेनस्य सु(सू)नोर-
१० त्यन्त्य(न्त)माहेश्वरस्य सत्यार्ज्जवकारुन्य(ण्य)शौर्य्यविक्रमन-
११ यविनयमाहात्म्यधीमत्व(त्त्व)पात्रगतभ[क्तित्व]पात्रगतभ-
१२ क्तित्व[3]धर्म्मविजयित्वमनोनैर्म्मल्यादिगुणै[:*] समुपेतस्य

द्वितीय पत्र : दूसरी बाजू

१३ वर्षशतमभिवर्द्धमानकोशदण्डसाधनसन्तानपुत्रपौ-
१४ त्र(त्रि)णः युधिष्ठिरवृत्तेर्व्वाकाटकानाम्महाराजश्रीप्रिथिविसे-
१५ नस्य[4] सु(सू)नोर्भगवतश्चक्रपाणे=प्रसादोपार्ज्जितश्रीसमु-
१६ दयस्य वाकाटकानाम्महाराजश्री[रु]द्रसेनस्य सु(सू)नो-
१७ म्म(र्म्म)हाराजाधिराजश्रीदेवगुप्तसुतायाः[5] प्रभाव[ति] गुप्ता-
१८ यामुत्पन्नस्य शम्भो=प्रसादधृति[6]कार्त्तयुगस्य वाकाटकाना-
१९ म्परममाहेश्वरमहाराजश्रीप्रवरसेनस्य वचना[त्]॥
२० लोहणगराभागे[7] वरदाखेटमार्ग्गे अश्वस्थ(त्थ)खेटके
२१ सब्राह्मणपुरोगो ग्रामो वक्तव्यः [।*] अत्र ग्रामे रा-

१. इस अक्षर के ऊपर की पेटिका पूरी तरह नहीं कोरी गई है।
२. अन्य सब वाकाटक ताम्रपटों मे 'गौतमीपुत्रस्य पुत्रस्य' शब्द पाये जाते हैं, जिससे उनका अन्वय सन्दिग्ध था। प्रस्तुत ताम्रपट के पाठ से स्पष्ट होता है कि 'अत्यन्तस्वामिमहाभैरवभक्तस्य' इत्यादि विशेषणों का विशेष्य 'गौतमीपुत्रस्य' न होकर 'रुद्रसेनस्य' ही होना चाहिए।
३. 'पात्रगतभक्तित्व' इस सामासिक शब्द की व्यर्थ पुनरुक्ति हुई है।
४. पढ़िये 'पृथिवीषेणस्य'।
५. पढ़िये 'सुतायां'।
६. पढ़िये 'धृत-'।
७. पढ़िये 'लोहनगरभागे'।

२२ जक्य[1]मानेन भूमेर्न्निवर्तनशतानि[2] चत्वारि महापुरुषपा-
२३ दमूलसत्रोपयोज्यं[3] नारायणराजविज्ञाप्येन दत्तम् [।*]

तृतीय पत्र : दूसरी बाजू

२४ यतोस्मत्सन्तकास्सर्व्वाद्धयक्षनियोगनियुक्ताः आज्ञासञ्चा-
२५ रिकुलपुत्राधिकृता भटा[श्छा]त्राश्च विश्रुतपूर्व्वा(र्व्व)याज्ञया-
२६ ज्ञापयितव्याः [।*] विदितमस्तु व(वो) यथे(थै)षास्माभिरात्म-[4]
२७ नो धर्म्मायुर्ब्बलविजयैश्वर्य्यविवृद्धये इहामुत्रहिता-
२८ र्त्थमात्मानुग्रहाय वैजयिके धर्म्मस्थाने अपूर्व्वदत्या(त्त्या) उदक-
२९ पूर्व्वम्प्रतिसृष्ट· [।*] अथास्योचिताम्पूर्व्वरा[जा]नु[मतां] चातु-

चतुर्थ पत्र : पहिली बाजू

३० र्व्यै(र्व्वै)द्याग्रा(ग्र)हारमर्य्यादान्वितरामः[।*][5] तद्यथा अकरदायी अभट-
३१ च्छ(च्छा)त्रप्रावेश्यः अपारम्परगोबलिवर्द्द अपुष्पक्षीरसन्दोह[:*] अ-
३२ पा(चा)रासनचर्म्माङ्गार अलवणक्केणिखनकः सर्व्ववे(वि)ष्टिपरीहा-
३३ हारपरिहृत[:*] सनिधिः सोपनिधिस्सक्लि(क्ल)प्तोपक्लि(क्ल)प्तः आचन्द्रादित्यका-
३४ लीयः पुत्रपौत्रानुगामी भुज्यमान(नो) न केनचिद्बाधातयितव्य
३५ सर्व्वकृ(क्रि)याभिस्स(स्सं)रक्षितव्य परिवर्द्धयितव्यश्च [।*] य[श्चा]-
स्मच्छासनम-

१. पढ़िये 'राजकीय-'।
२. 'ता' की बायीं ओर की रेखा मिटा दी गई है।
३. पढ़िये -'सत्रोपयोज्यानि' व 'दत्तानि'।
४. 'एषा' के साथ २९ वी पक्ति के 'प्रतिसृष्टः' शब्द का अन्वय नही जमता। पढ़िए 'एषा [भूमिः*] प्रतिसृष्टा' अथवा 'एषो[ग्रहारः*] प्रतिसृष्टः'।
५. पढ़िए '-मर्य्यादां वितरामः'। यह दान ब्राह्मणों को न देकर देव को दिया गया है इसकी ओर ध्यान न देकर इस दानपत्र के लेखक ने ब्राह्मणो को दिए गए दानपत्रो को अनुकरण किया है। इस सम्बन्ध में 'ब्राह्मणैर्वेदितस्य (पं. ३६-७) शब्द द्रष्टव्य है। इसके अतिरिक्त इस लेख में उल्लिखित कतिपय परिहार छोटे भूमिदान के अनुरूप न होकर सम्पूर्ण ग्राम के दान पर लागू होते हैं।

चतुर्थ पत्र : दूसरी बाजू

३६ गणयमान[:*] स्वल्पामपि परिबाधां कुर्य्यात्कारयीत वा[1] तस्य ब्राह्म-
३७ णैर्व्वेदितस्य सदण्डनिग्रहं कुर्य्यामः(म)[।*] अस्मिश्च[2] धर्मादरक-
३८ [र*]णे अतीतानेकराजदत्ता(त्त)सद्भिन्तनपरिपालन(नं) कृतपुन्या(ण्या)-
३९ नुकीर्त्तनपरिहारार्थं[3]न्न कीर्त्तयामः [।*] व्यासगीतौ चात्र श्लोकौ
४० प्रमाणीकर्त्तव्यौ [।*] स्वदत्ताम्परदत्तां व्वा(वा) यो हरेत वसुन्धराम् [।*]
४१ गवां शतसहस्रस्य हन्तुर्हरति दुष्कृत[म्][4] ॥ [१॥*]-

पंचम पत्र

४२ षष्टिवर्षसहस्राणि स्वर्गे मोदति भूमिद[:।*] आच्छेत्ता
४३ चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेदिति॥ [२॥*] सांव्वत्सरे सप्ताविङ्शे[5]
४४ कार्त्तिकबहुलपक्षसप्तम्यां सेनापतिकात्यायन-
४५ सन्तकेन लिखित(तं) कालि[6]दासेन [।*] [कौण्डराजसन्तकेन सुव[7]]र्ण-
४६ कार[8] ईश्वरदत्तेन खातं(तम्) ॥ अस्य शासनस्य कारा-
४७ वकौ पितामहनन्दौ ॥

मुद्रा

१ वाकाटकललामस्य
२ क्रमप्राप्तनृपश्रियः [।*]
३ राज्ञः प्रवरसेनस्य
४ शासनं रिपुशासनम्[9] [॥*]

१. पढ़िए 'कारयेद्वा'।
२. पढ़िए 'अस्मिश्च'।
३. यह अनुस्वार निरर्थक है।
४. इसका व अगले श्लोक का वृत्त-अनुष्टुभ्।
५. पढ़िए 'संवत्सरे सप्तविंशे'।
६. 'लि' के अर्धवृत्त में दिखाई पड़नेवाला बिन्दु ताम्रपत्र के दोष के कारण उत्पन्न हुआ होगा।
७. इस कोष्ठक के अक्षर मूल पत्र पर स्पष्टरूप से पढ़ने में आते हैं।
८. पढ़िए 'सुवर्णकारेण'। ९. वृत्त-अनुष्टुभ्।

१४. द्वितीय प्रवरसेन का पांढुर्णा ताम्रपट

उपलब्धि—यह ताम्रपट मध्यप्रदेश के छिंदवाड़ा जिले में स्थित पांढुर्णा गांव के उत्तर-पश्चिम में लगभग छह मील दूर टोगांव नामक ग्राम में सन् १९४२ में कडू पटेल का पुराना घर गिरने पर प्राप्त हुआ था। इसके कुछ वर्ष पश्चात् जब श्री. एम्. जी. कर्णिक छिंदवाड़ा के डेप्युटी कमिश्नर थे तब यह ताम्रपट उनके हाथो में आया। श्री कर्णिक ने वाचन के लिए उसे श्री. वि. प्र. रोडे को दिखलाया तब यह पता चला कि वह द्वितीय प्रवरसेन का है। इस बीच श्री. कर्णिक का कमिश्नर के रूप में भोपाल स्थानान्तर हो गया। तब मेरी प्रार्थना पर पुरातत्त्व विभाग के भोपाल स्थित सुपरिटेंडेंट श्री कृष्णदेव ने श्री कर्णिक की अनुमति से उसकी छाप लेकर मेरे पास भेजी। इसके अनन्तर भारत सरकार के पुरालेखशास्त्रज्ञ डॉ. बहादुर चन्द्र छाबड़ा ने भी उसकी उत्कृष्ट छाप मेरे पास भेजी। इन सबका मै अत्यन्त ऋणी हूँ। डॉ. छाबड़ा द्वारा भेजी हुई छापो से यहां मै उसका सम्पादन कर रहा हूँ[1]।

वर्णन—प्रस्तुत ताम्रपट के ७·५ इंच लबे और ३·७ इंच चौड़े पाच पत्रे हैं। पहिले व पाचवें पत्रो पर एक ओर तथा शेष पत्रो पर दोनो ओर लेख उत्कीर्ण है। इन पत्रों में कड़े के लिए आधे इंच व्यास का वर्तुल छिद्र है। कड़ा तो उपलब्ध है, किन्तु उसपर की मुद्रा नहीं मिली। सब पत्रो पर लेख अच्छी स्थिति में है। पत्रों व कड़े का वजन १९५ तोला है।

यह लेख ५५ पंक्तियो का है। सब पत्रों पर कोरी हुई पंक्तियों की संख्या एक-सी नही है। कुछ पर छह तो कुछ पर सात अथवा आठ पंक्तिया उत्कीर्ण हैं। प्रथम दो व अन्तिम दो पत्रो के अक्षर घुमावदार हैं, किन्तु तीसरे पत्र का लेख असावधानीपूर्वक लिखा हुआ प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त इस पत्र के लेख की भाषा अत्यन्त अशुद्ध है और उसमें कतिपय प्राकृत शब्दो एवं प्रत्ययों का मिश्रण दृष्टिगोचर होता है। इन सब प्रमाणो से यह प्रतीत होता है कि यह तीसरा पत्र बाद में किसी ने मूल पत्र के स्थान पर जोड़ दिया है।

अक्षरों की बनावट—वाकाटको के अन्य लेखों के समान इस लेख की लिपि भी पेटिका-शीर्षक (box-headed) प्रकार की है। जिह्वामूलीय का चिह्न

१. इस लेख के पूर्ण होने पर श्री कर्णिक ने मुझे यह ताम्रपट वाचन के लिए दिया। उसके आधार पर पहिले के वाचन की फिर से जांच कर ली गई है।

पं. ४३ में और २०, ९, ७ एवं ५ इन संख्याओं के चिह्न पं. २७, २८, ३०, ३१ एवं ५३ में आये हैं।

भाषा - प्रस्तुत लेख की भाषा संस्कृत है और अन्त के शापाशीर्वादात्मक दो श्लोकों को छोड़कर उसका सम्पूर्ण भाग गद्य में है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, तीसरे पत्र का लेख बनावटी दिखाई पड़ता है। उसमें 'वत्थव्व' अथवा 'वात्थव्व' (पं. २८, ३१) (संस्कृत, 'वास्तव्य'), 'पाणुविसा' अथवा 'पानुविसा' (पं. २६, २९) (संस्कृत, 'पंचविंशतिः') जैसे प्राकृत शब्द प्रयुक्त हैं। 'पदन्नराति' (पं. २८), 'निजुत्तिनराति' (पं. ३१) जैसे कुछ शब्दों का अर्थ भलीभांति लग नहीं पाया। वाकाटकों के अन्य लेखों की भांति इसमें भी अनुस्वार के स्थान पर अनुनासिक तथा 'ऌ' के लिए 'लि' का व्यवहार तथा 'र्' के अनन्तर आनेवाले व्यंजन का द्वित्व आदि विशेषताएं उपलब्ध होती हैं।

विषय—प्रस्तुत ताम्रपट वाकाटक नृपति द्वितीय प्रवरसेन ने दिया था। वाकाटकों के पुर्ण हुए ताम्रपटों के आरम्भ में 'दृष्टम्' (देख लिया है) शब्द आता है। इस लेख में भी यह शब्द आया है। द्वितीय प्रवरसेन की वंशावली यहां भी उसके अन्य ताम्रपटों के समान ही है। वह सुप्रसिद्ध गुप्त सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य का दौहित्र था। इस गुप्त सम्राट् का नाम वाकाटकों के अनेक ताम्रपटों में 'देवगुप्त' दिया गया है। यही नाम इस लेख में भी आया है।

प्रस्तुत ताम्रपट के आरम्भ में कहा गया है कि यह प्रवरेश्वरदेवकुलस्थान से दिया गया था। किन्तु लेख में यह नही बताया गया कि यह 'प्रवरेश्वर-देवालय' कहां था। 'प्रवरेश्वर' शिव का नाम प्रतीत होता है। वाकाटक सम्राट् प्रथम प्रवरसेन ने शिवलिङ्ग की स्थापना करके अपने नाम पर उसका नाम 'प्रवरेश्वर' रखा होगा। जिस प्रदेश में प्रवरेश्वर का यह देवालय था उसका नाम 'प्रवरेश्वरषड्विंशतिवाटक' था। यह नाम कुछ वर्ष पूर्व बेलोरा (जिला वर्धा) से प्राप्त दो ताम्रपटों में आया है। इस नाम से ज्ञात होता है कि उक्त भूभाग में छब्बीस ग्राम थे। प्रवरेश्वर देवालय निश्चितरूप से कहां था यह अब तक ज्ञात नहीं हो सका है। किन्तु प्रतीत होता है कि वह वर्धा जिले मे ही कहीं रहा होगा।

काल—पं. ५३ के कथनानुसार प्रस्तुत ताम्रपट द्वितीय प्रवरसेन ने अपने राज्यशासन के उनतीसवें वर्ष में वैशाख कृष्ण दशमी को दिया था। प्रवरसेन के राजत्वकाल का यह अन्तिम ज्ञात वर्ष है। अतः उसने लगभग तीस वर्ष राज्य किया होगा। प्रस्तुत ताम्रपट में किसी निश्चित संवत् का उल्लेख न होने से उसकी निश्चित तिथि का पता लगाना सम्भव नहीं है। द्वितीय प्रवरसेन ने लगभग सन् ४२० से ४५० तक राज्य किया।

प्रस्तुत लेख का उद्देश्य इस बात का उल्लेख करना है कि द्वितीय प्रवरसेन ने वारुचराज्य के ध्रुववासक नामक ग्राम की दो हजार निवर्तन भूमि विविध चरणों (शाखाओं) तथा गोत्रो के अनेक ब्राह्मणो को दान दी। इन ब्राह्मणो का उल्लेख प्रस्तुत ताम्रपट में आया है। ये चारो वाजसनेयी अथवा शुक्ल यजुर्वेदी थे और इनमें प्रथम तीन कौण्डिन्य गोत्र के थे। ध्रुववासक ग्राम की चतुःसीमा का निर्देश करते समय ब्राह्मणवाटक, अजकर्ण, बदरीग्राम और दर्भपथ नामक ग्रामों का उल्लेख आया है। इसमें यह भी कहा गया है कि पहिले पृथिवीराज अर्थात् वाकाटक नृपति प्रथम पृथिवीषेण ने विजयपल्लीवाटक नामक ग्राम दान दिया था और उसी के बदले (प्रतिवस्तु) द्वितीय प्रवरसेन ने यह भूमिदान किया। उस समय उसका सेनापति माधप्प था। यह ताम्रपट आचार्य ने लिखा था।

ऊपर कहा जा चुका है कि भाषा और लिपि के आधार पर प्रस्तुत ताम्रपट का तीसरा पत्र बनावटी प्रतीत होता है। इस पत्र पर उत्कीर्ण लेख मे कल्लार में रहनेवाले ब्राह्मण सोमार्य को दिये हुए दो और दानों का उल्लेख है। इनमे से प्रत्येक दान पच्चीस निवर्तन भूमि का था। दोनो दान 'आरम्मिराज्य' प्रदेश में थे। इनमें से प्रथम दान की भूमि लेखपल्लिका ग्राम में और दूसरे दान की भूमि संगमिका ग्राम मे थी। द्वितीय प्रवरसेन के जिस शासनवर्ष मे मूल ताम्रपट का दान दिया गया था उसी वर्ष (अर्थात् उनतीसवे वर्ष) ये दोनों दान भी दिये गये थे, किन्तु उनका काल-निर्देश मास, पक्ष एवं तिथि के द्वारा न करके एक अन्य पद्धति से किया गया है। इनमें से प्रथम दान वर्षा ऋतु के पांचवे पक्ष के सातवे दिन और दूसरा उसी ऋतु के सातवे पक्ष के नौवे दिन दिया गया था। ऋतु, पक्ष एवं दिवस का उल्लेख कर काल-निर्देश करने की यह पद्धति अत्यन्त प्राचीन है। कुषाण, सातवाहन, पल्लव इत्यादि अत्यन्त प्राचीन राजवंशों के उत्कीर्ण लेखों में इस पद्धति का अवलम्बन किया गया है। किन्तु कालान्तर में यह पद्धति शनै शनैः लुप्त हो गई। वाकाटकों के केवल दो लेखों—द्वितीय विन्ध्यशक्ति के वाशीम ताम्रपट तथा द्वितीय प्रवरसेन के दूदिया ताम्रपट—में उसका उपयोग किया गया है। अन्य सब लेखों में कालनिर्देश वर्ष, मास, पक्ष एवं तिथि का उल्लेख करके किया गया है। प्रस्तुत ताम्रपट के दो हजार निवर्तन भूमि के मूल दान का काल निर्देश भी इस दुसरे प्रकार का ही है। तीसरे पत्र के लेख में उल्लिखित पच्चीस निवर्तनो के दो दानो का ही काल-निर्देश भिन्न पद्धति से किया गया है। इससे इस पत्र के बनावटी होने का संशय और भी दृढ़ होता है। मूल दान जिन ब्राह्मणो को दिया गया था वह सोमार्य भी उनमें से एक था। प्रतीत होता है कि स्वयं को मिले ताम्रपट के तीसरे पत्रे को बदल कर और दो भूमिदान हथियाने का उसने प्रयत्न

किया। किन्तु इस पत्र के लेख की लिपि, भाषा तथा काल-निर्देश से उसकी चालाकी अब स्पष्ट हो गई है।

स्थल निर्णय—प्रस्तुत ताम्रपट में उल्लिखित स्थल-नामों में से कुछ का पता लगाया जा सकता है। विजयपल्लीवाटक कन्हान नदी के बायें तट पर स्थित बिजागोर होना चाहिए। यह ग्राम मुलताई-छिंदवाडा मार्ग के उत्तर में चार मील पर है। वारुच्चराज्य के मुख्य स्थान वारुच्च की पहचान पांढुर्णा से चार मील पश्चिम में स्थित वारेगांव के साथ की जा सकती है। दान में दी हुई भूमि जिस ग्राम में थी वह धुववासक सम्प्रति दृष्टिगत नहीं होता, किन्तु उसकी चतुःसीमा के दो ग्राम तीगांव के निकट आज भी विद्यमान हैं। बदरीग्राम तीगांव के उत्तर में दो मील पर स्थित बोरगांव होना चाहिए, और अजकर्ण तीगांव के दक्षिण-पूर्व में चार मील पर स्थित अजनगांव. बनावटी तीसरे पत्र के लेख मे उल्लिखित लेखपल्लिका और संगमिका क्रमशः लाखापुर और संगम से अभिन्न प्रतीत होते हैं। लाखापुर मुलताई-छिंदवाड़ा मार्गपर स्थित चिखली के निकट है। संगम के पास कन्हान और बेल इन दो नदियो का संगम होता है। ये दो ग्राम जिस आरम्मि नामक राज्य अथवा भूविभाग में थे उसके प्रमुख स्थान आरम्मि की पहचान मध्य रेलवे के नागपुर इटारसी रेलवे मार्ग पर स्थित आमला के साथ की जा सकती है। द्वितीय प्रवरसेन के छिंदवाड़ा जिले के दूदिया नामक ग्राम में प्राप्त ताम्रपट में भी आरम्मि राज्य का उल्लेख आया है। अतः प्रतीत होता है कि आरम्मि छिंदवाड़ा जिले में ही होना चाहिए। जिस ग्राम में ब्राह्मण सोमार्य रहता था वह कल्लार नामक ग्राम मुलताई के उत्तर मे तेरह मील पर आज भी खेरली नाम से विद्यमान है। अन्य ग्रामो का पता नही लगता।

वाचन[1]

पंक्ति *पहला पत्र*

१ दृष्टम्[।*] प्रवरेश्वरदेवकुलस्थानात्[।*] अग्निष्टोमाप्तोर्य्यामोक्थ्य-

२ षोडश्यतिरात्रवाजपेयबृहस्पतिसवसाद्यःक्र[2][च*]-

३ तुरश्य(श्व)म(मे)धि(ध)याजिनः विष्णुवृद्धसगोत्रस्य सम्राट्[3] वाका-

१. डॉ. छाबडा से प्राप्त छाप से। इस वाचन में मेरे मित्र श्री. लक्ष्मीनारायण राव का साहाय्य हुआ है।

२. पढ़िये 'साद्यस्क्र-'।

३. पढ़िये 'सम्राजो'।

४ टकानाम्महाराजश्रीप्रवरसेनस्य सूना· सूनः[1] अत्य-
५ न्तस्वामिमहाभैरवभक्तस्य ।[2] अन्स[3]भारसन्निवेशितशिवलिङ्गा(ङ्गो)-
६ द्वहनशिवसुपरितुष्टसमुत्पादितराजवन्शानाम्[4] पराक्रमा-
७ [धि]गतभागीरत्थ्यामल[5]जलमूर्द्धाभिषिक्तानां दशाश्वमेधाव-

दूसरा पत्र : पहिली बाजू

८ व[6]भृथस्नाताना(नां) महाराजश्रि(श्री)भवणे(ना)गदौहित्रस्य गौत-
९ मीपुत्रस्य[7] वाकाटकानाम्महाराजश्रीरुद्रसेनस्य सूनो[:]
१० अत्यन्तमाहेश्वरस्य सत्यज्जर्व[8]कारुण्यशौर्य्यविक्रम-
११ नयविनयमहात्व्यधिमत्व[9]पात्रगत[10]धर्म्मविज-
१२ यित्वमनोनैर्म्मल्यादिगुणसमुदितस्य वषशत-[11]
१३ मभिवर्द्धमानकोशदण्डसाधनसन्तानपुत्रपौत्रिण[:*]
१४ युधिष्ठिरवृत्तेः वाकाटकाना(नां) महाराजपृथिवि(वी)से(षे)-

यूसरा पत्र : दूसरी बाजू

१५ णस्य सूनोः भगवतश्चक्रपाणः(णेः) प्रसादोपा[र्ज्जि]तश्रि(श्री)-
१६ समुदयस्य वाकाटकान(नां) महाराजश्रि(श्री)रुद्रसेनस्य सुनोः[12] सुनो[:]
१७ राजाधिराज[13]श्रि(श्री)देवगुप्तसुनया(यां) प्रभावतिगुप्तायामुत्पन्न-
१८ [14]न्नस्य शम्भोः प्रस(सा)दधृति(त)कार्त्तयुगस्य वाकाटकाना(नां) महा-

१. पढ़िये 'सूनोः सूनोः' ।
२. यह विरामचिह्न निरर्थक है ।
३. पढ़िये 'अंस-' ।
४. पढ़िये 'राजवंशानाम्' ।
५. पढ़िये 'भागीरत्थ्यमल-' ।
६. यह अक्षर निरर्थक है ।
७. पढ़िये 'गौतमीपुत्रस्य पुत्रस्य' ।
८. पढ़िये 'सत्याज्जव-' ।
९. पढ़िये 'माहात्म्यधीमत्त्व' ।
१०. पढ़िये 'पात्रगतभक्तित्व' ।
११. पढ़िये 'वर्षशत-' ।
१२. पढ़िये 'सूनोः' । इस के अनन्तर का शब्द निरर्थक है ।
१३. वाकाटको के अन्य ताम्रपटों मे यह पदवी 'महाराजाधिराज' रूप में दिखाई देती है ।
१४. यह अक्षर निरर्थक है ।

१९ र(रा)जश्रि(श्री)प्रवरसेनस्य वचन(ना)त् पृथिविराजप्रवृत्तस्य[1]
२० विजयपल्लीवाटकस्य प्रतिवस्तु वारुचराज्ये [धु]ववासके
२१ ब्राह्मणवाटकः ग्रामस्यापरपार्श्वे[2] गत्ताया[3]अजकर्णग्र(ग्रा)मपथस्य
२२ उत्तरेण बदरि(री)ग्रामपूर्व्वेण दभापथस्य परेण[4] एषाम्मध्ये भु(भू)मि(मेः)

तीसरा पत्र : पहली बाजू

२३ सहस्रा[णि] द्वे[5] राजक्यमानेन[6] नानागोत्रचरणेभ्यो [ब्राह्मणेभ्यो*] दत्तानि[7][।*]तत्र प्रतिग्राहका-
२४ स्तद्यथा बाजिकौण्डिन्यसगोत्रयज्ञार्य्यभोजार्य्यबाजिकौडिन्यसगोत्र-
२५ सोमार्य्यबाजिधर्म्म(र्म्मा,र्य्य एतप्र(त्प्र)मुखाना(णां) ब्राह्मना(णा)नां दत्तं (त्तम्)[।*]
२६ आरम्मिराज्यलेखपल्लिकाए[8] रा|य|क्यमानेन[9] भु(भू)मिपाणुविसा[10] निवे[श]न-
२७ निवत्तणेण सह[11][चे]हामुष्मिके[12] धर्म्मस्थाने तिलवाचनके सव्वस्तरे[13]२० ९
२८ वास ५ दिव[७][14]पदन्नराति[15] २० कल्लारवत्थव्व[16] बाजिकौण्डिन्य-सोमार्य्यस्य दत्ता [।*]

तीसरा पत्र : दूसरी बाजू

२९ आरम्मिरज्जे[17]सङ्घविकाए[18]राजक्यमानेन[19] भुमि पानुविसा[20] निवेशननिवत्तने-

१. पढ़िये 'पृथिवीराजप्रवृत्तस्य'। २. पढ़िये 'ब्राह्मणवाटकग्रामस्यापरपार्श्वे'।
३. पढ़िये 'गर्त्तायां'। ४. पढ़िये 'दर्भपथस्यापरेण'।
५. पढ़िये 'सहस्रे द्वे'। ६. पढ़िये 'राजमानेन'।
७. पढ़िये 'दत्ते'। ८. पढ़िये 'लेखपल्लिकायां'।
९. पढ़िये 'राजमानेन'। १०. पढ़िये 'भूमेः पञ्चविंशतिः'।
११. पढ़िये 'निवेशननिवर्त्तनेन सह'। १२. पढ़िये 'ऐहिकामुष्मिके'।
१३. पढ़िये 'संवत्सरे'। १४. पढ़िये 'वर्षपक्षे ५ दिवसे ७'।
१५. इसका अर्थ स्पष्ट नहीं। १६. पढ़िये 'कल्लारवास्तव्य'।
१७. पढ़िये 'आरम्मिराज्ये'। १८. पढ़िये 'सङ्घमिकायां'।
१९. पढ़िये 'राजमानेन'। २०. पढ़िये 'भूमेः पञ्चविंशतिः'।

३० न सह[1] चेहामुष्मिके[2] धर्म्मस्थाने तिलवाचनके ज(च) सव्व[3] २०
९ वा[स] [७] दिव [९][4]

३१ सवत्त जातव[षा] ७ दिवस ५[5] निजुत्तिनराति[6] २० कालारवा-
त्थव्व[7] वाजिकौण्डिन्य-

३२ सगोत्रसोमार्य्यस्य दत्तः(त्ता)।*।यतोस्मस(त्स)त्त(न्त)का[:*] सव्वाद्धय-
क्षनियोगन(नि)यु[क्ताः*]

३३ आज्ञासंच(चा)रिकुलपुत्राधिकृता [भ]टाश्छात्राश्च विश्रुतपूर्व्वाज्ञाज्ञाप-
[इ]त-

३४ व्या[8][।*] व[वि]दितमस्तु व(व) यथेहास्माभिः धर्मायुर्व्वलविजये-
(य)विवृध(द्ध)ये इहामुत्र-

चौथा पत्र : पहिलो बाजू

३५ हितार्त्थमात्म(त्मा)नुग्रहाय वैजयैके[9] धर्म्मस्थाने अपूर्व्वदत्ता(त्त्या)

३६ उदकपूर्व्वमतिसृष्ट[:]।*।[10] अथोचिताश्च पूर्व्वराजानुम-

३७ ता[:*] चातुर्व्वे(र्वि)द्यग्राममर्य्यादाम्परिहारार्त्थ[11]कीर्त्तयाम[।]

३८ अकरदायि[12]अभटच्छत्रप्रावेश्य[13]अपार(रं)परगो-

३९ बलिवर्द्द[:*]अपुष्पक्षीरसन्दोह[:*]अच(चा)रासनचर्म्माङ्गा-

४० र[:*] अलवणक्लिन्नक्रेनि(णि)वनक[:*] सर्व्ववे(वि)ष्टिपरिहारपरिहृ-

४१ त[:*] सनिधि[:*] सोपनिधि[:*] सक्लिप्तोपक्लिप्त[14][:*] आचन्द्रा-
दित्थ(त्य)-

१. पढ़िये 'निवेशननिवर्त्तनेन सह'। २. पढ़िये 'ऐहिकामुष्मिके'।
३. पढ़िये 'संवत्सरे'। ४. पढ़िये 'वर्षापक्षे ७ दिवसे ९'।
५. यह मिति निरर्थक है। ६. इसका अर्थ स्पष्ट नहीं है।
७. पढ़िये 'कालारवारतव्य'। ८. पढ़िये 'विश्रुतपुर्व्वयाज्ञयज्ञापयितव्याः'।
९. पढ़िये 'वैजयिके'।
१०. यदि इसका विशेष्य 'भूमिः' हो, 'अतिसृष्टा' रूप होना चाहिये।
११. पढ़िये '-मर्य्यादाः परिहारार्थं'। १२. पढ़िये 'अकरदायी'।
१३. पढ़िये 'अभटच्छात्रप्रावेश्यः'। १४. पढ़िये 'सक्लृप्तोपक्लृप्तः''।

चौथा पत्र : दूसरी बाजू

४२ कालीय [:*] पुत्रपौत्रानुगामी भुञ्जता(तां) न केनचित्व्या(द्व्या)घा-
४३ त[ऽ]कर्त्तव्य[:*] सर्व्वक्रियाभि[:*] स(सं)रक्षितव्य[:*] परिवर्द्धयित-
४४ व्यश्च[।*] यश्चास्मच्छासनमगणयमानो(नः) स्वल्पामपि प-
४५ रिबाधा(धां) कुर्य्यात् कारयेत वा[1] तस्य ब्राह्मणैर्व्वेदित-
४६ स्य सदण्डनिग्रहं कुर्याम [।*] अस्मि(स्मि)श्च धर्म्मादरकरणे
४७ अति(ती)तान(ने)कराजदन्ता(त्त)स[ञ्चि]त(न्त)नपरिपालन(नं) कृतपु-
ण्यानुकि(की)-
४८ र्त्तनपरिहारार्त्थ(र्त्थं) न कि(की)र्त्तयाम[:।*] वा(व्या)सगीतो(तौ) चात्र

पाँचवा पत्र

४९ श्लोकौ प्रमाणीकर्त्तव्यौ ।* स्वदत्ता(त्तां) परदन्ता(त्तां) वा यो हरेत व-
५० सुन्धराम् [।*] गवां शतसहस्रस्य हन्तुर्हरति दुष्कृतम् [॥१॥*][2]
५१ षष्टी(ष्टि) वर्षसहस्राणि स्वर्ग्गे मोदति भूमिदः [।*] आच्छे-
५२ न्त(त्ता) चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेत् [॥२॥*] सावत्सर ए-
५३ कुणत्रिंशे[3] २० ९ वैशाखमासस्य कृष्णपक्षे दशम्य(म्या)म
५४ लिखितं सेनापतौ माधप्पे । माधप्पसन्तकेन ।
५५ लिखित[4]मायार्य्येण[5] ।

१. पढ़िये 'कारयेद्वा' ।
२. इसका और इसके अनन्तर श्लोक का वृत्त-अनुष्टुभ् ।
३. पढ़िये 'संवत्सरे एकोनत्रिंशे' ।
४. 'लिखितम्' शब्द की पुनरुक्ति हुई है । ५. पढ़िये 'आचार्य्येण' ।

१५. प्रवरसेन द्वितीय का पटना संग्रहालय ताम्रपट

उपलब्धि—यह ताम्रपट प्रथम डॉ० अनन्त सदाशिव अलतेकर ने बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसायटी की शोध-पत्रिका, जि. १४, पृ. ४६५ इ. में छापे के बिना प्रकाशित किया था। वह निश्चित रूप से कहां प्राप्त हुआ, यह दीर्घकाल तक ज्ञात नहीं था। एतद्विषयक अपने लेख में डॉ. अलतेकर ने कहा है कि वह मध्य प्रदेश में ही किसी स्थान पर प्राप्त हुआ था। 'हिस्टरी ऑफ इंडिया, सन् १५० से ३५०' (पृ. ७४) नामक ग्रन्थ मे डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल ने लिखा है कि यह ताम्रपट जबलपुर मे प्राप्त हुआ था। इसके विपरीत स्वर्गीय राय बहादुर डॉ हीरालाल के मतानुसार यह रामटेक के निकट प्राप्त ताम्रपट के बाद में खोये हुए पत्रों में से एक होना चाहिए। इस ताम्रपट में दान में दिये गये ग्राम तथा उसकी चतु:सीमा का निर्देश है। किन्तु इसके प्राप्तिस्थान के निश्चित रूप से ज्ञात न होने के कारण इन ग्रामो का पता नही लग पाया था। सन् १९३६ में अत्यधिक पत्र-व्यवहार के पश्चात् मुझे ज्ञात हुआ कि प्रस्तुत ताम्रपट निश्चित रूप से कहां प्राप्त हुआ था। इसके फलस्वरूप मैं उसमे निर्दिष्ट ग्रामो की पहचान करने में सफल हुआ। इस विषय पर एक टिप्पणी मैंने नागपुर विश्वविद्यालय की पत्रिका, क्रमांक २, पृ ४८ इ. मे प्रकाशित की। पटना संग्रहालय के तत्कालीन व्यवस्थापक स्व. राय साहिब मनोरंजन घोष की कृपा से मुझे प्रस्तुत ताम्रपट की उत्तम छाप मिली। इसी छाप के आधार पर यहा उसका वाचन किया गया है।

नरसिंघपुर के डॉ. पी एन्. सेन द्वारा दी हुई सूचना से ज्ञात होता है कि प्रस्तुत ताम्रपट सन् १९१९ मे बालाघाट मे डिस्ट्रिक्ट सुपरिन्टेन्डेन्ट ऑफ् पुलिस के बंगले की आउट हाउस की नीव खोदते समय प्राप्त हुआ। वह डॉ. सेन के हाथ मे आया। उन्होने वह ताम्रपट अपने बन्धु राय बहादुर मन्मथनाथ सेन के पास भेजा। राय बहादुर सेन उस समय संथाल परगने में जमात्रा नामक स्थान पर सब् डिवीजनल ऑफिसर थे। उन्होने वह ताम्रपट पटना के पुरातत्त्व-विभाग के सुपरिन्टेन्डेन्ट के माध्यम से पटना संग्रहालय को दिया। तब से वह पटना संग्रहालय मे सुरक्षित है।

वर्णन—यह पत्र ७·२५ इंच लंबा और ४·२ इंच चौड़ा है। पत्र अच्छी स्थिति मे है। उसकी किनारें मोड़ी नहीं गई हैं। अक्षर अच्छी तरह कोरे गये हैं। बायीं ओर किनारे से एक इंच पर मध्य भाग में कड़े के लिए ·३५ इंच व्यास का छिद्र किया गया है। इस पत्र का वजन ३० तोला है।

लिपि—लिपि पेटिकाशीर्षक प्रकार की है। उसकी निम्न विशेषताएं उल्लेख्य हैं—'ऐहिका' शब्द में 'ऐ' तथा 'मधुकज्झर्या' में 'झ' क्वचित् ही आते हैं; अतः उनकी आकृति ध्यान में रखने योग्य है। 'कुटुम्बिनो' (पं. ५) में व्यञ्जनयुक्त ह्रस्व इकार का अर्धवृत्त बायीं ओर घूमा हुआ है। व्यञ्जनयुक्त औकार द्विभागात्मक है। 'ड' और 'द' की आकृति में भेद है।

भाषा—भाषा संस्कृत है तथा प्रस्तुत पत्र पर उत्कीर्ण सम्पूर्ण लेख गद्यमय है। अन्य ताम्रपटों के समान 'र्' के पश्चात् आनेवाले व्यञ्जन का द्वित्व किया गया है।

प्रस्तुत पत्र किसी ताम्रपट का तृतीय पत्र होना चाहिए। प्रथम दो पत्रों पर जहाँ से ताम्रपट दिया गया था उस स्थल का नाम तथा दाता की वंशावलि दी गई होगी। प्रस्तुत पत्र के आरम्भ में द्वितीय प्रवरसेन का वर्णन आया है। वहाँ कहा गया है कि वह प्रभावतीगुप्ता का पुत्र था तथा भगवान् शंकर के कृपा-प्रसाद से उसे शूलायुध प्राप्त हुआ था। अन्य ताम्रपटों में उसके शूलायुध का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। उनके वर्णनानुसार उसने भगवान् शिव के प्रसाद से पृथ्वी पर कृतयुग का आरम्भ किया था। प्रस्तुत ताम्रपट का वर्णन उससे उत्तम है।

उद्देश्य—प्रस्तुत ताम्रपट का प्रयोजन है वाकाटक महाराज प्रवरसेन द्वितीय द्वारा भारद्वाजगोत्री वेदार्य के पुत्र गंगार्य, कौण्डिन्यगोत्री वसुरार्य तथा कौण्डिन्यगोत्री एवम् तैत्तिरीयशाखी रुद्रार्य इन तीन ब्राह्मणों को श्रीपर्णका नामक ग्राम के दान में दिये जाने का उल्लेख। यह ग्राम 'सुन्धाति' मार्ग में, ब्रह्मपुरक के पूर्व में, मिल्लुक-द्रथ के पश्चिम में, मधुकज्झरी के उत्तर में तथा दर्भविरक के दक्षिण में था। यह दान पूर्ववर्ती यशपुर मार्ग में स्थित माणपल्लिका ग्राम के बदले दिया गया था। पूर्ववर्ती दान के रद्द किये जाने का कारण नहीं दिया गया है। सिवनी ताम्रपट के समान प्रस्तुत ताम्रपट द्वारा दिये गये ग्राम के लिये भी 'सपञ्चाशत्क' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ निश्चित नहीं है। फ्लीट के मतानुसार इसका विवक्षित अर्थ है, 'पचास ग्रामों के साथ'; किन्तु यह समीचीन प्रतीत नहीं होता। डॉ० अलतेकर के कथनानुसार इसका आशय एक विशेष प्रकार के भूमि-कर से होना चाहिए। मनुस्मृति के अनुसार राजा को पशुओं के मूल्य पर तथा ग्रामवासियों की आय पर $\frac{१}{५०}$ अथवा दो प्रतिशत कर वसूल करने का अधिकार था। वही कर यहाँ विवक्षित प्रतीत होता है। प्रतीत होता है कि प्रस्तुत ग्राम का दान करते हुए राजा ने ग्रामवासियों से उक्त कर वसूल करने का अधिकार भी ब्राह्मणों को दे दिया था।

प्रस्तुत लेख के कथनानुसार प्रवरसेन द्वितीय ने यह दान अपनी माता की पुण्यवृद्धि तथा ऐहिक और पारलौकिक कल्याण के निमित्त दिया था। इससे स्पष्ट है कि यह पत्र रामटेक ताम्रपट का नहीं है, क्योंकि उसमें उल्लिखित दान द्वितीय प्रवरसेन ने स्वतः के पुण्य, आयुष्य, बल तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति और ऐहिक एवम् पारलौकिक कल्याण के उद्देश्य से दिया था।

स्थल-निश्चय—डॉ० अलतेकर की धारणा है कि प्रस्तुत ताम्रपट में उल्लिखित ब्रह्मपुरक तथा सिवनी ताम्रपट द्वारा दिया गया इसी नाम का ग्राम परस्पर अभिन्न हैं और उन्होंने उसकी पहचान अमरावती के निकट स्थित वर्तमान ब्राह्मणवाडा से की है। किन्तु यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता, क्योंकि सिवनी ताम्रपट के द्वारा दिया गया ब्रह्मपूरक ग्राम बेन्नाकापंर भोग में अन्तर्भूत था। जैसा कि हम इसके पूर्व कह आये है, इस भोग में बेन्ना अथवा वैनगंगा के तट के निकट का प्रदेश समाविष्ट था। अतः ब्रह्मपुरक का अमरावती जिले की अचलपुर तहसील में होना असम्भव है। इसी कारण डॉ० अलतेकर का यह अनुमान भी चिन्त्य है कि प्रस्तुत ताम्रपट का मधुकज्झरी चम्मक ताम्रपट में उल्लिखित मधुनदी से अभिन्न है। प्रस्तुत ताम्रपट के बालाघाट में प्राप्त होने के कारण उसमें उल्लिखित ग्रामों की खोज बालाघाट के निकट ही करनी चाहिए। सर्व्हे विभाग के विस्तृत मानचित्रो के निरीक्षण से उल्लिखित कतिपय ग्राम मुझे बालाघाट के आसपास प्राप्त हुए। ब्रह्मपुरक बालाघाट के बारह मील वायव्य में स्थित बम्हनी होना चाहिए। यह लालबुरा से समनापुर जानेवाले मार्ग पर बसा हुआ है। अतः समनापुर प्राचीन सुन्धा अथवा सुन्धाति होना चाहिए। मधुकज्झरी की पहचान बम्हनी के आग्नेय में स्थित मुरझर के साथ और मिल्लुकद्रथ की पहचान बम्हनी के दो मील ईशान मे स्थित मुगरदरा के साथ की जा सकती है। दान में दिया गया श्रीपर्णका ग्राम केवल सम्प्रति इस प्रदेश में प्राप्त नहीं होता, किन्तु प्रतीत होता कि वह बम्हनी और मुगरदरा के मध्यभाग मे रहा होगा। दर्भविरक ग्राम की भी पहचान नहीं की जा सकी है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि तिरोडी ताम्रपट के समान प्रस्तुत ताम्रपट में उल्लिखित कतिपय ग्राम भी बालाघाट जिले में पाये जाते हैं। सिवनी ताम्रपट में निर्दिष्ट कुछ ग्राम भंडारा जिले में प्राप्त होते हैं, यह हम पहले ही देख चुके हैं। अतः इसमें संशय नहीं कि स्वयम् द्वितीय प्रवरसेन के शासनाधीन प्रदेश में बालाघाट और भंडारा जिले समाविष्ट थे तथा उसका राज्य दक्षिण कोसला की पश्चिम सीमा तक फैला हुआ था।

वाचन[1]

पंक्ति

तृतीय पत्र : पहिली बाजू

१ प्रभावति[2]गुप्तायाससमुत्पन्नस्य[3] शम्भो[:*] प्रसादधृति(त)शूल(ला)यु-

२ धस्य वाकाटकानाम्महाराजश्रि(श्री)प्रवरसेनस्य वचना[त्*] सुन्धाति-

३ मार्ग्गे ब्रह्मपुरकस्य पूर्व्वत[:*] मिल्लुकद्रथस्यापरत[:*]

४ मधुकज्झर्य्या[:*] चोत्तरत[:*] दर्ब्भविरकस्या(स्य) दक्षिणत[:*] श्रीपर्ण्णका

५ नाम्न(नाम्ना) ग्रामः तत्र कुटुम्बिनो ग्रामवासिनश्च वक्तव्या[:*]

तृतीय पत्र : दूसरी बाजू

६ यथास्माभिः यशपुरे मार्ग्गे[4]माणपल्लिकाया≍पूर्व्वप्रतिग्र-

७ हप्रतिवस्तु मातृभट्टारिकानां(णां) पुण्योपचये ऐहिकामुष्मि[5]

८ भारद्वाजसगोत्रवेदार्य्यपुत्रगङ्गार्य्य–कौण्डिण्य(न्य)सगो-

९ त्रवसुरार्य्यस्य[6] कौण्डिण्य(न्य)तैत्तिरिकरुद्रार्य्याण(णां) ससीमान्तं[7]

१० परिच्छेदेन सपञ्चाशत्को ग्रामो दत:(त्तः ॥)

---

१. पटना संग्रहालय द्वारा भेजी हुई छाप के आधार पर।

२. इस अक्षर के ऊपरी अर्धवृत्त मे पाये जाने वाले बिन्दु का कारण पत्र का दोष है।

३. इतर ताम्रपटो की भांति पढ़िये 'प्रभावतीगुप्तायां समुत्पन्नस्य'।

४. कदाचित् 'यशपुरमार्ग्गे' विवक्षित रहा होगा।

५ यह पद अपूर्ण रह गया है। पढ़िये 'ऐहिकामुष्मिकहितार्थं'। अन्य ताम्रपटों मे 'इहामुत्रहितार्थं' पद प्राप्त होता है।

६. 'वसुरार्य' पढ़िये और आगे आने वाले नामों के साथ समास कीजिये। लेखक ने तीनो नामों का उल्लेख करके अन्त में बहुवचन का प्रयोग किया है।

७. कदाचित् इस अक्षर का अनुस्वार कोरा गया होगा।

१६. प्रवरसेन द्वितीय का रामटेक ताम्रपट

उपलब्धि—यह ताम्रपट नागपुर से २८ मील पर रामटेक के समीप मनसर ग्राम में मँगेनीज के लिए खोदते समय प्राप्त हुआ था। प्रतीत होता है कि मूलतः इसके पाँच पत्र थे। उन्हें मँगेनीज के ठेकेदारों ने आपस में बांट लिया। उनमें से कुछ ठेकेदार नागपुर छोड़कर चले गये। बाद में नागपुर के बॅरिस्टर श्री जी. पी. डिक को उक्त ताम्रपट की सूचना मिली। अत्यधिक प्रयास के पश्चात् उनमें से केवल एक पत्र उन्हें प्राप्त हुआ। उनके इंग्लंड लौटने तक वह पत्र उनके संग्रह में था। बाद में वह पत्र भी खो गया। सौभाग्यवश उन्होने उसकी छाप और फोटो डॉ. रायबहादुर हीरालाल के पास भेज दिये थे। इनके आधार पर डॉ० हीरालाल ने उस पर एक छोटी-सी टिप्पणी अपने अंगरेजी ग्रन्थ 'मध्यप्रदेश व बरार के उत्कीर्ण लेख' में प्रकाशित की। यह पत्र प्रकाशित नहीं हुआ था। अतः मैंने स्व डॉ हीरालाल से उसकी छाप मुझे देने की प्रार्थना की। उन्हों ने उसे मेरे पास भेजा, किन्तु वह भी डाक में खो गई। अन्त में उन्हो ने उसका फोटोग्राफ मेरे पास भेजा। इसके आधार पर मैंने छापे के साथ उसे नागपुर विश्वविद्यालय की पत्रिका, भा. ३, पृ. २०-२१ में प्रकाशित किया। उसी छापे के आधार पर उसका वाचन यहाँ दिया गया है।

वर्णन—जैसा कि आगे दिखा जाएगा, प्रस्तुत पत्र पर एक वाकाटक दानपत्र उत्कीर्ण है। इस प्रकार के दानपत्र बहुधा पांच पत्रो पर कोरे जाते थे। उनमे से प्रथम दो पत्रो पर प्रवरसेन प्रथम से आरम्भ कर दान देनेवाले राजा पर्यन्त वंशावलि दी जाती थी। तृतीय पत्र पर दान प्राप्त करनेवाले ब्राह्मण का नाम, शाखा और गोत्र, दान का प्रसङ्ग, दान में दिये हुए ग्राम का नाम अथवा भूमि का प्रमाण, उसकी चतुःसीमा आदि सूचना दी जाती थी। चतुर्थ पत्र पर दान की शर्तें तथा ब्राह्मण को जो करादि से छूट दी जाती थी उसका उल्लेख रहता है। तदनन्तर पांचवें पत्र पर शापा-शीर्वादात्मक श्लोक, दान का शासन-वर्ष, सेनापति, लेखक तथा दूतक के नाम इत्यादि सूचना अंकित की जाती थी। दान की शर्तें, करादिको से छूट आदि का उल्लेख होने के कारण प्रतीत होता है कि यह चतुर्थ पत्र है।

डॉ. हीरालाल द्वारा मेरे पास भेजे गये इस पत्र के फोटोग्राफ की लंबाई ५.६ इंच और चौड़ाई ३.१ इंच थी। बायीं ओर किनारे से लगभग १.३ इंच पर मध्यम भाग में $\frac{3}{10}$ इंच व्यास का छिद्र कड़े के लिए किया हुआ दिखाई पड़ा। इस फोटोग्राफ के स्केल (प्रमाण) का पता न होने के कारण मूल पत्र की निश्चित लंबाई और चौड़ाई

ज्ञात नहीं हो सकी। फोटोग्राफ से प्रतीत होता है कि यह पत्र उत्तम स्थिति में था, क्योंकि उस पर उत्कीर्ण लेख की अन्तिम दो पंक्तियों के दो-तीन अक्षर ही जंग लगने के कारण अस्पष्ट हो गये हैं। पत्र के प्रत्येक ओर पांच पांच पंक्तियां हैं। पहली बाजू की अन्तिम पंक्ति स्थानाभाव के कारण अन्य पंक्तियों की अपेक्षा कुछ छोटी हो गई है।

लिपि – अक्षरों की बनावट प्रवरसेन द्वितीय के अन्य ताम्रपटों की भांति पेटिकाशीर्षक प्रकार की है। उसकी निम्न-निर्दिष्ट विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं— वाकाटक ताम्रपटों में व्यञ्जनयुक्त औकार द्विभागात्मक दिखाई देता है। इस ताम्रपट में भी 'पौत्रा-' (पं. ७.) शब्द में वह दो वक्र-रेखाओं द्वारा व्यक्त किया गया है, किन्तु दायी ओर की रेखा दायीं ओर न घुमाकर बायी ओर घुमाई गई है। दीर्घ ईकार का अर्धवृत्त सामान्यतः बायी ओर घूमा हुआ है (उदाहरणार्थ, 'क्षीर', पं. ४), 'भुञ्जीत' (पं. ७-८) शब्द में वह दायीं ओर घूमा हुआ दिखाया गया है। जिह्वा-मूलीय तथा उपध्मानीय के चिह्न पं. ४ व ८ मे दृष्टिगत होते हैं।

भाषा – लेख की भाषा संस्कृत है तथा अवशिष्ट भाग पूर्णतः गद्य में है। वाचन से प्रतीत होता है कि प्रस्तुत लेख अत्यन्त अनवधानपूर्वक लिखा गया है। सन्धि का अभाव, अयोग्य स्थान मे विसर्ग का लोप, 'ण' के स्थान पर 'न' और 'कारयीत' जैसे अशुद्ध प्रयोग अनेक स्थानो पर दृष्टिगत होते हैं। प्रथम पंक्ति के अन्त में तथा तृतीय पंक्ति में 'आत्मानुग्रहाय' के पश्चात् लेखक ने असावधानी के कारण कई अक्षर छोड़ दिये है।

विषय—इस ताम्रपट के प्रथम तीन पत्रों के नष्ट हो जाने के कारण उनमें दी हुई दानविषयक सूचना—दाता व दान प्राप्त करनेवाले का नाम, दान का अवसर, विषय इत्यादि—नष्ट हो गई है। तथापि प्रवरसेन द्वितीय के पटना संग्रहालय ताम्रपट तथा अन्य ताम्रपटो के साथ इसके अक्षरसादृश्य के कारण यह ताम्रपट भी प्रवरसेन द्वितीय का ही प्रतीत होता है। आरम्भिक शब्दों से ज्ञात होता है कि दाता ने प्रस्तुत ताम्रपट अपने स्वतः के पुण्य, आयुष्य, बल और ऐश्वर्य की वृद्धि के निमित्त दिया था। अतः प्रस्तुत पत्र पटना संग्रहालय ताम्रपट के खोये हुए पत्रो में से एक हो, यह सम्भव नही है, क्योकि उसके कथनानुसार प्रवरसेन द्वितीय ने वह ताम्रपट अपनी माता की पुण्यवृद्धि और ऐहिक तथा पारलौकिक कल्याण के उद्देश्य से दिया था। इसके बाद के भाग में अन्य वाकाटक ताम्रपटों की भांति अग्रहार की मर्यादाएँ दी गई हैं। अन्त में यह चेतावनी दी गई थी कि कोई भी व्यक्ति इस दान के उपभोग में बाधा न करे तथा किसी व्यक्ति के ऐसा करने तथा ब्राह्मणो के साथ कलह करने पर उसे दण्ड दिया जाएगा, किन्तु उसका केवल थोड़ा

सा भाग प्रस्तुत पत्र पर आया है। अन्तिम पत्र में खो जाने के कारण शासन-वर्ष, लेखक और दूतक के नाम इत्यादि सूचना नष्ट हो गई है।

प्रस्तुत ताम्रपटों के अनेक पत्रों के खो जाने के कारण इस पत्र से हमारे ऐतिहासिक ज्ञान में कुछ भी वृद्धि नहीं होती।

वाचन[1]

पंक्ति

चतुर्थ पत्र : पहिलीबाजू

१ सर्व्वाद्धयक्षनियोगनियुक्ता आज्ञासञ्चारिकुलपुत्राधगत[2]-

२ पूर्व्वसमाज्ञया[3]।[4] वक्तव्या यथास्माभिरात्मधर्म्मायुर्व्वल-

३ मैश्वर्य्यविवृद्धये[5] इहामुत्र चात्मानुग्रहाय[6] अभट-

४ श्छत्रप्रावेश्य[7][:*] अपारम्परगोबलिवर्द्द[:*] अपु[8]र्फक्षीरसन्दो-

५ ह[:*] अपारासन[9]चर्म्माङ्गार[:*] अलवणक्लिप्तो-

१. नागपुर युनिवर्सिटी जर्नल, क्रमांक ३, पृ २८ के समक्ष दिये गये फोटो से।

२. पढ़िये 'कुलपुत्राधिकृता भटाश्छात्राश्च'। तुलनीय जाब ताम्रपट (क्रमांक ३), पं. २१।

३. पढ़िये 'विश्रुतपूर्व्वसमाज्ञया'। तिरोडी और चम्मक ताम्रपटो में 'विश्रुतपूर्व्वयाज्ञया' पाठ है।

४. यह विरामचिह्न निरर्थक है।

५. पढ़िये '-र्व्वलैश्वर्य्य-'।

६. यहाँ 'एष ग्राम उदकपूर्व्वमतिसृष्टः। अथास्योचितां पूर्व्वराजानुमतां चातुर्व्वैद्याग्रहारमर्य्यादां वितरामस्तद्यथा' जैसे शब्द छूट गये हैं।

७. पढ़िये 'अभटच्छात्रप्रावेश्यः'।

८. पढ़िये 'अपुष्प-'।

९. अन्य ताम्रपटों में 'अचारासन-' पाठ है। केवल पट्टन ताम्रपट में यहाँ के समान ही पाठ है।

चतुर्थ पत्र : दूसरी बाजू

६ क्रेणिखनक[1][.*] सर्व्ववे(वि)ष्टिपरिहारपरिहि(हृ)तः सपरिक्लिप्तो-

७ परिक्लिप्त[2] आचन्द्र(न्द्रा)दित्यकालीय[:*] पुत्र[पौ]त्रानुगामी[।*] भु-

८ ञ्जीत[3] न केनचिच्या(द्वा)घात[X]कर्त्तव्यः[:*] सर्व्वक्रियाभि(भी)रक्षि-

९ तव्यः परिवर्द्धयितव्यश्च [।*] यश्चास्मच्छासनमगनयमान[4]

१० स्वल्पामपि परिबाधा कुर्य्यात्कारयीता वा[5] तस्य ब्राह्मणै[6]-

---

१. पढ़िये 'अलवणकिण्वक्रेणिखनकः' । तुलनीय पूना ताम्रपट, पं. १९ ।
२. पढ़िये 'सक्लृप्तोपक्लृप्तः' ।
३. पढ़िये 'भुञ्जतः' ।
४. पढ़िये '-मगणयमानः' ।
५. पढ़िये 'परिबाधां कुर्य्यात्कारयेद्वा' ।
६. इस वाक्य को इस प्रकार पूर्ण कीजिये—'-वेदितस्य सदण्डनिग्रहं कुर्य्याम' ।

१७. दुर्ग से प्राप्त अपूर्ण ताम्रपट

उपलब्धि—यह ताम्रपट मध्य प्रदेश के दुर्ग जिले में भूतपूर्व पानाबारस जमींदारी के मुख्य ग्राम मोहल्ला में प्राप्त हुआ था। उसकी एक छाप स्वर्गीय डॉ. हीरालाल के पास वाचन के लिए भेजी गई थी, किन्तु महत्त्वपूर्ण प्रतीत न होने के कारण उन्होंने अपने ग्रन्थ 'मध्य प्रदेश और बरार के उत्कीर्ण लेख' में उसका उल्लेख नहीं किया। सन् १९३४ में उनके एक पत्र से मुझे उसकी जानकारी प्राप्त हुई। बाद में मेरे आग्रह पर उन्होंने वह छाप मेरे पास भेज दी। सौभाग्यवश उन्होंने उस पर ताम्रपट के स्वामी का नाम लिख रखा था। उसके आधार पर दुर्ग के डेप्युटी कमिश्नर श्री बंबावाले द्वारा जांच पड़ताल किये जाने पर पता चला कि यह ताम्रपट मोहल्ला मे प्राप्त हुआ था। इस समय वह नागपुर संग्रहालय में सुरक्षित है। इसके विषय में मैंने अपना लेख प्रथम भारत इतिहास संशोधन मंडल त्रैमासिक, जि. १५ में छापे के साथ और बाद मे एपिग्राफिया इंडिया, जि २२, पृ. २०७ इ. में छापे के बिना प्रकाशित किया। उक्त छापे के आधार पर उसका पाठ यहा दिया गया है।

वर्णन—प्रस्तुत पत्र किसी वाकाटक नृपति के चार-पांच पत्रों में से प्रथम है। वह केवल एक ओर उत्कीर्ण है। उसकी लंबाई ८ इंच, चौड़ाई ३·७५ इंच और वजन १९ $\frac{१}{२}$ तोला है। उसकी मोटाई केवल $\frac{१}{२०}$ इंच है तथा वह सब उपलब्ध ताम्रपटो से पतला है। बायी ओर किनारे से १९ इंच के अन्तर पर मध्यभाग में कडी के लिए '३५" व्यास का एक छेद किया गया है, किन्तु कड़ी प्राप्त नही हुई। प्रस्तुत पत्र के आकार तथा छिद्र के स्थान से यह स्पष्ट है कि वह पटना संग्रहालय ताम्रपट के पत्रो मे से एक नही है।

इस पत्र पर केवल पांच पंक्तियां उत्कीर्ण है। पत्र पतला होने पर भी अक्षर सुन्दर बने हैं और पीछे की ओर उभरे हुए दिखाई नही पड़ते। पत्र के किनारे उठावदार नही बनाये गये हे। तथापि लेख उत्कृष्ट स्थिति में है।

लिपि—अक्षरों की बनावट पेटिकाशीर्षक प्रकार की है। अक्षरों का वर्णन ऋद्धपुर ताम्रपट के समान है। लिपि की उल्लेखनीय विशेषताएं इस प्रकार हैं—व्यञ्जनयुक्त औकार द्विभागात्मक है। 'ड' का पृष्ठभाग वर्तुल है और वह 'द' से विशेष भिन्न नहीं है। इस सम्बन्ध में 'षोडश्य-' (पं. १) शब्द द्रष्टव्य है। 'म' की निचली पेटी बायी ओर की रेखा से जुड़ी हुई है। उदाहरण के लिए

'अग्निष्टोमा-' (पं. १) देखिए। यह 'म' आगे चल कर शरभपुर के राजाओं और तीवरदेव के लेखों में प्राप्त आकृति में परिणत हो गया। स्वर-रहित 'त' और 'म्' आकार में छोटे हैं। 'म्' के नीच पेटी न होकर लंबी गांठ है।

भाषा—लेख की भाषा संस्कृत है तथा सम्पूर्ण भाग गद्य में है। अन्य लेखों के समान 'य्' के पूर्व तथा 'र्' के अनन्तर आने वाले व्यञ्जन का द्वित्व किया गया है।

चर्चा—प्रस्तुत लेख के प्रारम्भिक स्थलनिर्देश के अतिरिक्त उसका शेष भाग प्रवरसेन द्वितीय के तथा पृथिवीषेण द्वितीय के ताम्रपटो के समान ही है। अवशिष्ट भाग में केवल प्रथम प्रवरसेन का नाम आया है। उसके वर्णन के अनन्तर उसके पौत्र रुद्रसेन प्रथम का वर्णन। (भारशिव भवनाग का दौहित्र तथा स्वामि महाभैरव का अत्यन्त भक्त इत्यादि) प्रारम्भ होता है, किन्तु वह अपूर्ण रह गया है। आरम्भिक स्थलनिर्देश से ज्ञात होता है कि प्रस्तुत ताम्रपट पद्मपुर से दिया जानेवाला था।

प्रतीत होता है कि प्रस्तुत ताम्रपट लेख अपूर्ण ही रह गया है, क्योंकि अन्य पूर्ण वाकाटक ताम्रपटों के आरम्भ में आनेवाला 'दृष्टम्' शब्द इसके आरम्भ में नहीं पाया जाता। प्रथम पंक्ति के आरम्भ में तीन अक्षरों के लिए पर्याप्त स्थान छूटा हुआ है, जिससे स्पष्ट है कि लेख पूर्ण होने पर वहां 'दृष्टम्' शब्द कोरने का विचार था। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत पत्र की अन्तिम पंक्ति मे पाच अक्षरो के लिए पर्याप्त स्थान रिक्त छोड़ दिया गया है। वहां अन्य वाकाटक ताम्रपटों के समान 'भवनागदौहित्रस्य' के अनन्तर आनेवाला 'गौतमीपुत्रस्य' शब्द कोरा जाने को था। किम्बहुना, पत्र पर उपलब्ध चिह्नो के निरीक्षण से ज्ञात होता है कि इस शब्द के प्रथम अक्षर के ऊपर की मात्रा का कोरना आरम्भ भी हो गया था, किंतु सम्भवतः उन अक्षरों को कोरने के पूर्व ही कोरनेवाले को थामने की आज्ञा दे दी गई थी। बाद में यह लेख अन्य ताम्रपट पर कोरा गया या नहीं, यह जानने का कोई साधन उपलब्ध नही है।

काल-निर्णय—प्रस्तुत ताम्रपट देने का आयोजन किसने किया था, कहना कठिन है। प्रवरसेन द्वितीय के ताम्रपट लेखों की लिपि के साथ इस लेख के अक्षरों के साम्य को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह ताम्रपट उसी का है। किन्तु द्वितीय प्रवरसेन के अब तक प्राप्त अधिकांश ताम्रपट आरम्भ में नन्दिवर्धन से और बाद में प्रवरपुर से दिये गये थे। प्रस्तुत ताम्रपट उसका होता तो बहुधा उसमें प्रवरपुर का निर्देश किया गया होता। न तो पद्मपुर के तीर्थ होने का उल्लेख है और न उसके साथ 'वासकात्' जैसा शब्द ही जोड़ा गया है। अतः यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि पद्मपुर तत्कालीन वाकाटक राजधानी था। हम ऊपर कह आये हैं कि

प्रस्तुत ताम्रपट के अक्षरों की बनावट प्रवरसेन द्वितीय के ताम्रपटों की अपेक्षा परवर्ती प्रतीत होती है। अतः प्रस्तुत ताम्रपत्र द्वितीय प्रवरसेन के बाद के किसी वाकाटक नृपति ने अपनी राजधानी पद्मपुर से दिया था, यह मानना अनुचित न होगा।

राजधानी का यह स्थानपरिवर्तन प्रवरसेन द्वितीय के पुत्र नरेन्द्रसेन के राज्यकाल में हुआ होगा। बालाघाट ताम्रपट में कहा गया है कि 'पृथिवीषेण द्वितीय ने अपने निमग्न वंश का उद्धार किया था।' इससे अनुमान होता है कि उसके पिता नरेन्द्रसेन के राज्यकाल मे विदर्भ पर किसी विदेशी राजा के आक्रमण के फलस्वरूप वाकाटक वंश को अवनतावस्था आई थी। यह अभियान नलवंशी भवदत्तवर्मा ने किया होगा, क्योंकि उसने विदर्भ के पश्चिम भाग पर अधिकार कर वाकाटको की प्राचीन राजधानी नन्दिवर्धन से ही अपना ऋद्धपुर ताम्रपट दिया था। प्रतीत होता है कि इस आपत्काल में कोसला और मेकला के अपने स्वामिभक्त माण्डलिकों के राज्य के पड़ौस में स्थित पद्मपुर में नरेन्द्रसेन अपनी राजधानी ले गया था। इसके अनन्तर नरेन्द्रसेन के पुत्र पृथिवीषेण द्वितीय ने नलों को केवल विदर्भ से बाहर ही नही निकाला, अपितु उसके राज्य पर आक्रमण कर उसकी राजधानी पुष्करी को उद्ध्वस्त भी किया, जैसा कि पोडागड शिलालेख से स्पष्ट है।

पद्मपुर के निर्देश का महत्त्व—प्रस्तुत ताम्रपट मे पद्मपुर का निर्देश एक अन्य दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। खिस्तोत्तर अष्टम शताब्दी के आरम्भ मे हुए भवभूति ने अपने महावीरचरित व मालतीमाधव नामक नाटकों में कहा है कि उनके पूर्वज दक्षिणापथ मे विदर्भ के पद्मपुर नामक नगर में रहते थे। वे महान् मीमासक थे तथा उन्होंने वाजपेय-सदृश महान् श्रौतयाग किये थे। श्रौतविद्या के अभिमानी वाकाटकों ने भी बड़े-बड़े सोमयाग किये थे। अतः यदि उन्होने भवभूति के पूर्वजो को अपनी राजधानी में सम्मानपूर्वक निमन्त्रित कर आश्रय दिया हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नही। वाकाटक-काल के पश्चात् विदर्भ में किसी महान् राजवंश का शासन न होने के कारण भवभूति को उत्तर भारत मे जाना पड़ा तथा अन्त में उसे कन्नौज के यशोवर्मा की राजसभा मे आश्रय प्राप्त हुआ।

स्थल-निश्चय—भवभूति के नाटकों में उल्लेख से पद्मपुर विदर्भ में था इसमें संशय नही रहता। प्राचीन विदर्भ आधुनिक बरार की अपेक्षा बड़ा था। कालिदास के मालविकाग्निमित्र नाटक से स्पष्ट है कि विदर्भ का आधा भाग वर्धा नदी के पूर्व में फैला हुआ था। सिवनी, इंदौर और बालाघाट ताम्रपटों के स्थल-निर्देश से इसमे सन्देह नही रहता कि वर्तमान बालाघाट और भंडारा जिले स्वयम् प्रवरसेन द्वितीय के शासन के अन्तर्गत थे। इसके अतिरिक्त वर्तमान बरार में

पद्मपुर नामक ग्राम प्राप्त नहीं होता; किन्तु चांदा और भंडारा जिलों में इस नाम के छह ग्राम दृष्टिगत होते हैं। इनमें से भंडारा जिले में आमगांव के निकट स्थित 'पद्मपुर' ही प्राचीन पद्मपुर होना चाहिए। इस ग्राम में प्राचीन अवशेष बड़ी संख्या में प्राप्त होते हैं। उनमें से विष्णु और अन्य हिन्दू देवों की तथा जैन तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ तथा ऋषभदेव की मूर्तियाँ, विशाल शिलास्तम्भ और ८ फुट × १फुट ७ इंच × १ फुट ६ इंच की गणेशपट्टी उल्लेखनीय हैं। वहाँ कुछ प्राचीन देवालयोंके अवशेष भी दृष्टिगत होते हैं। वहां से लाई हुई पच्चीकारी की सुन्दर कारीगरी युक्त भगवान् शङ्कर की विशाल मूर्ति नागपुर संग्रहालय में सुरक्षित है। विदर्भ के अन्य किसी पद्मपुर में ऐसे अवशेष प्राप्त नहीं होते। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि एक काल में आमगांव के समीप स्थित पद्मपुर ही वाकाटकों की राजधानी तथा भवभूति का जन्मस्थान पद्मपुर था।

वाचन[1]

पंक्ति

१ पद्मपुरात्[2][।*] अग्निष्टोम।प्तोर्य्यामोक्त्थ्यषोडश्यतिरात्रवाजपेयबृहस्पति-सवसा।द्यस्क्रचतुरश्व-

२ मेधयाजिनः विष्णुवृद्धसगोत्रसम्राजः वाकाटकानाम्महाराजश्रीप्रवर-सेनस्य सूनोः सूनोः

३ अत्यन्तस्वामिमहाभैरवभक्तस्य अंसभारसंन्निवेशितशिवलिङ्गोद्वहन-शि सुपरि-

४ तुष्टसमुत्पादितराजवंशानां पराक्रमाधिगतभागि(गी)रथ्यमलजल-मूर्द्धना(र्द्धा)भिषिक्त(क्ता)नाम्

५ दशाश्वमेधावभृत थ(स्नातानाम्भारशिवानाम्महाराजश्रीभवनागदौहित्रस्य[3]

---

१. मूल ताम्रपट से। इस पत्र के लेख की छाप भारत इतिहास संशोधन मण्डल के त्रैमासिक (जि. १५) में छपी है।

२. इस शब्द के पूर्व तीन अक्षर कोरने के लिए पर्याप्त स्थान खाली है। इतर ताम्रपटों में इस स्थान पर 'दृष्टम्' शब्द पाया जाता है।

३. इस शब्द के बाद १·३ इंच जगह खाली है। इस स्थान पर मूल पत्र पर एक अक्षर के अस्पष्ट चिह्न दिखाई देते हैं।

१८. पृथिवीषेण द्वितीय का बालाघाट ताम्रपट

उपलब्धि - यह ताम्रपट सन् १८९३ के मई मास के पूर्व बालाघाट जिले में एक स्थान पर एक वृक्ष से बंधा हुआ मिला था। बाद में वह बंगाल एशियाटिक सोसायटी के पास भेज दिया गया। उसके सम्पादन का कार्य प्री. कीलहॉर्न को सौंपा गया था। उस पर उनका लेख उनके निधन के पश्चात् एपिग्राफिया इंडिका, जि. ९, पृ २६७ इ. में छापे के साथ प्रकाशित हुआ। उसी छापे के आधार पर उसका वाचन यहां किया गया है। इस समय ताम्रपट कहां है, यह ज्ञात नहीं है।

वर्णन—इस ताम्रपट के पाँच पत्र हैं जिनकी लंबाई लगभग ६$\frac{3}{4}$ इंच तथा चौडाई लगभग ४ इंच है। उनमें से दो पत्रो पर कुछ भी उत्कीर्ण नहीं है। शेष तीन पत्रों में से प्रथम व तृतीय पत्र के केवल एक ओर तथा द्वितीय पत्र के दोनों ओर लेख उत्कीर्ण है। पत्रो की किनारें मोटी नहीं की गई हैं, तथापि लेख उत्तम स्थिति में है। प्रत्येक पत्र में बाये किनारे से १$\frac{1}{4}$ इंच के अन्तर पर मध्य भाग में किये हुए छिद्र मे से होकर जाने वाले कड़े मे ये पत्र बंधे हुए हैं। यह कड़ा वर्तुलाकार है। इसकी मोटाई $\frac{3}{8}$ इंच और व्यास ३ इंच है। इस कड़े पर फिरे हुए तांबे के एक छोटे कड़े के साथ २$\frac{3}{4}$ इंच व्यास का तांबे का एक वर्तुलाकार पत्र जुड़ा हुआ है। उस पर मुद्रा का लेख उत्कीर्ण करना था, किन्तु वह काम हुआ नहीं।

वाकाटक नृपति पृथिवीषेण द्वितीय ने प्रस्तुत ताम्रपट देने का आयोजन किया था, किन्तु प्रतीत होता है वह किसी कारण पूर्ण रूप से कोरा नही गया। उसके तीन पत्रो पर कुल ३५ पंक्तियां उत्कीर्ण हैं।

लिपि—प्रस्तुत लेख की लिपि पेटिकाशीर्षक है और वह द्वितीय प्रवरसेन के ताम्रपटों के सदृश है, केवल अक्षरो का घुमाव कुछ अधिक वर्तुल है। उसकी अधोनिर्दिष्ट विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं--'अज्झित' (पं. ३१) मे प्रयुक्त 'झ' अन्यत्र क्वचित् ही प्राप्त होता है और इस कारण ध्यान मे रखने योग्य है। 'ड' और 'द' के आकार भिन्न हैं। 'व' कही चौकोन और कही वर्तुल है। जिह्वामूलीय का चिह्न तीसरी पंक्ति मे आया है। विसर्ग एक के नीचे एक इस प्रकार दो वक्र रेखाओ द्वारा व्यक्त किया गया है। कुछ स्थलों पर 'रि' के स्थान पर 'ऋ', 'ण' के स्थान पर 'न' और अनुस्वार के बदले 'ङ्' और 'न' प्रयुक्त हैं।

चर्चा—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वाकाटक नृपति पृथिवीषेण द्वितीय ने प्रस्तुत ताम्रपट देने का आयोजन किया था। उसकी प्रवरसेन द्वितीय तक की वंशावलि अन्य ताम्रपटों के सदृश ही है। केवल १०वीं पंक्ति में कतिपय

शब्द लेखक के अनवधान के कारण छूट गये हैं। प्रवरसेन द्वितीय का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उसने पूर्ववर्ती राजाओं के चरित्र का अनुसरण किया था तथा उत्तम राजनीति, बल और पराक्रम के योग से सब शत्रुओं का उच्छेद किया था। आगे कहा गया है कि प्रवरसेन द्वितीय के अनन्तर उसके पुत्र नरेन्द्रसेन ने स्वतः अर्जित गुणों के योग से वंशावलि हस्तगत की तथा मालव, कोसला और मेकला देशों के अधिपति उसकी आज्ञाओं का सादर पालन करते थे। नरेन्द्रसेन के अनन्तर कुन्तल राजकन्या अज्झितभट्टारिका से उत्पन्न उसका पुत्र पृथिवीषेण द्वितीय गद्दी पर बैठा। पृथिवीषेण का वर्णन करते हुए यह सूचना दी गई है, कि वह परमभागवत अर्थात् विष्णु का निस्सीम उपासक था तथा अपने अवनत वंश का उद्धार कर उसने महाराज की पदवी धारण की थी।

पृथिवीषेण द्वितीय ने वेम्बार स्थित अपने शिबिर से प्रस्तुत ताम्रपट देने की योजना की थी, किन्तु प्रतीत होता है उसके शासन में आरम्भ के तीन पत्र कोरने के पश्चात् किसी कारण से यह काम बंद करना पड़ा। प्रस्तुत ताम्रपट की अपूर्णता इस बात से स्पष्ट है कि उसके आरम्भ में अन्य पूर्ण ताम्रपटों की भाँति 'दृष्टम्' शब्द कोरने के लिए पर्याप्त स्थान छूटा हुआ होने पर भी यह शब्द कोरा नहीं गया। ताम्रपट के अपूर्ण होने के कारण उसमें शासनवर्ष, लेखक और दूतक का उल्लेख भी प्राप्त न होता।

स्थल-निश्चय—पृथिवीषेण द्वितीय के तत्कालीन शिबिर-स्थान वेम्बार का पता दीर्घ काल तक नहीं लग पाया था। दुर्ग ताम्रपट-विषयक अपने लेख में मैंने उसकी पहचान वैनगंगा के पश्चिम मे दो मील पर तथा चांदा के पूर्व में २८ मील की दूरी पर बसे हुए बेंबाल के साथ की है।

वाचन[1]

पंक्ति प्रथम पत्र

१. ...[2]वेम्बारवासकादग्निष्टोमाप्तोर्य्यामोक्थ्य-

२ षोडश्यतिरात्रवाजपेयबृहस्पतिसवसाद्य-

३ स्क्रचतुरश्वमेधयाजिन[:*] विष्णुवृद्धसगोत्र-

१. एपिग्राफिया इंडिका, जि. ९, पृ. २७०-२७१ के सामने दिये छापों से।
२. यहां तीन अक्षरोंका स्थान छोड़ा गया है। अन्य ताम्रपटों के आरम्भ में 'दृष्टम्' शब्द पाया जाता है।

४ स्य सम्राट(जो) वाकाटकानाम्महाराजश्रि(श्री)प्रवरसे-

५ नस्य [सू]नोस्सूनो अत्यन्तस्वामिमहा-

६ भैरवभक्तस्य ।[1] अन्स[2]भारसण्णि(न्नि)वेशितशिव-

७ लिङ्गोद्वहनशिवसुपरितुष्टसमुत्पादित-

८ राजावङ्शाना[3]म्पराक्रमाधिगतभागिरत्थ्यामल[4]-

९ जलमूर्द्धनाभिषिक्ताना[5]न्दशाश्वमेधाव-

द्वितीय पत्र : पहिली बाजू

१० भृथस्नातानाम्भारशिवाना[6]म्महाराजश्रि(श्री)रुद्रसे-

११ नस्य सूनोः अत्यन्तमाहेश्वरस्य सत्यार्ज्जव-

१२ कारुन्य(ण्य)शौर्य्यविक्रमनयविनयमाहा-

१३ त्म्यधिमत्व[7]पात्रगतभक्तित्वधर्म्मा(र्म्म)विजयित्वमणो(नो)-

१४ नैर्म्मा(र्म्म) ल्यादिर्गु (गु)णसमुदितस्य वर्ष्प (र्ष)शत-

१५ मभिवर्द्धमानकोशदण्डसाधनसन्तानपुत्र-

१६ पौत्र(त्रि) णः युधिष्ठिरवृत्तेर्व्वा[8]काटकानाम्महा-

१७ राज[श्रि](श्री)पृथिविषेणस्य सूनो[:*] भगवत-

१८ श्चक्रपाणे[:*] प्रसादोपार्ज्जितश्रि (श्री)-

१. यह विरामचिह्न निरर्थक है ।
२. पढिये 'अंस-' ।
३. पढ़िये 'वंशाना-' ।
४. पढ़िये 'भागीरत्थ्यमल-' ।
५. पढ़िये '-जलमूर्द्धाभिषिक्ताना-' ।
६. यहां 'महाराजश्रीभवनागदौहित्रस्य गौतमीपुत्रस्य पुत्रस्य वाकाटकानाम्' शब्द अनवधानके कारण छूट गये है ।
७. पढिये 'धीमत्त्व' ।
८. प्रथम 'व्वि' कोरा गया था, बाद में उसे ठीक करके 'र्व्वा' किया गया ।

द्वितीय पत्र : दूसरी बाजू

१९ समुदयस्य वाकाटकानाम्महाराजश्रि(श्री)रुद्र-
२० सेनस्य सूनोः पूर्व्वराजानुवृत्तमार्ग्गा(र्गा)णु(नु)सा-[1]
२१ रिणः सुनयबलपराक्रमोम्छि(च्छि)ण्ण(न्न)सर्व्वद्वि-
२२ षः महाराजाधिराजश्रि(श्री)देवगुप्तसुताया-
२३ म्प्रभावतीगुप्तायामुत्पण्ण(न्न)स्य वाकाट-
२४ कवङ्शा(वंशा)लङ्कारभूतस्य शम्भो[illegible]प्रसादाद्ध्र(द्ध्रु)-
२५ तकार्त्तयुगस्य[2] वाकाटकानाम्महाराज्ज(ज)श्रि(श्री)-
२६ प्रवरसेनस्य सूनोः पूर्व्वाधिगतगुण-
२७ विश्वा[सा ?]दपहृतवङ्शश्रियः[3] कोसला-

तृतीय पत्र

२८ मेकलामालवाधिपति[भि*] रभ्यर्च्च(र्च्चि)तशासनस्य प्र-
२९ तापप्रलातारिसनस्य[4] वाकाटकानाम्महा-
३० राजश्रि(श्री)नरेन्द्रसेनस्य सूनोऽकुन्तलाधिपति-
३१ सुताया(यां) महादेव्यामज्झितभट्टारिकायामु-
३२ त्पन्नस्य तेज क्षमासन्निधानभु(भू)त-
३३ स्य।[5] द्विमग्नवङ्शस्यो[6]द्धर्त्तुः[7] वाकाटकाना-
३४ म्परमभागवतमहाराजाधिराजश्रि(श्री) पृथिविषे-
३५ णस्य वचना[त्*] अस्मत्सन्तका[:*] सर्व्वाद्धयक्ष[7]-

१. प्रवरसेन द्वितीय का वर्णन करनेवाला यह तथा अगला विशेषण सिवनी ताम्रपट में ही प्राप्त होता है।
२. यहां एक अनावश्यक 'इ' कोरा हुआ है।
३. पढ़िये 'वंश-'।
४. पढ़िये 'प्रणतारिशासनस्य'।
५. यह विरामचिह्न निरर्थक है।
६. सम्भवतः 'निमग्नवंशस्य' विवक्षित है।
७ यह वाक्य अपूर्ण रह गया है। पढ़िये 'सर्व्वाध्यक्षनियोगनियुक्ताः कुलपुत्राधिकृता भटाश्छात्राश्च विश्रतपूर्वयाज्ञयाज्ञापयितव्याः'।

ज्येष्ठ शाखा के माण्डलिकों के अभिलेख

१९. भरतबल का बम्हनी ताम्रपट

उपलब्धि—यह ताम्रपट भूतपूर्व रीवा राज्य की सोहागपुर तहसील के बम्हनी ग्राम में प्राप्त हुआ था। डा. बहादुरचन्द्र छाबडा ने इस पर एक छोटीसी टिप्पणी 'भारतकौमुदी' भाग १, पृ. २१ इ में प्रकाशित की और बाद में उन्होने छापे और अंग्रेजी अनुवाद के साथ इस लेख का सम्पादन एपिग्राफिया इंडिका, जि. २७, पृ. १३२ इ. में किया। उसमे प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री के विषय मे इंडियन हिस्टॉरिकल रीसर्च इन्स्टिटयूट के 'इंडिका' नामक रौप्यमहोत्सव ग्रन्थ मे (पृ. २६८ इ.) मैंने एक लेख लिखा है। डॉ. छाबडा द्वारा दिये गये छापों से इस ताम्रपट का वाचन यहां किया गया है।

वर्णन—इस ताम्रपट के तीन पत्रो की लंबाई लगभग ७·७५″ और चौडाई ४·५०″ है। वे ·२५″ मोटे छल्ले से जुडे हुए हैं। यह छल्ला पत्रो के बायी ओर मध्य भाग में विद्यमान ·७५″ व्यास के छिद्र मे से होकर जाता है। छल्ले के दो सिरे एक छोटी सी मुद्रा के पीछे की ओर जोडे गये हैं। मुद्रा पर चिह्न अथवा अक्षर दृष्टिगत नही होते। पत्रो पर उत्कीर्ण लेख उत्तम स्थिति मे है। प्रथम तथा तृतीय पत्र केवल एक ओर कोरे हुए हैं। लेख की कुल ४९ पंक्तियो में से प्रथम पत्र पर बारह पंक्तिया, द्वितीय पत्र के दोनो ओर तेरह, तेरह पक्तियां और तृतीय पत्र पर ग्यारह पंक्तिया उत्कीर्ण हैं। कड़ी, मुद्रा तथा सब पत्रो का वजन है ९४ तोले।

लिपि—अक्षरो की बनावट कीलशीर्षक प्रकार की और दक्षिणी पद्धति की है। प्रभावतीगुप्ता के पूना ताम्रपट के साथ उसका बहुत साम्य है, किन्तु उसमें उक्त ताम्रपट के समान उत्तरी अक्षरो का मिश्रण प्राप्त नही होता। लिपि की उल्लेखनीय विशेषताएं इस प्रकार है—व्यञ्जन-रहित ह्रस्व 'इ' दो बिन्दुओं पर बनाई हुई दो परस्पर जुड़ी हुई वक्र रेखाओं द्वारा व्यक्त किया गया है। उदाहरण के लिए देखिए 'इति' (पं. ३)। व्यञ्जन युक्त 'ई' का दीर्घत्व ह्रस्व इकारके अर्धवृत्त में बिंदी लगाकर व्यक्त किया गया है (द्रष्टव्य, 'आसीद्' पं० १)। व्यञ्जनरहित 'ए' 'ओ' और 'औ' अक्षरो के क्रमशः पं. २५ और १६ मे प्राप्त रूप उल्लेखनीय है। 'म' के सिर पर चौकोनी पेटी बनाई गई हैं, जैसे 'सुविमल', पं. १। दो संख्या के लिए प्रयुक्त चिह्न भी उल्लेखनीय है। अन्य लेखों के समान यह अंक एक ऊपर एक बनाई गई दो वक्र रेखाओं से नही बना है, उसका चिह्न नागरी चिह्न से मिलता-जुलता है।

भाषा—प्रस्तुत लेख संस्कृत भाषा में है। उसका कुछ भाग पद्य में और शेष गद्य में है। पद के अन्त में 'न्' के बदले अनुस्वार, 'र्' के पूर्व तथा पश्चात् आनेवाले व्यञ्जन का द्वित्व, कहीं-कहीं अनुस्वार के स्थान पर 'ङ्', 'व्' के स्थान पर 'ब्' तथा 'ऋ' के स्थान पर 'रि' इत्यादि लेखन की कुछ उल्लेखनीय विशेषताएं हैं। लेखन में अनेक त्रुटियां हैं जिनका संशोधन वाचन की पाद-टिप्पणियों में किया गया है।

विषय—यह लेख मेकला देश पर राज्य करनेवाले पाण्डववंशी भरत अथवा भरतबल का है; इस लेख का उद्देश्य था भरतबल द्वारा माध्यन्दिन शाखा के वत्सगोत्री ब्राह्मण लोहित को मेकला देश में उत्तरराष्ट्र के पंचगर्ता विषय में स्थित वर्धमानक नामक ग्राम के दान करने का उल्लेख। इस ताम्रपट का लेखक राहसिक ईशान का पुत्र शिव तथा कोरनेवाला सुवर्णकार ईश्वर का पुत्र मिहिरक था। उसका काल इस प्रकार दिया गया है—शासन वर्ष २, भाद्रपद कृष्ण त्रयोदशी, पुष्य नक्षत्र.

जयबल
|
वत्सराज—(राज्ञी) द्रोणभट्टारिका
|
महाराज नागबल—(राज्ञी) इन्द्रभट्टारिका
|
महाराज भरत ऊर्फ इन्द्र – (राज्ञी) लोकप्रकाशा

इनमें से प्रथम दो राजाओं के लिए राजोपाधि का उपयोग नहीं किया गया है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि उनका वर्णन पद्य में किया गया है। उनके अनन्तर नागबल और भरतबल का वर्णन प्रथम गद्य में और बाद में एक-दो श्लोकों में किया गया है। इन दोनों के लिए 'महाराज' उपाधि का प्रयोग किया गया है और कहा गया है कि वे परममाहेश्वर अर्थात् शिव के निस्सीम उपासक, ब्राह्मणों के महान् आश्रयदाता तथा परमगुरुदैवताधिदैवतविशेष (अर्थात् अत्यन्त आदरणीय, देव-सदृश और साक्षात् परमेश्वर) थे। राजाओं की दैवी प्रकृति के सूचक ऐसे अन्य विशेषण वाकाटकों के उत्कीर्ण लेखों में प्राप्त नहीं होते।[1] किन्तु जैसा कि डॉ. छाबड़ा ने प्रतिपादित किया है, ऐसा ही एक दूसरा विशेषण 'परम-दैवताधिदैवत' सोरो और पटियाकेल्ला ताम्रपटों में प्राप्त होता है।

पांचवे श्लोक से ज्ञात होता है कि भरत अथवा भरतबल इन्द्र नाम से भी प्रसिद्ध था। षष्ठ तथा अष्टम श्लोक में इन्द्र के साथ उसकी तुलना से भी इसका

१. गुप्तों के कतिपय लेखों में 'परमदैवत' विशेषण तत्कालीन राजा के लिये प्रयुक्त है। द्रष्टव्य—ए. इं., जि. १५, पृ. १३३, १३५, १३८, १४२।

समर्थन होता है। भरतबल ने कोसला देश की राजकन्या देवकुलोत्पन्न लोकप्रकाशा से विवाह किया था। डॉ. छाबडा का यह मत कि वह दक्षिण कोसल के पाण्डव-वंश की रही होगी, मुझे ग्राह्य प्रतीत नहीं होता। उस समय दक्षिण कोसल पर पाण्डववंशी राजाओं का शासन था या नही, इसमें संशय है। यदि शासन था तो वे राजे भरतबल के समानोदक न सही, सगोत्र तो माने ही जाने चाहिए थे, क्योंकि भरतबल का जन्म भी पाण्डववंश मे ही हुआ था। अतः इन दो कुलों के बीच वैवाहिक सम्बन्ध होना हिंदू धर्मशास्त्र के अनुसार संभव नहीं था। अतः लोकप्रकाशा दक्षिण कोसल के 'शूर' वंश की रही होगी। गुप्त संवत् १८२[1] (ई० स० ५०१-२) के आरंग ताम्रपट से ज्ञात होता है कि तत्कालीन राजा भीम के पूर्व उसके कुल पांच पूर्वजो ने राज्य किया था। उनके नाम इस प्रकार हैं— शूर, दयित (अथवा दयितवर्मन् प्रथम), बिभीषण, भीमसेन प्रथम, दयितवर्मन् द्वितीय। अतः भरतबल के साथ विवाहित लोकप्रकाशा दक्षिण कोसल के भीमसेन प्रथम की पुत्री होनी चाहिए।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मेकला देश के ये राजे अपने आपको पाण्डव वंश मे उत्पन्न मानते थे। ग्यारहवे श्लोक में श्लेष के द्वारा इस राजवंश को सौम्य अथवा चन्द्रवंशोत्पन्न कहा गया है। पाण्डव सोमवंशी थे, यह विख्यात है।

जैसा कि डॉ. छाबडा ने प्रतिपादित किया है, ग्यारहवे श्लोक मे केवल नरेन्द्र अथवा राजा भरतबल का वर्णन ही नही, अपितु वाकाटक नृपति नरेन्द्रसेन की स्तुति भी अभिप्रेत है। बालाघाट ताम्रपट से ज्ञात होता है कि नरेन्द्रसेन की आज्ञा को कोसला, मेकला और मालव देशो के अधिपति शिरोवन्द्य मानते थे। इसका अर्थ यह है कि ये राजे उस वाकाटक नृपति के माण्डलिक थे। आरंग ताम्रपट में कोसला देश के राजा वाकाटको के अधिराज्य का स्पष्ट रूप से उल्लेख नही करते। इसी प्रकार मेकला देश का राजा भरतबल भी वाकाटको का स्वामित्व स्पष्ट रूप से स्वीकार नही करता, तथापि यह असम्भव नहीं कि उपर्युक्त श्लोक मे उसने इस तथ्य को अप्रत्यक्ष रूप से सूचित किया है।

अधिकारी जिन अधिकारियो को यह दानपत्र सम्बोधित किया गया है उनमे ग्रामकूट, द्रोणाग्रकनायक, देववारिक तथा गंडक का निर्देश है। इनमें से ग्रामकूट के अतिरिक्त अन्य अधिकारियो की चर्चा अन्यत्र प्राप्त नही होती। ग्रामकूट सहज ही ग्रामाधिकारी या पाटिल है। द्रोणाग्रकनायक द्रोणाग्रक का प्रमुख होना

१. मैंने अन्यत्र सिद्ध किया है कि इस लेख का वर्ष २८२ न होकर १८२ है। देखिए, ए इं., जि. २६, पृ. २८८।

चाहिए। यह द्रोणाग्रक सम्भवतः कौटिलीय अर्थशास्त्र में उल्लिखित द्रोणमुख है। अर्थशास्त्र के कथनानुसार चार सौ ग्रामों के मध्य में एक द्रोणमुख होना चाहिए। द्रोणाग्रकनायक उसके मुख्य ग्राम के अधिकारी की संज्ञा प्रतीत होती है। डॉ. छाबडा के अनुसार देववारिक देवालयों व तीर्थों का निरीक्षक अधिकारी होना चाहिए। यह भी सम्भव है कि दौवारिक के बदले देववारिक शब्द गलती से लिखने में आ गया होगा। यदि यह सत्य हो तो यह अधिकारी शुक्रनीतिसार में उल्लिखित प्रतीहार होना चाहिए। यह प्रतीहार नगर अथवा ग्राम के संरक्षक दल का (पुलिस का) प्रमुख होता था। गंडक का आशय भट अथवा सैनिक से होना चाहिये। कर-वसूली तथा ग्राम की सुव्यवस्था और सुरक्षा का उत्तरदायित्व इन अधिकारियों पर था। अतः उन्हे भूमिदान की सूचना देना अनिवार्य था।

स्थल-निश्चय—प्रस्तुत ताम्रपट में उल्लिखित स्थलों का पता डॉ. छाबड़ा ने लगाया है। मेकला अमरकंटक के आस पास के प्रदेश का नाम है। अमरकंटक पर्वत पर उद्गम प्राप्त करनेवाली नर्मदा मेकलसुता कहलाती है। पंचगर्ता का अभिप्राय उस स्थान से प्रतीत होता है जहां पांच प्रवाह मिलते हैं। बम्हनी के आसमन्तात् पास पास बहने वाले पांच नाले आगे चलकर शोण नदी में मिलते हैं। सहडोल से तीन मील दक्षिण मे स्थित पांचगांव कदाचित् पंचगर्ता विषय का मुख्य ग्राम रहा होगा।

वाचन[1]

पंक्ति प्रथमपत्र

१ सिद्धम्[2][।*]स्वस्तिः[3][।*] आसीद्यः पाण्डवानां सुविमलयशसामन्वये भूरिधाम्ना(म्नां) रा-

२ जाभूत्मे(न्मे)कलायां क्षितिपतितिलक. संप्रसूतोरुकीर्त्ति(र्त्तिः)[।*] श्रीमां(मान्) श्रीसं-

३ विधा[ता*] जयबल इति यः ख्याप्यते स्वैर्य्यशोभिः लोकेस्मि(स्मिन्) सर्व्वदे(दै) [व*]

४ प्रवरगुणगणालङ्कृतश्चार(रु)मूर्त्ती(र्त्ति):[4] [।।१*] तस्याहवाहृतजयः प्रथि[तो दया-*]

१. एपिग्रफिया इंडिका, जि. २७, पृ. १४०-४१ के सामने की छापों से।
२. यह शब्द चिह्न द्वारा व्यक्त किया गया है।
३. यह विसर्ग निरर्थक है। ४. वृत्त-स्रग्धरा।

५ वां(वान्) वत्सेश्वरः प्रतिसमो गुणवान्विविज्ञः[।*]पुत्त्रोभवद्रिपुमहोप[1]-

६ वनानि येन वन्यैर्मृगैः प्रचुरतामुपपादितानि[2] ॥[२॥*]महानुभाव[:*]

७ सुकृतप्रशंन्सि(सी)गुणान्तरज्ञः पुरुषोपभोग्यः[।*] सद्धर्म्मशीलो (लः) सुनय[प्र]-

८ धानः श्रीवत्सराज(जो) नृपतिर्व्व(र्व्व)भूव[3] ॥ [३॥*]तस्य पुत्रस्तत्पा-दानुध्यातः प-

९ रममाहेश्वरः परमब्रह्मण्यः परमगुरुदेवताधिदैवतविशेष[:*]

१० श्रीमां[4] श्रीमत्यां देव्यां द्रोणभट्टारिकायामुत्पन्नः श्रीमहाराजना-

११ गबलः [।*] तुरगखुरनिपातक्षुण्णमार्गां धरित्रि(त्री) मलिनयति दिगन्तां (न्तान्)

१२ पा(पां)सुरूक्षाकुलान्तां(न्तान्) [।*] मदमलिनकपोला वारणा यस्य

द्वितीय पत्र : पहिली बाजू

१३ य(या)तः प्रशममुपनयन्ते शीकरार्द्रा(द्रान्)[5] क्षणेन।[6] [।४॥*]ततस्तस्य पुत्त्रस्तत्पादा-

१४ नुध्यातः परममाहेश्वरः परमब्रम(ह्म)ण्यः परमगुरुदेवताधिदैवत-

१५ विशेषः श्रीमत्यां देव्यामिन्द्रभट्टारिकायामुत्पन्नः श्रीमहाराजभरत[:*]

१६ इन्द्रो दयाशीलगुणान्विताया औदार्य्यचातुर्य्यसमं(म)न्विताया[:।*]

१७ पुत्त्र[:*] प्रसूतोमलचारुकान्तिः शैलेन्द्रपुत्र्या इव कार्त्तिकेयः[7] ॥५॥*] इन्द्रो दा-

१. पढ़िये 'गृहो-'।
२. वृत्त-वसन्ततिलका।
३. वृत्त-उपजाति।
४. पढ़िये 'श्रीमान्'।
५. डॉ. छाबड़ा के मत में यह 'धरित्री' का विशेषण है। किन्तु अर्थ की दृष्टि से यह 'दिगन्तान्' का विशेषण होना चाहिये।
६. वृत्त-मालिनी।
७. वृत्त-इन्द्रवज्रा।

१८ रणिसंभवेथ हुतभुक्तत्तेजोज्वलस्नेहवांत्सद्वृत्तस्थितिविप्रमन्द्र-[1][2]

१९ विधृतप्र(प्रा)प्तप्रमाणोन्नति[:।*] दृष्टः साधुसुखोदयाय हि नृणां ध-

२० र्म्मार्थसंपादकः वेद्यामध्वरसंस्थिते वसुहुतः पूज्यः सतां सर्व्व-

२१ दा[3]। [।६।।*] येनोत्तुङ्गरिपुद्रुमैरविरलैर्भ्र्भ(र्ब्भ)ग्नैः समस्ता दिशच्छ-(श्छ)न्ना दिध्व(ग्व)र-

२२ दन्तिनेव गुरुणा व्याक्रि(क्र)ष्य विस्फूर्ज्जिता[:*]। यस्यैव(वं)विधचेष्ट-(ष्टि)तस्य नृ-

२३ पतेः कृत्स्ने महीमण्डल(ले) सौराज्यश्री(श्रि)यमादधातु विपुला[4] धर्म्मार्थकाम-

२४ प्रदाः[5][।।७।।*]श्रीभरतः क्षितिनाथः क्षितिपतितिलकः सुरेन्द्रसमवि(वी)र्य्यः [।*]

२५ विनिहतरिपुगुणलक्ष्मि(क्ष्मीं) दधार यः संश्रु(श्रि)तां स्वभुजोः(जे)[6] [।।८।।*]एकैव[7]

द्वितीय पत्र : दूसरी बाजू

२६ स्फटिकविमलशुभ्रं वि(बि)भ्रति(ती) शीलतोयानं। यमनियत(म)-तटान्तप्रान्तशु-

२७ द्धप्रव(वा)हं(हम्) [।*]प्रशमगुणगणोमिया(र्मिया) जनं पावयंति(यन्ती) स्वयमिह सुर-

१. पढ़िये 'हुतभुक् तेजोज्ज्वलः स्नेहवान् सद्वृत्त-'।

२. पढ़िये 'मन्त्र-'। ३ वृत्त-शार्दूलविक्रीडित।

४. डॉ. छाबड़ा ने 'नृपतेः' के स्थान पर 'नृपतिः' और 'आदधातु' के स्थान पर 'आदधाति' पाठ सुझाया है। इसकी अपेक्षा 'विपुला' के बदले 'विपुलां' तथा 'धर्म्मार्थकामप्रदाः' के बदले 'धर्म्मार्थकामप्रदा' पाठ स्वीकार करने पर अर्थ अधिक अच्छा निकलेगा। यह पाठ स्वीकार करने पर शब्दो का अन्वय इस प्रकार होगा—यस्य कृत्स्ने महीमण्डले धर्म्मार्थकामफलप्रदा मही विपुलां सौराज्यश्रियमादधातु'।

५. वृत्त-शार्दूलविक्रीडित। ६. वृत्त-आर्या।

७. 'एकैव' शब्द का अगले श्लोक के साथ सम्बन्ध नही है। उसका अन्वय श्लोक १० में 'भरतबलस्य राजपत्नी' के साथ करना चाहिए।

८. पढ़िये 'सोयम्'। इसके आगे विरामचिह्न निरर्थक है।

२८ लोकादागता जाह्नवीवं[1] ॥ [९॥*] श्रीमच्चान्द्रा(न्द्रां)शुकि(की)र्तेर्भरतव-
(ब)लनृपस्योत्तम(मा) र(रा)ज-
२९ पत्नि(त्नी)[7] । जाता य(या) कौ(को)सलायाममरजकुलजा किति(कीर्ति)-
म(मु)च्चैर्दधाता(ना) ॥ (।) शश्वद्धर्माए(र्थ)-
३० कार(म)प्रतिविहिततमातीवलोकप्रकाशा[2] याता र(पौ)त्रैः प्रपौत्रैर्न[य]-
विनयर-
३१ तै राजसि(सिं)घै(हैः) प्रतिष्ठा[म्*][3] ॥ [१०।*] योसौ संपूर्णशक्तित्रय-
विनिपतितानेकसामं(म)न्त-
३२ मूर्द्धप्रोद्घृष्टोत्फुल्लपपर्दतिचलनय(यु)गाक्रान्तदिक्र(क्च)क्रवालः [।*]
सौम्यः सो-
३३ यण्य(ञ्च)वंश. प्रभव इति जने कीर्त्ये(र्त्य) ते यस्य चोच्चैः स श्रीमां-
(मान्) सवभुवास्त-
३४ तियं[5] गुणा(ण)गणोदि (दी)र्णवैरो ने(न)रेन्द्रः ॥११॥*]ततः मेकलायं-
(यां) उत्तरराष्ट्रे पा[ञ्च[6]]ग-
३५ र्त्ताविषये वर्द्धमानके ।[7] ग्रामकु कू टद्रोणाप्रकनायकदेवबारिकगण्डक-
३६ प्रमुखां(खान्) सवा(र्वा)नेव यथाप्रतिवासिन समाज्ञापयति विदितमस्तु
३७ महैयपादैर्यं ग्रासा(मः) साद्र[गाः[9]] सोपरिकरः अचाटभटप्रवेशी(श्य)
सनि-

१. वृत्त-मालिनी ।
२. 'प्रतिविहिततमाः' और 'अतीव' के बीच यहा की गई सन्धि शुद्ध नहीं है । 'शश्वद्धर्म्मार्थकामप्रतिविहिततमाः' का विग्रह यदि 'शश्वद्धर्म्मार्थकामैः प्रतिविहितं तमः यया' किया जाय तो रानी का लोकप्रकाशा नाम सार्थक होगा ।
३. इसका व अगले श्लोक का वृत्त-स्रग्धरा ।
४. डॉ० छावड़ाने यहा 'पद्मद्युति' पाठ सुझाया है ।
५. पढिये 'सार्वभौमप्रथित-' ।
६. 'यह अक्षर 'ण्ड' के जैसा दिखता है, किन्तु यहां डॉ० छावड़ाका पाठ स्वीकृत किया गया है ।
७. यह विरामचिह्न निरर्थक है ।
८. यहा 'मदीयपादैः' विवक्षित होगा, किन्तु दाता के मुख में यह शब्द विलक्षण प्रतीत होता ।
९. पढ़िये 'सोद्रङ्ग.' ।

३८ धिः सोपनिधिः[1] श्रो(चो)रदण्डवर्जतं[2] चतुःसि(सी)मापर्य्यन्त आच-
न्द्रार्कक्षित(ति)-

तृतीय पत्र

३९ तारकानिरोधेन मात(ता)पित्रोरात्मनश्च पुण्याभिवृध(द्ध)ये वत्स-
सगोत्रश्रीमा-

४० द्धिय(द्धय)न्दिनलोहितसरस्व(स्वा)मिनः(ने) प्रतिपादिते(त इ)त्यवगम्य
यथोचितभागभो-

४१ गेनाज्ञाश्रवणविधेयैर्भवितव्यमिति [।*] स्वयमाज्ञापना [।*] ये
चास्मद्वङ्शे[3] समुत्प-

४२ द्यन्ते राजानः[4]स्तैरपीयं दत्तिरनुमोदनीयानुपालनीया च [।*]
यः[5]श्चैमां(तां) दत्ति(त्ति) विलोपमा-

४३ प(पा)दयिष्यति स पञ्चभिर्महा[पा*]तकैः संयुक्त[ः*] स्य(स्या)-
दिति [।*] बहुभिर्वसुधा भुक्ता राज-

४४ भिस्सगरादिभिः [।*] यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलं
(लम्[6]) [॥१२॥*] षष्टि वर्षस-

४५ हस्राणि स्वर्ग्ग(र्गे) मोदति भूमिद[ः।] आच्छेत्ता चानुमन्ता च
तान्येव नरके वसेत् [॥१३॥*] स्व-

४६ दत्ता[त्तां] परदत्ता(त्तां) बा(वा) यत्नाद्रक्ष नराध(धि)प [।*] मही-
(ही)मतां श्रेष्ठ दानाच्छेयोनुपालन[म्*] ॥ [१४॥*]

४७ समाप्तं चेदं शासनं (नम्) [॥*] प्रवर्द्धमान ।[7] विजयराज्यसंवत्सरे २
भ(भा)द्रपदकृष्णत्र-

४८ योदश्यां पुष्यनक्षत्त्रेण [।*] लिखितं[8]ञ्चेदं शासनं राहसिकेशानपुत्रेण
शिवेनो-

४९ त्कीर्णञ्च सुवर्ण्णकारेश्वरपुत्रेण मिहिरकेने(णे)ति ॥

१. यह विसर्ग निरर्थक है।
२. पढ़िए 'चोरदण्डवर्जं'। यह पद 'अचाटभटप्रवेशी(श्यः)' के पूर्व आना चाहिए।
३. पढ़िए '-द्वंशे'। ४. यह विसर्ग निरर्थक है।
५. यह विसर्ग भी निरर्थक है। ६. इसका व अगले श्लोक का वृत्त—अनुष्टुभ्।
७. यह विरामचिह्न निरर्थक है। ८. यह अनुस्वार निरर्थक है।

२०-२१. व्याघ्रदेव के दो नचना शिलालेख

उपलब्धि—ये दो शिलालेख जनरल कनिंग्हैम को सन् १८८३-८४ में प्राप्त हुए। उनकी छापें और उनमें से बड़े शिलालेख का स्वतः किया हुआ वाचन उन्हों ने अपनी आर्किऑलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया रिपोर्ट, जि. २१, पृ. ९७३ इ. में प्रकाशित किया। तदनन्तर डॉ फ्लीट ने अपने कॉर्पस् इन्स्क्रिप्शनम् इंडिकॅरम् (भारतीय उत्कीर्ण लेख-संग्रह), खण्ड ३, पृ. २३३ ई. में इन शिलालेखों की छाप, वाचन तथा अंगरेजी भाषान्तर प्रकाशित किया। उन्हीं छापों के आधार पर यहाँ उनका वाचन दिया गया है।

वर्णन—ये लेख भूतपूर्व जसो राज्य में कुठारागढ के बाहर और नचना की तलाई ग्राम के निकट एक विशाल स्वतन्त्र शिलाखण्ड पर उत्कीर्ण हैं। क्रमांक २० का लेख, जो अपूर्ण है, शिलाखण्ड के एक छोर पर कोरा हुआ है। क्रमांक २१ का लेख, जो पूर्ण है, उसी शिलाखण्ड के सामने के पृष्ठ भाग पर उत्कीर्ण है। प्रथम लेख के अपूर्ण होने का कारण शिलाखण्ड के उस भाग का ऊबड़खाबड़पन प्रतीत होता है। अत दूसरे छोर पर उस लेख को पुनः आरम्भ करके पूर्ण करना आवश्यक हुआ होगा।

क्रमाक २० के लेख ने १ फुट, ९$\frac{3}{4}$ इंच लंबा और ७$\frac{1}{2}$ इंच चौड़ा स्थान घेर रखा है। क्रमाक २१ का लेख १ फुट, ९ इंच लंबे और १ फुट चौडे स्थान पर उत्कीर्ण है। बड़े लेख के मध्य भाग में एक चक्र की आकृति कोरी हुई है। जायसवाल के मत में यह वाकाटको का विशिष्ट चिह्न होना चाहिए।

लिपि—दोनों लेखो की लिपि पेटिकाशीर्षक प्रकार की है। उसके काल के विषय मे विद्वानों में मतभेद है। फ्लीट ने इस प्रश्न पर सूक्ष्म विचार नहीं किया था। उस समय इसकी आवश्यकता भी नही थी, क्यो कि तब तक पृथिवीषेण नामक एक ही वाकाटक नरेश ज्ञात था। अतः डॉ फ्लीट ने यह मत प्रतिपादित किया कि (प्रथम) पृथिवीषेण के काल मे उसके माण्डलिक व्याघ्रदेव ने यह लेख उत्कीर्ण कराया था। इसके पश्चात् बालाघाट ताम्रपट से एक अन्य पृथिवीषेण ज्ञात हुआ जो पृथिवीषेण प्रथम की चौथी पीढ़ी मे हुआ था। उस समय से प्रस्तुत शिलालेखो मे उल्लिखित पृथिवीषेण इस नाम का प्रथम राजा है अथवा द्वितीय इस विषय में विद्वान् दो मतो मे विभक्त हो गये हैं। डॉ. सुखटणकर, डॉ. जायसवाल, डॉ. रायचौधुरी, डॉ. अलतेकर आदि के मत मे वह पृथिवीषेण प्रथम होना चाहिए। किन्तु स्व. रायबहादुर काशीनाथ नारायण दीक्षित ने यह प्रतिपादित किया है कि इन लेखों के अक्षरों की बनावट प्रभावतीगुप्ता के पूना ताम्रपट की लिपि की अपेक्षा

परवर्ती है। अतः उनके मतानुसार प्रस्तुत लेखों में उल्लिखित पृथिवीषेण पृथिवीषेण द्वितीय होना चाहिए। प्रो. जुल्हो-डुब्रुइल तथा डॉ. रमेशचन्द्र मजूमदार का भी यही मत है। कुछ समय पूर्व डॉ. दिनेशचन्द्र सरकार ने इस विवाद को पुनः उभारते हुए यह विचार व्यक्त किया कि 'नचना और गंज शिलालेखों के अक्षरों की बनावट विन्ध्यशक्ति द्वितीय के वाशिम ताम्रपट के भी अक्षरों की बनावट की अपेक्षा पूर्ववर्ती है।' अपने इस मत के समर्थन में उन्होंने 'व' की त्रिकोणाकृति तथा 'ज' एवं 'त' के प्राचीन रूपो का निर्देश किया है। इन प्रमाणों के आधार पर उनका यह निश्चत मत है कि प्रस्तुत शिलालेख पृथिवीषेण प्रथम के काल के ही हैं। इस मतभेद को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत प्रश्न पर सूक्ष्म विचार करना आवश्यक हो गया है। डॉ. सरकार का मत यह प्रतीत होता है कि 'व' के त्रिकोणाकृति रूप का व्यवहार प्रथम पृथिवीषेण के काल के पश्चात् शीघ्र ही बन्द हो गया तथा द्वितीय पृथिवीषेण के काल में 'व' का समकोण वाला रूप प्रचलित था; अतः प्रस्तुत लेख पृथिवीषेण द्वितीय के काल के नहीं हो सकते। किन्तु तत्कालीन उत्कीर्ण लेखो के अवलोकन से यह मत समीचीन प्रतीत नही होता। वस्तुतः 'व' अक्षर का समकोण वाला रूप प्रथम पृथिवीषेण के काल के पूर्व ही व्यवहार में आने लगा था। उदाहरणार्थ समुद्रगुप्त के एरण शिला लेख मे 'कुलवधूः' (पं. २०) 'विचिन्त्य' (पं. २४) इत्यादि स्थलों पर 'व' का रूप द्रष्टव्य है। इसके अतिरिक्त 'व' के त्रिकोणाकृति रूप का व्यवहार पृथिवीषेण प्रथम के काल के पश्चात् तत्काल ही बन्द नही हो गया, क्योकि वह चन्द्रगुप्त द्वितीय के सांची शिलालेख में प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ देखिए, 'महाविहारे' (पं. १), 'सर्व्वगुण'—(पं. ८) इत्यादि स्थलों पर 'व' का रूप। किं बहुना, 'व' का त्रिकोणाकृति रूप इसके अनन्तर भी दीर्घ काल तक प्रचलित रहा। वाकाटको के लेखो में सामान्यतः 'व' का समकोण वाला रूप दृष्टिगत होता है, किन्तु नलवंशी स्कन्दवर्मा के पोडागढ़ शिलालेख मे[1] तथा अर्थपति के केसरोबेडा ताम्रपट में[2] त्रिकोणाकृति रूप प्राप्त होता है। स्कन्दवर्मा और अर्थपति पृथिवीषेण द्वितीय के पूर्व नहीं, पश्चात् हुए। उपरिलिखित सब लेख पेटिकाशीर्षक लिपि में हैं। अतः 'व' का त्रिकोणाकृति रूप इस बात का प्रमाण नहीं माना जा सकता कि प्रस्तुत लेख पृथिवीषेण प्रथम के काल के हैं। यही बात 'ज' और 'त' के तथाकथित प्राचीन रूपों के विषय में भी लागू होती है। यह सत्य है कि प्रस्तुत लेखों में 'व' का रूप कुछ अधिक कोणाकृति (angular) है। किन्तु इसका कारण सम्भवतः लेखक द्वारा उस काल में अपने प्रदेश मे प्रचलित 'व' के रूप का अनुकरण है। इस सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि बघेलखंड में नचना और गंज के प्रस्तुत शिलालेख ही

१. उदाहरणार्थ देखिए 'भवदत्तस्य,' पं. ३; 'अप्रवेश्यम्', पं. ८। पं. ८।
२. उदाहरणार्थ देखिए, 'विभः' पं. १; 'ध्रुव', पं. ७।

पेटिकाशीर्षक लिपि में मिल गये हैं। इस प्रदेश में तत्कालीन प्रचलित लिपि कीलशीर्षक (nail-headed) प्रकार की थी। उदाहरण के लिये राजा हस्ती के मझगवां ताम्रपट और भरतबल के बम्हनी ताम्रपट की लिपि द्रष्टव्य है। यद्यपि नचना और गंज शिलालेखों के लेखक ने वाकाटक सम्राट् को प्रसन्न करने के लिये पेटिकाशीर्षक लिपि का उपयोग किया है, तथापि वह इस लिपि से भली भांति परिचित न था। अतः प्रतीत होता है कि उसने अच्छी तरह जानी-पहचानी कील-शीर्षक लिपि के 'व' के रूप का अनजाने मे अनुकरण किया है। यही घटना प्रभावतीगुप्ता के पूना ताम्रपट के विषय में भी घटी। उसका लेखक उत्तर भारत का निवासी होने के कारण पेटिकाशीर्षक लिपि से परिचित नही था। उसने उक्त ताम्रपट का मुद्रा-लेख पेटिकाशीर्षक लिपि मे लिखना आरम्भ किया, किन्तु केवल 'वाकाटक' शब्द पेटिकाशीर्षक लिपि मे लिखकर उसने यह प्रयत्न छोड़ दिया तथा अवशिष्ट लेख कीलशीर्षक लिपि मे ही कोरा। इस प्रकार 'व' की त्रिकोणाकृति यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त नही है कि प्रस्तुत लेख पृथिवीषेण द्वितीय की अपेक्षा पूर्ववर्ती है। 'ज' और 'त' के रूपो के विषय मे भी यही कहा जा सकता है।

भाषा—प्रस्तुत दोनो लेख संस्कृत गद्य में हैं। लेखन की एकमात्र उल्लेखनीय विशेषता है २१ वें लेख की दूसरी पंक्ति में 'अनुध्यात' शब्द मे 'य' के पूर्व आने वाले 'ध्' का द्वित्व।

विषय—क्रमाक २० का लेख अपूर्ण है। उसकी प्रथम पंक्ति मे वाकाटक महाराज पृथिवीषेण का उल्लेख है, किन्तु उसके माण्डलिक व्याघ्रदेव का नाम अपूर्ण रह गया है। क्रमांक २१ के लेख मे इन दोनो के नाम आये हैं और व्याघ्रदेव द्वारा अपने माता-पिता के पुण्योपार्जन के निमित्त किसी कार्य[1] के लिये किये जाने का उल्लेख है। इन लेखो में काल-निर्देश नही है किन्तु पृथिवीषेण द्वितीय के समकालीन होने के कारण ये सन् ४७० और ४९० के मध्य कोरे गये होगे। प्रस्तुत लेखो का व्याघ्रदेव उच्चकल्पवंशी व्याघ्र से अभिन्न है। उसके वंशजो के लेख इसी प्रदेश में प्राप्त हुए है; अतः इसमें सशय नहीं वह इसी प्रदेश में राज्य करता था। व्याघ्र के पुत्र जयनाथ के गुप्त संवत् १७४ और १७७ के ताम्रपट प्राप्त हुए हैं। इससे अनुमान होता है कि उसने गुप्त सवत् १७० से १९० तक राज्य किया होगा। अतः उसके पिता व्याघ्र का राज्यकाल गुप्त संवत् १५० से १७० तक अथवा सन् ४७० से ४९० तक निश्चित होता है। यही काल वाकाटक सम्राट् पृथिवीषेण द्वितीय का भी है। अतः यह मानना अनुचित न होगा कि उच्चकल्पवंशी व्याघ्र उसका माण्डलिक था और उसी ने ये दोनो लेख उत्कीर्ण कराये थे।

१. जैसे, देवालय, कूप अथवा तड़ाग का निर्माण।

वाचन[1]

क्रमांक २०

पंक्ति

१ वाकाटकाणां(नां) महा[2]राजश्रि(श्री)पृथिविषेण···

२ ....[व्या]|घ्र ?|

क्रमांक २१

१ वाकाटकाणा(नां) महाराजश्रि(श्री)-

२ पृथिविषेणपादा[3]नुद्धथातो

३ व्याघ्रदेवो मातापित्रो[:*] पुन्या(ण्या)र्थे

४ कृतमिति[4][।*]

१. फ्लीट, कॉर्पस इन्स्क्रिप्शनम् इंडिकॅरम्, जि. ३, पृ. २३४ के सामने वाले छापों से।

२. पहले यह अक्षर छूट गया था। बाद में वह पंक्ति के नीचे कोरा गया है।

३. यह अक्षर भी पहले छूट गया था। बाद में वह पंक्ति के नीचे लिखा गया है।

४. पढ़िये 'कृतवानिति'।

२२. व्याघ्रदेव का गंज शिलालेख

उपलब्धि—यह लेख स्व. राखालदास बैनर्जी को सन् १९१९ में प्राप्त हुआ। डॉ. विष्णु सीताराम सुखटणकर ने छापे और अंगरेजी अनुवाद के साथ उसे एपिग्राफिया इंडिका, जि १७, पृ १२ इ. मे प्रकाशित किया। उसी छापे के आधार पर यहां उसका वाचन किया गया है।

वर्णन प्रस्तुत लेख भूतपूर्व अजयगढ़ राज्य में गंज ग्राम के समीप मलुहा टोंगी नामक टेकड़ी के निकट एक स्वतंत्र शिलाखण्ड पर उत्कीर्ण है। उसके पास ही प्रवाह का पानी रोक रखने के लिए बनाये गये एक बाध के अवशेष दृष्टिगत होते हैं। इस लेख का प्राप्तिस्थान कुठारा नामक ग्राम से दूर नहीं है जहा नचना लेख प्राप्त हुए थे।

प्रस्तुत लेख उपर्युक्त दो लेखो की अपेक्षा अच्छी स्थिति में है। इस लेख ने २ फुट १ इंच लंबा और १ फुट चौडा स्थान घेर रखा है। नचना के लेखो की भांति प्रस्तुत लेख के मध्य भाग में भी एक चक्र की आकृति बनी हुई है।

लिपि—प्रस्तुत लेख की लिपि पेटिकाशीर्षक प्रकार की है और अक्षरों का घुमाव पिछले दो लेखो के समान ही है। जैसा कि डॉ. सुखटणकर ने कहा है, अक्षरों के छोटे-बड़े आकार के होने के कारण वे उथड़-खाबड़ दिखाई देते हैं। लेखन की विशेषताएं पिछले दो लेखो के सदृश ही हैं।

विषय— यह लेख वाकाटक महाराज पृथिवीषेण के चरण-चिन्तक व्याघ्रदेव का है। यह व्याघ्रदेव पृथिवीषेण का माण्डलिक था। प्रस्तुत लेख का उद्देश्य इस बात का उल्लेख करता है कि व्याघ्रदेव ने अपने माता-पिता के पुण्योपार्जन के निमित्त कोई धार्मिक कृत्य किया था। यह कृत्य बहुधा निकट बहने वाले प्रवाह के बांध का निर्माण। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह व्याघ्रदेव उच्चकल्पवंशी व्याघ्र (सन् ४७०-४९०) था। उसका सम्राट् सहज ही वाकाटक महाराज पृथिवीषेण द्वितीय ही होना चाहिए।

वाचन[1]

पंक्ति

१ वाकाटकाणा(नां) महाराज[श्रि] (श्री)-

२ पृथिविषेणपादां दा)नुद्धयातो व्याघ्रदे-

३ वो मातापित्रो[:*] पुन्या(ण्या)र्थे कृतमिति[3] [।*]

१. एपिग्राफिया इंडिका, जि. १७, पृ. १२ के सामने के छापे से।
२. ऊपर का इकार स्पष्ट नहीं है।
३. पढ़िये 'कृतवानिति'।

वत्सगुल्म शाखा के अभिलेख

२३. द्वितीय विन्ध्यशक्ति का वाशीम ताम्रपट

उपलब्धि—यह ताम्रपट विदर्भ के अकोला जिले में वाशीम ग्राम में पण्डित वासुदेवशास्त्री धनागरे को प्राप्त हुआ। उसे डॉ० यशवन्त खुशाल देशपाडे व श्री. द. ब. महाजन ने सन् १९३९ में भरे भारतीय इतिहास परिषद् के तृतीय अधिवेशन के प्रतिवेदन (पृ. ४५९ इ.) में छापे के साथ प्रकाशित किया। बाद में श्री. महाजन और मैंने एपिग्राफिया इण्डिका मे नवीन छाप और अंगरेजी भाषान्तर के साथ संपादित किया। उसी छापे से यहाँ उसका वाचन दिया गया है। ताम्रपट इस समय वाशीम में धनागरे के संग्रह में है।

वर्णन—इस ताम्रपट के चार पत्र हैं, जिनकी लम्बाई ६·१ इंच और चौड़ाई ३·४ इंच है। प्रथम तथा चतुर्थ पत्र एक ओर तथा अन्य दो पत्र दोनो ओर उत्कीर्ण हैं। पत्रो के छोर मोटे नही किये गये हैं और न मोड़े ही गये है, तथापि लेख उत्तम स्थिति में हैं। प्रत्येक पत्र के बायी ओर के किनारे से १·२ इंच के अन्तर पर मध्य भाग में कड़े के लिये ·२५ इंच व्यास का छिद्र है। उसमें होकर जाते हुए कड़े में सब पत्र बँधे हैं, किन्तु कड़े पर मुद्रा नही है। सब पत्रो और कड़े का वजन ४७½ तोला है। लेख की कुल ३० पंक्तियो में से पत्रो के प्रत्येक ओर पांच-पांच पंक्तियां उत्कीर्ण हैं।

लिपि—इस लेख की पेटिकाशीर्षक लिपि सामान्यतः प्रवरसेन द्वितीय के ताम्रपटों के सदृश हैं। उसकी निम्ननिर्दिष्ट विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—व्यञ्जनयुक्त औकार द्विभागात्मक है, जैसे 'पौत्रस्य' (पं.३)। कहीं-कही 'ख' में गाँठ नहीं है, जैसे 'रक्खध' (पं. ३२)। अनेक स्थलो पर 'त और 'व' के चिह्नो में भेद नहीं है, जैसे 'वचनात्' (पं ५), 'हेमन्त' (पं. २८) और 'अनुमण्णति' (पं. २६)। सयुक्त व्यञ्जन के प्रथय अथवा द्वितीय अवयव रूप 'ण' के लिए एक ही चिह्न काम में लिया गया है, जैसे 'अहिरण्णधाण्ण' (पं. २०)। लेख की पंक्ति २८-२९ मे ३०, ७ व ४ इन संख्याओ के चिह्न प्रयुक्त हैं। इसी प्रकार कोरे हुए पत्रों की पहिली बाजू पर हाशिया में १ से ४ तक पत्रो के अनुक्रमसूचक संख्या चिह्न उत्कीर्ण हैं। उनमें से ४ का चिह्न उल्लेखनीय है, क्योकि उसमे 'क' के सिर पर नही, अपितु उसके नीचे आड़ी रेखा के दाहिने छोर पर वक्ररेखा जोड़ी गई है। अन्तिम स्वररहित व्यञ्जन लघु आकार से व्यक्त किया गया है और उसके ऊपर पेटिका नहीं कोरी गई; उदाहरण के लिए देखिये,

'वचनात्' (पं. ५)। विरामचिह्न के लिये अर्धचन्द्राकृति वक्ररेखा का उपयोग किया गया है, किन्तु अनेक स्थलों पर यह विरामचिह्न निरर्थक है।

भाषा—लेख का कुछ भाग संस्कृत मे और शेष प्राकृत मे है। प्रथम पांच पंक्तियों में राजवंश का वर्णन संस्कृत मे है। तदन्तर दानविषयक भाग प्राकृत में है और अन्त में हीरहडगल्ली ताम्रपट के समान मंगलवाक्य संस्कृत में है। पल्लव और बृहत्फलायन राजाओ के आरम्भिक ताम्रपटो की भाति प्रस्तुत ताम्रपट में भी अन्त मे शापाशीर्वादात्मक श्लोक नहीं दिये गये है। संस्कृत भाग की उल्लेखनीय बात यह है कि जहाँ अन्य तन्ताम्रपटो में वाकाटकों का गोत्र 'विष्णुवृद्ध' दिया गया है, वहाँ इस ताम्रपट में वह 'वृष्णिवृद्ध' दिया गया है। इनमे से प्रथम रूप ही गोत्रप्रवरग्रंथ में प्राप्त होता है, अतः वही शुद्ध है। इस लेख का प्राकृत भाग विशेष अभ्यसनीय है, क्योकि दक्षिण भारत मे जो थोड़े से दान-पत्र उपलब्ध हुए हैं, उनमें यह एक है। इस भाग मे भी संस्कृत शब्दों का मिश्रण है। उदाहरण के लिये देखिये, 'स्वस्तिशान्तिवाचने' (पं. ८-९) और 'सपञ्चमहाकरण' (पं २४) इत्यादि। प्राकृत भाग में दान दिये गये ग्रामो के मर्यादा परिहार के सूचक शब्द-समुच्चय पल्लवनरेश शिवस्कन्दवर्मन् के ताम्रपटो में भी प्राप्त होते है। किन्तु उनमें अनेक स्थलों पर संयुक्त व्यञ्जनो का उपयोग किया गया है, जैसे 'चातुवेज्जग्गाममज्जाता' (पं. १९)। कही कहीं संयुक्त व्यञ्जन के स्थान पर एक ही व्यंजन काम में लिया गया है, जैसे 'रेवतिजेसि' (पं. १८)। कुछ स्थलो पर इसकी भाषा प्राकृत व्याकरण-कारो के नियमानुसार नही है। उदाहरणार्थ, देखिये 'तिण्णा' (पं. १७)। वररुचि (६।५६) के नियमानुसार इसका रूप 'तिण्णि' होना चाहिए। अधोनिर्दिष्ट रूप भी उल्लेखनीय हैं—'तस्य' के अर्थ में 'से' (पं. १९); 'च' के अर्थ में 'य' (पं. ७, १९, २५, २६); 'एत्थङ्गामे' में सन्धि का अनुनासिक। प्रस्तुत दानपत्र महाराष्ट्र का होने के कारण उसमें माहाराष्ट्री का प्रयोग स्वाभाविक है। उदाहरण के लिए देखिए पंक्ति ९ में 'आपुणो' (शुद्ध रूप 'अप्पणो' के स्थान पर)। विशेषता यह है कि इसमें शौरसेनी के सदृश रूप प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ, तद्धित रूप 'आधिवणिणक' (पं. ९) और 'रक्खध' 'रखखापेध,' 'परिहरध' तथा परिहरापेध' ये क्रियापद के रूप द्रष्टव्य हैं। इनमे शौरसेनी के समान 'थ्' का 'ध्' हो गया है। इसी प्रकार देखिए 'दाणि' (पं. ८)। इसके विपरीत 'मज्जाता' (पं. ६) में पैशाची के समान 'द्' का 'त्' हो गया है। इससे स्पष्ट है कि प्राकृत भाषा सर्वत्र प्राकृत वैयाकरणों के नियमानुसार ही बोली और लिखी जाती रही हो, यह सत्य नही है।

ऐसे रूप, जिनके अन्त में चतुर्थ्यर्थ में 'सि' (कहीं कहीं 'सि') आता है, विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जैसे 'जिवुज्जेसि' (संस्कृत जीवायाय), 'रुद्जेसि'

(सं० रुद्रायाय) इत्यादि (पं. १०-१८)। प्राकृत वैयाकरणों के मतानुसार प्राकृत से चतुर्थी पूर्ण रूप से नष्ट हो गई है और उसका स्थान षष्ठी ने ले लिया है। प्राकृत में षष्ठ्यन्त रूपों के अन्त मे 'स्स' (अति प्राचीन लेखो में 'स') आता है और ऐसे ही रूप अन्य प्राकृत उत्कीर्ण लेखो मे दृष्टिगत होते हैं। चतुर्थी के 'सि' (अथवा 'सि') प्रत्ययान्त रूप लीलाचरित और ज्ञानेश्वरी जैसे प्राचीन मराठी ग्रन्थों में पाये जाते हैं।

लेखन की अधोनिर्दिष्ट विशेषताएं भी उल्लेखनीय हैं—'र्' के अनन्तर आनेवाले व्यञ्जन का द्वित्व (उदा. 'धर्म्मं,' पं. ४); 'ज्' के बदले 'य्' का उपयोग (उदा. 'करेञ्ज', पं. २६); अनुस्वार के स्थान पर परसवर्ण (उदा 'विन्ध्यशक्ते-', पं. ५; 'अचम्मङ्गालिक', पं. २२)।

विषय—अन्य पूर्ण दानपत्रों की भांति प्रस्तुत दानपत्र का आरम्भ भी 'दृष्टम्' शब्द से होता है। मङ्गलवाचक शब्द 'सिद्धम्' हीरहडगल्ली ताम्रपट की भांति हाशिये में लिखा गया है। प्रस्तुत लेख वाकाटक नृपति धर्ममहाराज विन्ध्यशक्ति के काल का है। इसका प्रयोजन विन्ध्यशक्ति द्वारा नान्दीकड के उत्तर मार्ग में ताकालक्खोप्पक ग्राम के समीप स्थित आकासपद्र ग्राम के दान में दिये जाने का उल्लेख है। दान प्राप्त करने बाले ब्राह्मण अथर्वचरणी अथवा अथर्ववेदी थे। इस वेद के दूसरे एक ब्राह्मण को तिरोडी ताम्रपट मिला था। इनमे से कुछ ब्राह्मणो के नाम 'आर्य' पदान्त हैं। दान दिये गये ग्राम की भूमि अथवा उपज के चार भाग करके उनमे से तीन भाग तेरह ब्राह्मणो को और चौथा भाग एक ब्राह्मण को दिया गया था। उपरिनिर्दिष्ट तेरह ब्राह्मणो के हिस्से भी समान नहीं थे। उनमें से नौ ब्राह्मणो को (प्रत्येक को) आधा हिसा और अन्य चार को दो हिस्से दिये गये थे।

काल—ताम्रपट की तिथि है ३७ वां शासनवर्ष, हेमन्त के प्रथम पक्ष का चौथा दिन। यह तिथि महत्त्व की है, क्योंकि वाकाटको के ताम्रपटो में ऋतु, पक्ष और दिवस मे कही गई एक ही और तिथि प्राप्त हुई है।[1] यह ताम्रपट सेनापति विष्णु ने लिखा था और वत्सगुल्म से दिया गया था।

चर्चा—प्रस्तुत ताम्रपट में विन्ध्यशक्ति की वंशावली इस प्रकार दी गई है—प्रवरसेन – उसका पुत्र सर्वसेन—उसका पुत्र विन्ध्यशक्ति. विन्ध्यशक्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उसने अग्निष्टोम, आप्तोर्याम, वाजपेय, ज्योतिष्टोम, बृहस्पतिसव, साद्यस्क्र, तथा चार अश्वमेध किये थे और 'हारीतीपुत्र' व 'धर्ममहाराज' ये बिरुद धारण

१. क्रमांक १० की तिथि देखिए।

किए थे। इन बिरूदों का प्रयोग केवल प्रस्तुत दानपत्र में वाकाटक नृपतियों के लिए किया गया है। वे कदम्बों के ताम्रपटों से लिए गए होंगे। प्रस्तुत ताम्रपट के प्राप्त होने के पूर्व केवल पुराणों में और अजंता की क्रमांक १६ की गुहा के लेख में वाकाटक वंश के मूल पुरुष के रूप में विन्ध्यशक्ति का उल्लेख ज्ञात था। इस कारण डॉ देशपांडे को लगा कि प्रस्तुत ताम्रपट उसी ने दिया था। इस आधार पर डॉ. देशपांडे का मत था कि यह ताम्रपट वाकाटकों की वंशावली को विन्ध्यशक्ति के दो पीढ़ी पूर्व तक ले जाता है। तदनन्तर डॉ. दिनेशचन्द्र सरकार ने यह मत व्यक्त किया कि प्रस्तुत ताम्रपट में राजवंशावली का वर्णन दोषपूर्ण है, क्योंकि उसमें विन्ध्यशक्ति के लिए 'धर्ममहाराज' की पदवी का तीन बार प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त अन्य ताम्रपटों में जिन यागों के प्रवरसेन प्रथम द्वारा किये जाने का उल्लेख है, अधिकांश में वे ही यज्ञ विन्ध्यशक्ति ने किए थे, यह भी मानना पड़ेगा। अतः तीसरी पंक्ति मे 'श्रीप्रवरसेनपौत्रस्य' और चौथी पंक्ति में 'श्रीसर्वसेनपुत्रस्य' को सापेक्ष समास मानकर उनका अर्थ क्रमशः 'श्रीप्रवरसेनस्य पौत्रस्य और 'श्रीसर्वसेनस्य पुत्रस्य' करना चाहिए। ऐसा करने पर उसके पहिले के षष्ठ्यन्त विशेषणों और 'धर्ममहाराजस्य' इस बिरूद को 'श्रीप्रवरसेनस्य' और 'श्रीसर्वसेनस्य' इन विशेष्यों के साथ जोड़ा जा सकता है। ऐसा अन्वय करने पर यह अर्थ होगा कि प्रवरसेन, सर्वसेन और विन्ध्यशक्ति इन तीनो ने 'धर्ममहाराज' को पदवी धारण की थी और इसके फलस्वरूप पुनरुक्ति नही के बराबर रह जायगी। इसी प्रकार आरम्भिक समास 'अग्निष्टोमाप्तोर्याम···चतुरश्वमेधयाजिनः' और 'सम्राजः' पद 'श्रीप्रवरसेनस्य' के साथ अन्वित होगा और इस प्रकार यह स्पष्ट हो जायगा कि इन यज्ञो को करने वाला तथा 'सम्राट्' की पदवी धारण करनेवाला वाकाटक नृपति प्रवरसेन है, विन्ध्यशक्ति नही। यह अर्थ इतर वाकाटक ताम्रपटो के विधान से सुसंगत है।

इस प्रकार प्रस्तुत ताम्रपट की वंशावली के आरम्भ में उल्लिखित राजा प्रवरसेन प्रथम है। पुराणों से ज्ञात होता है कि वह विन्ध्यशक्ति का पुत्र था। अतः जिसने प्रस्तुत ताम्रपट दिया था वह विन्ध्यशक्ति द्वितीय माना जाना चाहिए। वह प्रथम विन्ध्यशक्ति का प्रपौत्र होता है। अतः प्रस्तुत ताम्रपट की वंशावली इस प्रकार दी जा सकती है—

प्रथम प्रवरसेन
|
पुत्र
सर्वसेन
|
पुत्र
द्वितीय विन्ध्यशक्ति

यह वाकाटक वंश की दूसरी शाखा है, क्योंकि प्रवरसेन द्वितीय और पृथिवीषेण द्वितीय के ताम्रपटो के अनुसार प्रथम शाखा में प्रवरसेन प्रथम के पश्चात् उसका पौत्र तथा गौतमीपुत्र का पुत्र रुद्रसेन प्रथम गद्दी पर बैठा था।

उपरिनिर्दिष्ट राजाओं के नाम अजंता की सोलहवी गुहा के लेख में भी पाये जाते हैं, किन्तु उस लेख के अत्यन्त अस्पष्ट हो जाने के कारण उनके नाम डॉ. भाऊ दाजी, पं० भगवानलाल इन्द्रजी व डॉ. बुल्हर के पढने में नहीं आये थे। उन्हें भी मैंने अब पढ़ लिया है[1]।

स्थलनिश्चय—प्रस्तुत ताम्रपट में उल्लिखित स्थलनामों में से वत्सगुल्म इस शाखा की राजधानी था। यह नगर इस ताम्रपट के प्राप्तिस्थान वाशीम से अभिन्न है। वत्सगुल्म नाम की उत्पत्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से दी जाती है। वात्स्यायन-प्रणीत कामसूत्र की टीका में कहा गया है कि वत्स और गुल्म ये दो सगे भाई दक्षिणापथ के राजपुत्र थे। उन्होने जो देश बसाया उसका नाम वात्सगुल्मक पड़ा। 'वत्सगुल्ममाहात्म्य मे एक दुसरी ही व्युत्पत्ति दी गई है। उसके अनुसार वत्स नामक एक ऋषि ने अपनी उग्र तपश्चर्या से देवो के गुल्म अर्थात् समूह को स्वर्ग से नीचे आकर अपने आश्रम के आसपास वास करने के लिए बाध्य किया जिससे इस प्रदेश का नाम वत्सगुल्म पड गया। ये दोनो व्युत्पत्तिया सहज ही काल्पनिक हैं। वात्स्यायन कामसूत्र मे वात्सगुल्मक देश का तथा उसके कुछ विशिष्ट रीति-रिवाजों का उल्लेख है। राजशेखरने भी वत्सगुल्म का उल्लेख अपनी 'कर्पूरमञ्जरी' और 'काव्य-मीमांसा' मे किया है। नान्दीकड एक विषय या जिले का मुख्य स्थान था। वह हैदराबाद राज्य मे स्थित वर्तमान नान्देड है। ताकालक्खोप्पक और उसके समीप स्थित आकासपद्द कहाँ थे, निश्चित रूप मे नही कहा जा सकता। नान्देड-वाशीम मार्गपर ताकलीगोहन व ताकली नामक दो ग्राम नान्देड से क्रमशः ४० व ४५ मील पर मानचित्र मे दिखायी देते है। उनमे से एक प्राचीन ताकालक्खोप्पक रहा होगा। ताकलीगोहन के ७ मील पश्चिम में आसुंड नामक ग्राम है। कदाचित् वह प्राचीन आकासपद्द हो। नान्दीकड और नान्देड की एकता में सन्देह न होने के कारण यह स्पष्ट है कि दक्षिण विदर्भ व हैदराबाद प्रदेश का उत्तर भाग इस शाखा के अधिकार मे था।

१. लेख क्रमांक २५ की चर्चा देखिए।

वाचन[1]

पंक्ति

प्रथमपत्र

१ सिद्धम्[2] [।*] दृष्टम् [।*] वस्सगुल्माद्धर्ममहाराजस्याग्निष्टोमाप्तोर्य्या-
मवाजपेयज्योति-

२ ष्टोमबृहस्पतिसवसाद्यस्क(स्क्र)चतुरश्वमेधयाजिनस्सम्राज(जो) वृ-

३ ष्णिवृद्ध[3]सगोत्रस्य हारितीपुत्रस्य श्रीप्रवरसेनपौत्रस्य[4]

४ धर्म्ममहाराजस्य श्रीसर्व्वसेनपुत्रस्य[5] धर्म्ममहाराजस्य

५ [6]वाकाटकानां ।[7] श्रि(श्री)विन्ध्यशक्तेर्व्वचनात् [।*] नान्दीकडस
[8]उत्तरमग्गे

द्वितीय पत्र : पहिली बाजू

३ ताकालक्खोप्पकाब्भासे आकासपद्देसु अम्हसन्तका साव्यायोगणि-

७ युत्ता आणत्ति[9]भडा सेसा य साञ्चरन्तर(कु)लपुत्ता[10] भाणितव्वा[।*]
आम्हेहिं ।

१. एपिग्राफिया इंडिका, जि. २३, पृ. १५० और १५१ के सामने दिये गये छापेपर से ।
२. यह अक्षर हाशिया में तीसरी पंक्ति के बाजू में लिखा है ।
३. इतर ताम्रपटों की भांति 'विष्णुवृद्ध' पढ़िये ।
४. पढ़िये 'श्रीप्रवरसेनस्य पौत्रस्य' ।
५. पढ़िये 'श्रीसर्व्वसेनस्य पुत्रस्य' ।
६. इस पंक्ति के बाजू में हाशिया में १ का चिह्न है जो पत्र के क्रमांक का सूचक है ।
७ यह विरामचिह्न निरर्थक है ।
८. कोरनेवाले ने पहले 'दा' कोरा था । बाद में उसने उसका 'उ' बनाया है ।
९. आणत्ति (संस्कृत आज्ञप्ति) को अन्यत्र दूतक कहा गया है । इसपर राजाज्ञा को कार्यान्वित करने का दायित्व था ।
१०. संस्कृत में निबद्ध ताम्रपटों में 'आज्ञासञ्चारिकुलपुत्रा' शब्द पाया जाता है । द्रष्टव्य-क्रमांक ३, पं. २१ ।

८ [1]दाणि[2] आपुणो[3] विजयवेजयिके आयुबलवद्धणिके[4] स्वस्ति-
९ शान्तिवाचने[5] इहामुत्तिके धामत्थाणे एत्थङ्गामे आधिव्वणिक[6]चर-
१० णस्स आद्धक[7]। भालन्दायणसगोत्तेसि जिवुज्जेसि[7]। कपिञ्जल-

द्वितीय पत्र : दूसरी बाजू

११ सगोत्तेसि[8]। रुद्दजेसि। श्राविष्ठायणसगो[9]त्तेसि। भाट्टिदेवज्जेसि।
१२ कोसि[क]सगोत्तेसि। देअजेसि। कोसिकसगोत्तेसि। वेण्हुज्जेसि।
१३ कोसी(सि)कसगोत्तेसि। विधिज्जेसि। पैप्पलादिसगोत्तेसि। पितु-

१. समास में इस पंक्ति के समान्तर पर २ का चिह्न उत्कीर्ण है जो इस पत्र के क्रमांक का सूचक है।

२. हेमचन्द्र के व्याकरण (८।१।२९; ४।२७७) में 'दाणि' और 'दाणिं' ये शौरसेनी के दोनों रूप दिये गये हैं।
हीरहडगल्ली ताम्रपट में 'दाणि' रूप आया है। द्रष्टव्य ए. इं., जि १, पृ ५।

३ प्राकृत व्याकरणकारो के अनुसार महाराष्ट्री में इसका शुद्ध रूप 'अप्पणो' है। द्रष्टव्य-वररुचि ५।४६ (भामहकृत टीका) तथा हेमचन्द्र, ८।३।५६।

४ हुल्श के कथनानुसार मयिदवोलु ताम्रपट में पाये जानेवाले इसके सदृश पदसमुच्चय मागधी प्राकृत मे प्रथमा के रूप हैं। किन्तु उन्हे हेत्वर्थ सप्तमी एकवचन रूप मानना अधिक उपयुक्त है। हीरहडगल्ली और ब्रिटिश संग्रहालय ताम्रपटो मे 'वद्धनीयं' अथवा 'वद्धनीये' के अनन्तर 'कातूण' अथवा 'कातूणं शब्द पाया जाता है।

५. इस प्रकार का पदसमुच्चय संस्कृत ताम्रपटो में प्राप्त नहीं होता। उसके स्थान पर 'आत्मानुग्रहाय' पद आता है।

६. २५-२६ पंक्तियो मे 'रुखध', 'रुखापेध', 'परिहरध' तथा 'परिहरापेध' रूपो मे 'थ्' के स्थान पर 'ध्' का प्रयोग शौरसेनी का गमक है।

७. पंक्ति १०-१८ के विरामचिह्न निरर्थक हैं।

८. 'सि' के ऊपर का अनुस्वार अस्पष्ट है।

९. 'श्राविष्ठ' अथवा 'श्राविष्ठायन' गोत्र 'गोत्रप्रवरनिबन्धकदम्ब' में नहीं मिलता, किन्तु सांगोली ताम्रपट (ए. इ., जि. १४, पृ. १६७) में कतिपय श्राविष्ठगोत्री ब्राह्मणो का उल्लेख आया है जो प्रस्तुत ताम्रपट के ब्राह्मणो की भांति अथर्ववेदी थे। इन ब्राह्मणो का उल्लेख काशिका (३।२।१३५) मे आया है।

१४ जेसि भालन्दायणसगोतेसि। चान्दजेसि कोसिकसगोन्ते(त्ते)सि जेट्ठजे—

१५ सि। पदे(टे)हि दोहि भालन्दायणसगोत्तेसि बुद्धजेसि कोसिकसगोत्तेसि।

तृतीय पत्र : पहिली बाजू

१६ भाहिलज्जेसि। कोसिकसगोत्तेसि। सिवज्जेसि। कोसिकगोत्तेसि।

१७ हरिण्णजेसित्ति एताण ब्राह्मणाण[1] भागा तिण्णा[2] ३ कोसिक-सगोत्तेसि।

१८ रेवतिजेसि[3]। भागो १ चउत्थोति आचन्दादिच्चकालको अपुव्वद—

१९ त्तीय दत्तो। पुव्वरायाणुमते य से[4] चातुवेज्जगाममज्जाता-परिहारे वित—

२० राम।[6] तं जथा अरट्ठसंव्विणयिक। अलवणकेण्णक्खनक।[7] अहिरण्णधाण्ण—

तृतीय पत्र : दूसरी बाजू

२१ प्पणयप्पदेय। अपुप्फक्खिरग्गहण[8]। अपरम्परगोबलिवर्द [।]

१. हरिहडगल्ली ताम्रपट (पं. २७) में 'एतेसि बम्हणाण' शब्द हैं।
२. शुद्ध रूप तीनो लिङ्गो में 'तिण्णि' है। देखिये वररुचि, ४।५ ६।
३. समास में इस पंक्ति के समान्तर पर ३ का चिह्न उत्कीर्ण है जो पत्र की संख्या का निदर्शक है।
४. वह 'तद्' का षष्ठी एकवचन रूप है।
५. ऐसा शब्दरूप, जिसमे 'द्' के स्थान पर 'त्' लिखा गया है हरिहड-गल्ली ताम्रपट में भी प्राप्त होता है। प्राकृत व्याकरणकारों के अनुसार यह परिवर्तन पैशाची प्राकृत का निदर्शक है।
६. पं. २०-२७ के विरामचिह्न निरर्थक हैं।
७. 'केण्ण' और संस्कृत दान पत्रो का 'किण्ण' एक प्रतीत होते हैं। द्रष्टव्य—क्रमांक ६, पं. २८।
८. 'ण' के ऊपर का अर्धवृत्त मिटाया हुआ दिखाई देता है।

२२ अचारमिद्धिक। अचंम्मङ्गालिक। अभडप्पावेस। अखट्टा-
चोल्लकवेणे—

२३ सिक। अकरद। अवह। सणिधि। सोपणिधि। सकुतुप्पन्त[2]।

२४ समञ्चमहाकरण। साव्वजातिपरिहारपरिहितञ्च[।*] जतो उपरिलि—

२५ खित। शासणवादम्पमाणं[3] करेत्ता रक्खध रक्खापेध य परिहरध

चतुर्थ पत्र

२६ परिहरापेध य [।*] जो वु आबाधं करेज्ज कतव्व अनुमण्णति[4]।

२७ तिस्स[5] एतेहि। उपरिलिखितेहि। ब्राह्मणेहि। परिकुपिते स[6]द[ण्ड-

२८ निग्रह[7] करेज्जामेत्ति [।] साव्वच्छरं ३० ७ हेमन्ता[न्त पक्खं पढमं।

२९ [दि]व[स] ४ समुपासत्थि[8] लिखितमिमं शास[नं] सेणापतिणा।

३० वण्हुग[9] इति ॥ सिद्धिरस्तु ॥—॥[10]

१. प्रतीत होता है कि कोरनेवाले ने पहले 'द' खोदकर बाद मे उसका 'च' बनाया है।
२. यह तथा संस्कृत दानपत्रों का 'सक्लृप्तोपक्लृप्त' एक ही प्रतीत होते है।
३. इन अक्षरो के वाचन में डॉ. छाबड़ा से सहायता मिली है।
४. इस शब्दो मे 'म' के अनन्तर एक अक्षर मिटाया गया है।
५. पढ़िये 'तस्स'।
६. पढ़िये 'परिकुपितेहि वेदितस्स'।
७. समास मे इस पंक्ति के समानान्तर पर ४ का चिह्न उत्कीर्ण है जो इस पत्र के क्रमाक का सूचक है।
८. इस शब्द के अन्तिम तीन अक्षर पहले के अक्षरो को मिटा कर उनके स्थान पर लिखे गये हैं।
९. पढ़िये 'वण्हुणा'।
१०. इन दो दण्डो के मध्य मे एक पुष्पाकृति खुदी है।

२४ देवसेन का इंडिया ऑफिस ताम्रपट

उपलब्धि—यह ताम्रपट लंदन के इंडिया ऑफिस में है, किन्तु वह वहां कब और किस प्रकार गया, ज्ञात नहीं है। वह कहां प्राप्त हुआ था, यह भी ज्ञात नहीं है। डॉ. रैंडल ने उसे छापे के साथ न्यू इण्डियन् अँटिक्वेरी, जि. २, पृ. १७७ इ. में प्रकाशित किया। तदनन्तर मैंने इस ताम्रपट के विषय में एक टिप्पणी उसी पत्र में (जि. २, पृ. ७२१ इ.) प्रकाशित की। उक्त छापे के आधार पर ही यहां उसका वाचन किया गया है।

वर्णन—यह पत्र एक ऐसे ताम्रपट का एक पत्र है जिसके अन्य पत्र खो गये हैं। यह ९$\frac{3}{4}$ लंबा और २$\frac{1}{2}$ इंच चौड़ा है और उसका वजन २५ तोला है; किन्तु कड़े के लिए किये हुए छिद्र के पास का बायीं ओर का कुछ भाग मोड़कर गायब हो गये जाने के कारण प्रतीत होता है कि उसका वजन और लंबाई इससे अधिक रही होगी। इस पत्र के साबुत छोर वर्तुल किये गये हैं। उसकी किनोरें मोड़ी अथवा मोटी नही की गई हैं, तथापि लेख उत्तम स्थिति में है। लेख कुल तीन पंक्तियो का है। ताम्रपट का प्रथम पत्र होने के कारण प्रस्तुत पत्र केवल एक ओर कोरा गया है। लेख अपूर्ण है।

लिपि—यह लेख पेटिकाशीर्षक लिपि में है जो प्रवरसेन द्वितीय के अन्य ताम्रपटो के सदृश है। इसकी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि 'क', 'र' तथा संयुक्त व्यञ्जनों मे द्वितीय व्यञ्जन 'य्' की वक्ररेखा प्रवरसेन द्वितीय के अन्य लेखो की अपेक्षा अधिक ऊपर लाई गई है। 'त' और 'न' के चिह्नों में विशेष भेद नहीं है।

भाषा—भाषा संस्कृत है और लेख का अवशिष्ट भाग गद्य में है। कुछ स्थलो पर प्राकृत भाषा का प्रभाव दृष्टिगत होता है। उदाहरण के लिए देखिये 'संचरन्तक' (पं. २) और 'यप्पजस्स' (पं. ३)। लेखन की एकमात्र उल्लेख्य विशेषता है 'र्' के उत्तरवर्ती व्यञ्जन का द्वित्व। उदाहरणार्थ, 'मार्ग्ग' (पं. १) और 'धर्म्म' (पं. ३) द्रष्टव्य हैं।

विषय—प्रस्तुत ताम्रपट वाकाटक महाराज देवसेन मे वत्सगुल्म से दिया था। उसका उद्देश्य इस बात का उल्लेख करना है कि देवसेन ने नाङ्गरकटक के उत्तर मार्ग में स्थित एक ग्राम (कदाचित् प. ३ में उल्लिखित यप्पज्ज) शाण्डिल्यगोत्री ब्राह्मण धर्मस्वामी और भवस्वामी को दान में दिया था। यह राजाज्ञा उस प्रदेश में दौरा करने वाले (संचरन्तक) राजसेवक, भट, भोजक और दण्डनायक को

सम्बोधित है। इस पत्र पर उत्कीर्ण लेख के अपूर्ण रह जाने के कारण दान में दिये गये ग्राम के परिहार, भावी राजाओ को सम्बोधित दान के संरक्षण के विषय में प्रार्थना, शासन-वर्ष और लेखक व दूतक के नाम नष्ट हो गये हैं।

चर्चा—वाकाटको के अधिकांश पूर्ण दानपत्रों के आरम्भ में दृष्टम्' शब्द पाया जाता है, किन्तु वह प्रस्तुत लेख में दृष्टिगत नहीं होता। इसके अतिरिक्त अन्य दानपत्र वंशावली से आरम्भ होते हैं, किन्तु यह बात इस ताम्रपट के विषय में लागू नहीं होती। इससे व्याकरण की भी अनेक त्रुटियां हैं। अतः रँडल का अनुमान है कि लेखक अथवा कोरनेवाले की ऐसी अनेक त्रुटियो के कारण यह दानपत्र पूर्ण होने के पूर्व ही अस्वीकार्य ठहरा किया गया होगा। किन्तु यह अनुमान समीचीन प्रतीत नहीं होता। यह सत्य है कि वाकाटकों के ताम्रपटों के आरम्भ में बहुधा 'दृष्टम्' शब्द आता है किन्तु वह सब लेखो में प्राप्त नहीं होता। उदाहरणार्थ, प्रभावतीगुप्ता के ऋद्धपुर ताम्रपट में वह दृष्टिगत नहीं होता। यह भी असम्भव नही है कि वत्सगुल्म शाखा के अन्तिम नृपतियो ने किसी कारणवश अपने दानपत्रो का संक्षेप किया हो। सर्वसेनोत्तर अन्य नृपतियों के ताम्रपटो के अद्यावधि प्राप्त न होने के कारण इस विषय में निश्चित रूप से कुछ भी कहना सम्भव नहीं। व्याकरण-विषयक अशुद्धियां तो इसकी अपेक्षा भी अधिक परिमाण में कई प्रामाणिक ताम्रपटों मे प्राप्त होती हैं। अत प्रस्तुत ताम्रपट को अप्रामाणिक अथवा जाली मानना उचित नही है। देवसेन के काल का एकमात्र ताम्रपट होने के कारण इसका विशेष महत्त्व है। किंबहुना, वत्सगुल्म वाकाटको की राजधानी थी, यह बात सर्वप्रथम इसी ताम्रपट से ज्ञात हुई। बाद में विन्ध्यशक्ति द्वितीय के वाशीम ताम्रपट से इसकी पुष्टि हुई।

स्थल-निश्चय—प्रस्तुत ताम्रपट में उल्लिखित स्थल नामो मे से वात्स्यगुल्म वत्सगुल्म से भिन्न नही है। वह अकोला जिले मे स्थित वर्तमान वाशीम है। नाङ्करकटक एक जिले का नाम प्रतीत होता है। यदि यह मान लिया जाय कि नाङ्कर 'माङ्कर' के स्थान पर गलती मे लिखने मे आ गया है तो अकोला जिले का मंगरूल (प्राचीन माङ्करपुर) उसका मुख्य ग्राम माना जा सकता है। यह ग्राम वाशीम के ईशान मे लगभग २५ मील पर है। यह ग्राम प्राचीन होना चाहिये, क्योकि इसके निकट डेढ़ हजार से भी अधिक सातवाहन मुद्राओं का संचय कुछ वर्ष पूर्व प्राप्त हुआ था। दान मे दिये गये ग्राम का नाम यप्पज्ज होना संभव है, किन्तु इस प्रकार का ग्राम आसपास दृष्टिगत नही होता।

वाचन[1]

पंक्ति

१ स्वस्ति [।*] वात्स्यगुल्मात् [।*] वाकाटकानाम्महाराज [श्री] देवसेनस्य वचना[त्*] उत्तरमार्ग्गे (र्ग्गे)

२ नाङ्गरकटके अस्मत्सन्तर(क)भटभोजकदण्डनायकाद्याः सचरन्तक[2]-कुलप्रका (पुत्रका)

३ वक्तव्य(व्या) यथैव(षो)स्माभिभा(र्या)मः श(शा)ण्डिल्यसगोत्रस्य धर्म्मस्व(स्वा)मिन(नो) भवस्व(स्वा)मिन(नो)[3] यप्पज्जस्स[4]

१. न्यू इण्डियन ऑन्टिक्वरी, जि. २, पृ. १८० के सामनेवाले छापे से।
२. पढ़िये 'सञ्चरन्तः'।
३. कदाचित् 'शाण्डिल्यसगोत्राय धर्म्मस्वामिने भवस्वामिने च' विवक्षित है।
४. यह प्राकृत शब्द प्रतीत होता है। कदाचित् यह दान में दिया गया ग्राम हो।

वत्सगुल्म शाखा के अमात्यों और माण्डलिकों के अभिलेख

२५. वराहदेव का अजन्ता गुहा लेख

उपलब्धि—इस लेख का पता डॉ भाऊ दाजी ने लगाया। उन्होंने उसकी यथादृष्ट प्रति, वाचन और अंगरेजी अनुवाद रॉयल एशियाटिक सोसायटी की बम्बई शाखा की पत्रिका, जि. ७ (१८६२), पृ. ७६ इ. में प्रकाशित किया। उन्हें उसमें विन्ध्यशक्ति, प्रवरसेन और देवसेन ये राजनाम तथा हस्तिभोज और वराहदेव ये दो अमात्य-नाम प्राप्त हुए। उन्होंने प्रतिपादित किया कि इन राजनामों में से प्रथम दो पुराणों और सिवनी ताम्रपट में पहिले से ही ज्ञात वाकाटक नृपतियों के हैं। तदनन्तर यह लेख प्रास्ताविक सूचना और अंगरेजी भाषान्तर सहित पं. भगवानलाल इन्द्रजी ने 'पश्चिम भारतीय गुहाओं के उत्कीर्ण लेख' (१८८१, पृ. ६९ इ.) नामक अंगरेजी ग्रन्थ में प्रकाशित किया। उन्हें इस लेख में निम्नलिखित वाकाटक नृपतियों का उल्लेख मिला—विन्ध्यशक्ति, प्रवरसेन; [रुद्र सेन, (एक राजनाम नष्ट), देवसेन और हरिषेण। पं. भगवानलाल का वाचन सदा की भाँति अत्यन्त कुशलतापूर्वक किया गया है और वह डॉ भाऊ दाजी के वाचन की अपेक्षा अच्छा है। तदनन्तर यह लेख डॉ बुल्हर ने छाप और अंगरेजी अनुवाद के साथ आर्किऑलॉजिकल सर्व्हे ऑफ वेस्टर्न इंडिया, जि. ४(१८८३) (पृ. १२४ इ. और फलक ६७) में प्रकाशित किया। यह छापा पं भगवानलाल द्वारा लिये गये छापों के आधार पर तैयार किया गया था, किन्तु प्रतीत होता है कि बाद में अक्षर स्पष्ट दिखायी दें इस उद्देश्य से हाथ से कुछ अदलबदल की गई है। डॉ. बुल्हर का वाचन पं. भगवानलाल के वाचन से अधिक भिन्न नहीं है, किन्तु राजवंशावली में [रुद्र]-सेन के अनन्तर पृथिवीषेण और (द्वितीय) प्रवरसेन ये दो और नाम उनके पढ़ने में आये हैं। इस लेख की ऐतिहासिक सामग्री के विषय में सन् १९४० में भारतीय इतिहास परिषद् के लाहोर अधिवेशन में मैंने एक निबन्ध पढ़ा था, जो उस अधिवेशन के प्रतिवेदन में प्रकाशित हुआ है। इसके पश्चात् गव्हर्नमेंट एपिग्राफिस्ट फॉर इण्डिया से प्राप्त छापे के आधार पर मैंने यह लेख हैदराबाद आर्किऑलॉजिकल सीरीज, क्रमांक १४ (१९४१) में छाप और अंगरेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित किया।[1] उसी छाप के आधार पर यहाँ उसका वाचन किया गया है।

१ इस लेख की छाप एपिग्राफिया इंडिका, जि. २६, पृ १४३ के सामने भी प्रकाशित हुई है।

वर्णन—प्रस्तुत लेख अजन्ता की सोलहवीं गुहा में बरामदे के एक कोने में बायीं ओर की दीवार पर उत्कीर्ण है। वह धूप और वर्षा के कारण विशेषतः प्रथम आठ पंक्तियों के मध्यभाग में और बायीं ओर ऊपर से नीचे तक अत्यन्त अस्पष्ट हो गया है। इसके अतिरिक्त बायी ओर के निचले कोने में अन्तिम दो पंक्तियों में से प्रत्येक में लगभग बारह, तथा २५ वी और २६ वीं पंक्तियो के मध्यभाग में दो और अक्षर भीत का टुकड़ा निकल जाने के कारण नष्ट हो गये हैं।

इस लेख ने ४ फुट चौड़ा और ३ फुट, ६ इंच ऊँचा स्थान घेर रखा है। इसमें कुल २७ पंक्तिया हैं। अक्षर सुन्दर रीति से लिखे और सावधानीपूर्वक कोरे गये हैं।

लिपि—अक्षर पेटिकाशीर्षक प्रकार के हैं और उनके ऊपर की पेटिकाएं देवटेक शिलालेख की भांति पूर्ण रूप से खोदी गई हैं। लिपि को निम्ननिर्दिष्ट विशेषताएं उल्लेखनीय हैं—व्यञ्जन-रहित 'ऊ' का दीर्घत्व शिरोभाग की खड़ी रेखा के नीचे और एक वक्र रेखा काढ़ कर व्यक्त किया गया है (उदाहरणार्थ देखिये 'ऊर्ध्व–,' पं. १७)। व्यञ्जन-युक्त (दीर्घ) 'ई' बायीं ओर घूमी हुई कुञ्चित वक्र रेखा के द्वारा दिखाया गया है (उदाहरण के लिए देखिये 'उदीरणं–,' प १)। व्यञ्जनयुक्त औकार द्विभागात्मक है। उदाहरणार्थ, पं. १६ में 'क्षमौदार्य–' शब्द द्रष्टव्य है। 'य' त्रिभागात्मक है। 'ल' अक्षर के दायीं ओर ऊँचा दण्ड है, किन्तु कुछ स्थलो पर उसका आकार छोटा हो गया है (उदाहरणार्थ देखिए, 'लाटा–', पं. १४)।

भाषा—इस लेख की भाषा संस्कृत है तथा सम्पूर्ण लेख पद्य में है। कुल बत्तीस श्लोक हैं। लेखन की उल्लेखनीय विशेषताएं हैं 'र्' के पश्चात् आनेवाले व्यञ्जन का द्वित्व (उदा. 'निर्व्वापण', पं. १) तथा अनुस्वार के स्थान पर 'ङ्' का उपयोग (उदा. 'वङ्श', पं. ३)। उपध्मानीय का चिह्न पं २ और १० में तथा जिह्वामूलीय का चिह्न पं. १० में आया है।

विषय—यह लेख वाकाटक नृपति हरिषेण के अमात्य वराहदेव का है। इसका प्रयोजन इस बात का उल्लेख करना है कि वराहदेव ने स्तम्भ, चित्रावलि और मूर्तियों से अलङ्कृत वेश्म (गुहा) बौद्ध संघ को दान दिया। इस लेख में तिथि नहीं दी गई है, किन्तु वराहदेव हरिषेण (ई. सन् ४७५-५००) का अमात्य था; अतः प्रस्तुत लेख का काल ईसा की पांचवी शताब्दी का अन्त मानना अनुचित न होगा। फर्ग्यूसन और बर्जेस ने भी गुहा की स्थापत्यशैली के आधार पर उसका काल सन् ५०० के आसपास निश्चित किया है।

प्रस्तुत लेख के दो भाग हैं। प्रथम भाग में आरम्भ के बीस श्लोक हैं। उनमें तत्कालीन वाकाटक नृपति हरिषेण की वंशावली दी गई है तथा आनुषंगिक

रूप से देवसेन और हरिषेण के अमात्य हस्तिभोज और वराहदेव का भी वर्णन किया गया है। द्वितीय भाग में वर्णन है कि वराहदेव ने चैत्य मन्दिर और मण्डपरत्न (विहार) से युक्त गुहा खुदवा कर बौद्ध संघ को अर्पित की।

चर्चा—इस लेख का प्रथम भाग महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उसमें वाकाटक नृपतियों की वंशावली उस वंश के मूल पुरुष विन्ध्यशक्ति से आरम्भ कर हरिषेण पर्यन्त दी गई है। उसमें कहा गया है कि विन्ध्यशक्ति द्विज था तथा अनेक युद्धों मे विजय प्राप्त कर उसने अपना सामर्थ्य बढ़ाया था। इसके अनन्तर वर्णन है कि विरोधी नृपतियो के किरीटो में जड़े हुए रत्नो के किरण विन्ध्यशक्ति के पुत्र (प्रथम) प्रवरसेन के पदकमलो का चुम्बन करते थे।

प्रथम प्रवरसेन के अनन्तर उसके पुत्र का वर्णन सातवें श्लोक में किया गया था, किन्तु इस भाग के अस्पष्ट हो जाने के कारण उसके नाम का केवल अन्तिम भाग 'सेन' अवशिष्ट रह गया है। पं. भगवानलाल ने सर्वप्रथम यह नाम पढ़ा। उन्हें 'सेन' के पूर्व 'द्र' जैसे अक्षर के अवशेष दिखाई पड़े जिस पर से उन्होने यह अनुमान किया कि वह नाम भद्रसेन, चन्द्रसेन, इन्द्रसेन अथवा रुद्रसेन होना चाहिए। इन नामो में से उन्होंने रुद्रसेन नाम लेख के वाचन में दिया है। इसका कारण सम्भवतः यह था कि इस लेख के पूर्व प्रकाशित सिवनी और चम्मक ताम्रपटो में प्रवरसेन प्रथम के पश्चात् रुद्रसेन प्रथम का नाम आया था। तदनन्तर डॉ. बुल्हर ने भी अपने वाचन में यही नाम दिया है। किन्तु इस सम्बन्ध मे यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि उपरनिर्दिष्ट ताम्रपटो के कथनानुसार रुद्रसेन प्रथम प्रवरसेन का पौत्र था। इसके विपरीत प्रस्तुत लेख के अनुसार प्रवरसेन के अनन्तर उसका पुत्र गद्दी पर बैठा। इस सम्बन्ध में दो विकल्प सम्भव हैं—लेखक ने सम्बन्ध-निर्देश में प्रमाद किया है अथवा भगवानलाल और बुल्हर का वाचन त्रुटिपूर्ण है। इनमें से प्रथम विकल्प असम्भव है, क्योंकि यह लेख वाकाटक नृपति हरिषेण के अमात्य ने उत्कीर्ण कराया था और सावधानीपूर्वक लिखा हुआ प्रतीत होता है। किन्तु प्रस्तुत राज-नाम जहां आये हैं उस भाग के अत्यन्त अस्पष्ट हो जाने के कारण वाचन में त्रुटि होना सम्भव है। भगवानलाल और बुल्हर ने जिस छाप से वाचन किया था उसका ध्यान से निरीक्षण करने पर प्रतीत होता है संयुक्त अक्षर 'द्र' मे से ऊपर का 'द्' व्यञ्जन पूर्णतः नष्ट हो गया है। उसके नीचे एक ग्रन्थि दृष्टिगत होती है जिसे 'र' पढ़ा गया है; किन्तु यह समीचीन प्रतीत नही होता। इस लेख मे अधोलिखित 'र्' के अनेक उदाहरण हैं, किन्तु उनमें से एक भी ग्रन्थिरूप में दृष्टिगत नही होता। उसकी आकृति सर्वत्र चन्द्र-सदृश है। मुझे मिली हुई नयी छाप में तो यह ग्रन्थि दिखाई ही नही पड़ती। इसके पहले का 'रु' अक्षर तो पूर्णतः नष्ट हो गया है। यह

भगवानलाल और बुल्हर दोनो ने स्वीकार किया है। अतः 'रुद्रसेन' पाठ अत्यन्त संशयास्पद है।

वाशीम ताम्रपट में प्रवरसेन प्रथम के पुत्र तथा उत्तराधिकारी के रूप में सर्वसेन का नाम दिया है। अतः सहज ही यह अनुमान होता है कि यहाँ नष्ट राजनाम सर्वसेन होना चाहिये। 'सर्वसेनः' पाठ वृत्त के उतना ही अनुकूल है जितना 'रुद्रसेनः'। इस प्रकार सप्तम श्लोक के द्वितीयार्ध का पाठ होगा 'सर्वसेनः प्रवरसेनस्य जितसर्व्वसेनः सुतोभवत्'। इस पाठ के योग से उत्पन्न यमक के कारण तो यह पाठ और भी अधिक सम्भव प्रतीत होता है, क्योंकि इस लेख के रचयिता को यमक का बड़ा शौक था। यमक का उपयोग उसने प्रस्तुत लेख में अनेक स्थलो पर किया है।

पंक्ति २—अभिवृद्धशक्ति ··· दानशक्ति ··· विन्ध्यशक्तिः।
७—प्रवरसेनस्य पुत्रोभूत्प्रवरोर्जितोदारशासनप्रवरः।
१०-११—हस्तिभोजः ··· दिग्गन्धहस्तिप्रतिमो बभूव।
१४—हरिषेणो हरिविक्रमप्रतापः।

सर्वसेन का 'जितसर्व्वसेन' विशेषण उसके नाम से ही सूझा होगा। अतः यह मानना अनुचित न होगा कि प्रवरसेन प्रथम के पश्चात् उसका पुत्र सर्वसेन राजसिंहासन पर आसीन हुआ।

इसके अनन्तर आठवें श्लोक में पं. भगवानलाल को कोई भी राजनाम नहीं मिला। किन्तु सातवी पंक्ति के मध्य-भाग में 'प्र(अथवा पृ)थिवी' अक्षर पढ़ने में आते हैं; अतः बुल्हर को सूझा कि वहाँ पृथिवीषेण जैसा नाम होना चाहिये। उनको पं. भगवानलाल का यह मत मान्य था कि पिछले श्लोक में राजा रुद्रसेन का उल्लेख है। अतः उन्होंने अनुमान किया कि यह पृथिवीषेण वाकाटक ताम्रपटों में उल्लिखित रुद्रसेन प्रथम के पुत्र पृथिवीषेण से अभिन्न होना चाहिये। किन्तु हम देख चुके हैं कि सातवें श्लोक का शुद्ध पाठ 'रुद्रसेन' न होकर 'सर्व्वसेन' है। इसके अतिरिक्त आठवे श्लोक में बुल्हर का पाठ 'पृथिवी–' भी अत्यन्त संशयास्पद है। उन्होंने जिस अक्षर को 'थि' पढ़ा है उसका ऊपरी भाग लम्बवर्तुलसदृश और निचला भाग खुला हुआ है। अतः वह 'थि' नहीं हो सकता, क्यो कि इस लेख में 'थ' सर्वत्र वर्तुलाकृति है। उदाहरणार्थ, 'प्रथितो–' (प. १५), 'प्रथितगुणोपभोग–' (पं. २१) इत्यादि द्रष्टव्य हैं। यह अक्षर 'श्री' होना चाहिए। उसके नीचे की 'र' कारात्मक वक्ररेखा इस समय अस्पष्ट है। अगला अक्षर 'वि' प्रतीत होता है। इसके बाद का अक्षर 'ध्य' होना चाहिए। उसमें अधोलिखित 'य' की लंबी वक्ररेखा स्पष्ट है। अगले दो अक्षर 'सेन' प्रायः निश्चित हैं। इस प्रकार यह राजनाम

'श्रीविंध्यसेन' होना चाहिए। इस श्लोक में आरम्भ में 'सत्पुत्रः' शब्द है, जिसे पूर्ववर्ती सम्पादको ने नहीं पढ़ा था। अतः इसमें संशय नहीं कि यह विन्ध्यसेन सर्वसेन का पुत्र था। वाशीम ताम्रपट में सर्वसेन के पुत्र के नाते (द्वितीय) विन्ध्यशक्ति का उल्लेख है। विन्ध्यसेन और विन्ध्यशक्ति, ये नाम भिन्न नहीं हैं। अतः वाशीम ताम्रपट से भी आठवे श्लोक में हमारे वाचन 'श्रीविन्ध्यसेनः' का समर्थन होता है। इस श्लोक का द्वितीयार्ध अत्यन्त खण्डित हो गया है, किन्तु अवशिष्ट भाग से ज्ञात होता है कि इस विन्ध्यसेन ने कुन्तलाधिपति पर विजय प्राप्त की थी।

इसके बाद नवें श्लोक में पं भगवानलाल ने 'प्रवरसेनस्य पुत्रोभूत्' इत्यादि पढ़ा था। और इस आधार पर उनका मत था कि इस श्लोक में प्रवरसेन प्रथम के एक और पुत्र का वर्णन किया गया है। बुल्हर की यह धारणा कि यह प्रवरसेन प्रथम पृथिवीषेण के पुत्र प्रवरसेन द्वितीय से अभिन्न है समीचीन नही है। हम ऊपर देख चुके हैं कि आठवें श्लोक में विन्ध्यसेन का उल्लेख है, पृथिवीषेण का नही। दूसरी बात यह कि प्रवरसेन द्वितीय पृथिवीषेण प्रथम का पुत्र नही, पौत्र (रुद्रसेन द्वितीय का पुत्र) था। अतः नवम श्लोक मे वर्णित विन्ध्यसेन (अथवा विन्ध्यशक्ति द्वितीय) का पुत्र प्रवरसेन रुद्रसेन द्वितीय के पुत्र प्रवरसेन द्वितीय से भिन्न था।

दशम श्लोक मे प्रवरसेन के पुत्र का वर्णन किया गया था, किन्तु उसका नाम अब नष्ट हो गया है। इस श्लोक के कथनानुसार वह केवल आठ वर्ष की आयु मे सिंहासन पर आसीन हुआ और उसने उत्तम रीति से राज्य किया।

ग्यारहवें श्लोक में इस राजा के पुत्र देवसेन का वर्णन है। इसी ने इंडिया ऑफिस ताम्रपट दिया था। देवसेन के वर्णन के प्रसग में उसके हस्तिकोश तथा अमात्य हस्तिभोज का वर्णन १२-१६ श्लोको में किया गया है। ये श्लोक अत्यन्त खण्डित हो गये हैं, किन्तु अवशिष्ट भाग से उसके शारीरिक गुणो की सुन्दर कल्पना की जा सकती है। उसका वक्षःस्थल विशाल और उभरा हुआ था, नेत्र कमल के सदृश थे तथा वह अत्यन्त गुणवान्, विनयसम्पन्न, लोक का हितकारक और प्रेमी था। उसने शत्रु पक्ष का नाश किया था। लोक-हितैषी और पालनकर्ता होने के कारण वह लोगो को माता-पिता और मित्रो के समान प्रिय था और वे उसके पास सदैव निःशंक जा सकते थे। उसपर राज्य-भार छोड़कर राजा देवसेन विषयोपभोगो में लीन रहता था।

इसके अनन्तर १७वे श्लोक में जहां राजप्रशस्ति पुनः आरम्भ होती है, देवसेन के पुत्र हरिषेण का वर्णन किया गया है। अगले श्लोक में उसके विजयो का वर्णन था, किन्तु वह अत्यन्त खण्डित हो गया है। अवशिष्ट भाग में कुन्तल, अवन्ति, कलिंग, कोसल, त्रिकूट और लाट इन देशों का उल्लेख है। ये देश हरिषेण ने जीते होंगे।

श्लोक १९-२० में हस्तिभोज के पुत्र व हरिषेण के सचिव का वर्णन किया गया है। १९ वें श्लोक के उत्तरार्ध में उसके नाम का उल्लेख था, किन्तु अब वह नष्ट हो गया है। तथापि बीसवें श्लोक से ज्ञात होता है कि वह वराहदेव था। कहा गया है कि उसमें दातृत्व, क्षमा, औदार्य इत्यादि गुण थे तथा उसने न्यायपूर्वक प्रजा-पालन किया और वह राजा तथा प्रजा दोनों का प्रिय था। जीवित, तारुण्य, सम्पत्ति व सुख को नश्वर जान कर उसने अपने माता-पिता के पुण्योपार्जन के निमित्त यह वेश्म (गुहा) यतिश्रेष्ठों के लिए खुदवाया। चौबीसवें श्लोक में इस वेश्म का वर्णन आया है। वह गवाक्षो, द्वारो, चित्रावली, वेदिका, अप्सराओं की मूर्ति इत्यादि से अलङ्कृत किया गया था तथा सुन्दर स्तम्भो पर आधारित था। उसके भीतर चैत्य-मन्दिर था और निकट ही विपुल जलाशय का कुण्ड एवं नागराज की गुहा थी। यह वर्णन सोलहवी गुहा के सम्बन्ध मे पूरी तरह लागू होता है। तीसवें श्लोक मे कहा गया है कि वराहदेव ने यह गुहा बौद्ध संघ को अर्पित की। अन्तिम दो (३१-३२) श्लोकों में यह आशा की गई है कि रत्न-त्रय (बुद्ध, धर्म और संघ) को अर्पित अत्यन्त उत्कृष्ट मण्डप से युक्त यह गुहा सदा टिकी रहे तथा समस्त संसार भी निर्दोष होकर शान्त व दुःखरहित हो।

स्थल-निश्चय—लेख में उल्लिखित स्थलनामों में से कुन्तल भीमा और वेदवती के मध्य का प्रदेश है। उसमें सातारा और शोलापुर जिलो तथा मैसूर और मद्रास के कन्नडभाषी जिलो का समावेश था। कतिपय प्राचीन ग्रन्थकारो के मत में गोदावरी नदी कुन्तल की उत्तरी सीमा थी। राजशेखर के मत मे कुन्तल महाराष्ट्र का दूसरा नाम था। 'उदयसुन्दरीकथा' का रचयिता सोड्ढल कहता है कि प्रतिष्ठान (वर्तमान पैठण) कुन्तल की राजधानी थी। अवन्ति पश्चिम मालवा का नाम है। इसकी राजधानी उज्जयिनी थी। कलिंग देश में महानदी और गोदावरी नदियों के मध्य में स्थित पूर्वी सागरतीर का प्रदेश समाविष्ट था। छत्तीसगढ़ और उसके पूर्व मे उड़ीसा के कुछ प्रदेश का नाम कोसल था। त्रिकूट निश्चित रूप से किस प्रदेश का नाम था, यह दीर्घकाल तक ज्ञात नहीं था। कालिदास के रघुवंश (सर्ग ४, श्लो. ५९) के वर्णन से यह ज्ञात हो चुका था कि त्रिकूट उत्तर कोंकण के एक पर्वत का नाम था। उत्कीर्ण लेखो से यह भी ज्ञात हो चुका था कि इस पर्वत के नाम को ग्रहण करने वाले त्रैकूटक राजवंश के अधिकार में गुजरात, उत्तर कोंकण और उत्तर महाराष्ट्र के प्रदेश थे किन्तु त्रिकूट पश्चिमी घाट के किस प्रदेश का नाम था, यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं था। अभी कुछ समय पूर्व प्राप्त अंजनेरी ताम्रपट में नासिक जिले के एक देवालय के लिए पूर्व त्रिकूट-विषय की जनता पर कुछ कर लगाने का उल्लेख है, जिससे सिद्ध होता है कि त्रिकूट नासिक के पश्चिम में स्थित पर्वत का नाम था। लाट मही और तापी नदियो के

मध्यवर्ती मध्य और दक्षिण गुजरात का नाम था। किन्तु कतिपय उत्कीर्ण लेखों से ज्ञात होता है कि उसमें कभी-कभी खेडा जिले तक मही नदी के उत्तर के प्रदेश का अन्तर्भाव होता था। आन्ध्र गोदावरी के दक्षिण में तेलगूभाषी प्रदेश का नाम था।

वाचन[1]

पंक्ति

१ उदीर्णलोकत्रयदोषवह्निनिर्व्वापण(णं) – ⌣ ⌣ – ⌣ – – [।*] ⌣ –
⌣ – – ⌣ [य]ति[2] प्रणम्य पूर्वां प्रवक्ष्ये क्षितिपानुपूर्व्वी[म्[3] ॥१॥*]

२ [म]हाविमर्द्देष्वभिवृद्धशक्ति. क्रुद्धस्सुरैरप्यनिवार्य्य[वीर्यः ।*] ⌣ – ⌣
– – रणदानशक्तिः द्विज⌒प्रकाशो भुवि विन्ध्यश[क्ति]: [॥२॥*]

३ पुरन्दरोपेन्द्रसमप्रभावः स्वबाहुवीर्य्या[र्जि]तस[र्व्वलोक ।*] ⌣ – ⌣
– – ⌣ ⌣ – टकानां[4] बभूव वाकाटकवङ्श(वंश)केतुः [॥३॥*]

४ रणे[षु][5] हर्य्युद्धतरेणुजालसञ्छादितार्क्कस्स च [कर्म्म] – – [।*]
⌣ – ⌣ – – ⌣ ⌣ – नरातीन् कृत्वा[भिवाद?]प्रवणांश्चकार[6] [॥४॥*]

५ [विनि]र्जितारि[स्सुरराजकार्य्ये] चकार पुण्येषु परं प्रयत्नं(त्नम्)[।*]
⌣ – ⌣ – – ⌣ ⌣ – ⌣ – –, ⌣ – ⌣ – – ⌣ ⌣ – ⌣ – –[7][॥१५*]
[अरि*]नरेन्द्रमौलिविन्यस्तमणिकिरणलीढ[क्र]माम्बुजः [।*]

१. एपिग्राफिया इंडिका, जि. २६, पृ. १४६ के सामने दी हुई छाप से।
२. पूर्ववर्ती सम्पादको ने यह शब्द नहीं पढ़ा था। लेख क्रमांक २६ में बुद्ध को मुनि कहा गया है।
३. इसका व अगले दो श्लोकों का छन्द-उपजाति।
४. ये तीन अक्षर प्रायः निश्चित हैं। पूर्ण शब्द 'उद्धुतकंटकानाम्' रहा होगा।
५. यह पं. भगवानलाल का वाचन है। डॉ. बुल्हर ने 'रणे स्वहर्य्य-' पढ़ा था।
६. वृत्त-उपजाति।
७. वृत्त - उपेन्द्रवज्रा अथवा उपजाति।

६ प्रवरसेनस्तस्य पुत्रोभूद्विकसन्नवेन्दीवरेक्षणः[1] [॥६॥*] रविमयूख- – ⌣ – ⌣ ⌣ ⌣, ⌣ ⌣ – ⌣ – – ⌣ – ⌣ – [।*] [सर्व्व]सेनः[2] प्रवरसेनस्य जितसर्व्वसेन[स्सु]तो[भ]वत् [॥७॥*]

७ [सत्पुत्रः][3] पार्थिवेन्द्रस्य प्रशशास धर्म्मेण मेदिनी[म्।*] कुन्तलेन्द्रं वि[जि]त्य – ⌣ ⌣ ⌣ श्रीविन्ध्यसेन[4] ⌣ – ⌣ ⌣[5] [॥८॥*] प्रवरसेन-स्तस्य पुत्रोभूत्प्रवरोर्ज्जितोदा[रशासनप्र]वरः [।*]

८ ⌣ ⌣ ⌣ – ⌣ – ⌣ – ⌣ ⌣ ⌣, ⌣ ⌣ – ⌣ – – – ⌣ – ⌣ ⌣ [॥९॥*]तस्यात्मजः – ⌣ ⌣ – ⌣ – –, ⌣ – ⌣ – – ⌣ ⌣ – ⌣ – – [।*] ⌣ – ⌣ – – ⌣ मवाप्य राज्यमष्टाब्दको य× प्र[शशास] स[म्यक्*][6] [॥१०॥*]

९ [तस्या*][त्मजो]भून्नरदेव – –, ⌣ – ⌣ – – भुवि देवसेनः[।*]यस्यो-पभोगैर्ल्ललितैर्व्वि – – ⌣ देवराजस्य ⌣ – ⌣ – भूः]११*[पुण्या-नुभावात्क्षितिपस्य

१० [सम्य][क्*] ⌣ – ⌣ – – ⌣ ⌣ – ⌣ – – [।*] ⌣ – ⌣ – – ⌣ गुणाधिवासः ⌣ – ⌣ कोशो [7]भुवि हस्तिभोजः[३२॥*]प्र – ⌣ – – × पृथुपीनवक्षास्सरोरुहाक्षxक्षपि-

१. कीलहॉर्न के कथनानुसार ६-९ श्लोको का वृत्त एक प्रकार का मात्रा-समक है। देखिये, ए. इं., जि. ८, पृ. २७। डॉ० बेंकटसुब्बय्या उसे गीतिका कहते हैं; द्रष्टव्य—जर्नल ऑफ ओरिएन्टल रिसर्च, जि. ९,
२. भगवानलाल और बुल्हर ने इस नाम को रुद्रसेन पढ़ने का सुझाव दिया है।
३. पूर्ववर्ती सम्पादको ने यह शब्द नहीं पढ़ा था।
४. बुल्हर ने इस राजनाम को 'पृथिवीषेण' पढ़ने का सुझाव दिया था।
५. पढ़िये 'नृपोभवत्'।
६. १०-१२ श्लोकों का वृत्त—इन्द्रवज्रा अथवा उपेन्द्रवज्रा।
७. यह शब्द 'श्रीहस्तिकोशो' रहा होगा। हस्तिकोश नाम का अधिकारी राजा पृथ्वीमूल के गोदावरी ताम्रपट में उल्लिखित है। द्रष्टव्य-रॉयल एशियाटिक सोसायटी की बम्बई शाखा की पत्रिका, जि. १६, पृ. ११८।

११ [ता*][रिपक्षः।][1] ⏑ – ⏑ – – – ⏑ ⏑ – ⏑ बाहुर्द्विगन्धहस्तिप्रतिमो बभूव[2] [॥१३॥*] हितो विनीतः [प्रणयप्रधानो] मनोनुकूलोनुविधानवर्ती [।*] निरत्ययं

१२ – ⏑ ⏑ – ⏑ – –, ⏑ – ⏑ – – ⏑ – – ⏑ कश्च[3] [॥१४॥*] त[थै*]व लोकस्य हिताशयत्वात्सुखेन सम्यक्परिपालनेन [।*] पितेव मातेव सखेव नित्यं प्रियोभिगम्यश्च बभूव

१३ [सत्यम्*][4] [॥१५*] ⏑ – ⏑ – – ⏑ ⏑ – –, ⏑ – ⏑ – – ⏑ ⏑ – ⏑ – – [।*] स्वस्थस्समावेश्य स तत्र [राजा ससञ्ज भोगेषु यथेष्टचेष्टः[5] [॥१६॥*] अथ तस्य सुतो बभू-

१४ व राजा ··· ··· ··· ··· [।*] हरिरामहरस्मरेन्दु[6]कान्तिर्हरिषेणो हरिविक्रमप्रतापः[7] [॥१७॥*] स कुन्तलावन्तिकलिङ्गकोसलत्रिकूटलाटान्ध्र-

१५ ⏑ – ⏑ जानिमान् [।*] ⏑ – ⏑ – – ⏑ ⏑ शौर्यविश्रुतानपि स्वनिर्देशगुणाति – ⏑ –[8] [॥१८॥*] प्रथितो भुवि हस्तिभोजसूनुस्सचिवस्तस्य महीपते[र्बभूव।] सकलक्षिति-

१६ ·· ··· ·[9] ॥१९॥* ।राज[10] प्रजेष्टः स्थिरधीरचेतास्त्यागक्षमौदार्य्यगुणैरुपेत :।* । धर्म्मेण धर्म्मप्रवणश्शशास देशं यशःपुण्यगुणांशु-

१. ये अक्षर प्रायः स्पष्ट है।
२. वृत्त-उपजाति।
३. वृत्त-उपेन्द्रवज्रा अथवा उपजाति।
४ वृत्त-उपेन्द्रवज्रा।
५ वृत्त-उपजाति।
६ भगवानलाल और बुल्हर ने 'स्मरेव' पढ़ा था, किन्तु वह व्याकरणदुष्ट है। 'स्मरेन्द्रकान्ति' पढ़ने का बुल्हर का सुझाव अनावश्यक है, क्योंकि 'रे' के बाद का अक्षर निश्चित रूप से 'न्दु' ही है।
७. वृत्त-औपच्छन्दसिक।
८. वृत्त-वंशस्थ।
९. वृत्त-औपच्छन्दसिक।
१०. पूर्ववर्ती सम्पादकों ने यह शब्द नहीं पढ़ा था, किन्तु नवीन छापे में वह पूर्णतः स्पष्ट है।

१७ --[1] [॥२०॥*] विशेषतः · · · · · प्रति पुण्योपचयं परं चकार [।*] यत ऊर्ध्वमिमां सहायधर्म्मा [निरतो] लोकगुरौ चकार काराम्[2] [॥२१॥*] आयुर्व[योवि]त्तसुखाणि(नि)

१८ – –, ⌣ – ⌣ – – ⌣ ⌣ [चञ्च]लानि [।*] उ[द्दिश्य] माता-पितरावुदारं न्यवीविशद्वेश्म यती[न्द्रसेव्यम्[3]] ॥२२॥ [सजला]म्बुद-[वृ]न्दलम्बिताग्रे[4] भुजगेन्द्राध्युषिते महीधरेन्द्रे [।*]

१९ · · · · · · · · · · [वी ?]रश्रीपतिना धरा[5]निकुञ्जे[6] [॥२३॥*] गवाक्षनिर्य्यूहसुवीथिवेदिका[सुरे]न्द्रकन्याप्रतिमाद्यलङ्कृतम् [।*] मनोहरस्तम्भविभङ्ग-

२० – ⌣ –[7] [नि]वेशिताभ्यन्तरचैत्यमदिरम्[8] [॥२४॥*] ⌣ – ⌣ – – तलसन्निविष्टं [वितान] – – ⌣ मनोभिरामं(मम्) [।*] ⌣ – प्रकामाम्बुमहानिधानं[9] नागेन्द्रवेश्मादिभिर-

२१ ⌣ – ⌣ –[10] [॥२५॥*] – – – [म्म]ह[ति] समीरणे समन्तात् – – – विविधविलास –⌣ – – [।*] ग्रीष्मा[र्कस्य च] किरणोपता-पतप्तं सर्वर्तुप्रथितगुणोपभोगयोग्य[म्[11]] [॥२६॥*]

१. पढ़िये 'शुभ्रः' । वृत्त-इन्द्रवज्रा । २. वृत्त-औपच्छन्दसिक ।

३. वृत्त-उपजाति ।

४. इस श्लोक के प्रथम पाद का वाचन सर्वप्रथम मैंने ही किया है। भगवानलाल और बुल्हर ने अन्तिम चार अक्षरों को 'उद्धिताग्रे' पढ़ा, किन्तु उसका अर्थ ठीक से नहीं लगता ।

५. भगवानलाल और बुल्हर का वाचन है '–शरा' ।

६. वृत्त-औपच्छन्दसिक ।

७. बुल्हर ने सन्देह के साथ 'मेदुरम्' पाठ दिया है, किन्तु यहाँ के अक्षर पूर्ण रूप से नष्ट हो चुके हैं । पढ़िये 'भूषितम्' ।

८. इस अन्तिम पाद का वाचन मैंने ही पूरी तरह किया है । इससे वर्जेस का यह मत निर्मूल ठहरता है कि यह चैत्यमन्दिर गुहा के बाहर बंधवाया गया था । यह चैत्यमन्दिर गुहा के भीतर पिछले भाग में है और इसमें बुद्ध की एक भव्य मूर्ति है । क्रमांक २६, पं. २४ में देखिए 'निवेशितान्तर्मुनिराजचैत्यम्' ।

९. भगवानलाल और बुल्हर ने 'आम्बुमहानिधानम्' पढ़ा है, किन्तु इसका कुछ ठीक अर्थ नहीं लग पाता । क्रमांक २७, पं. २६ में भी 'प्रकामाम्बुमहानिधानम्' पाठ है ।

१०. पढ़िये '-रप्यलङ्कृतम्' । ११. वृत्त–प्रहर्षिणी ।

२२ · · · · सुरेन्द्रमन्दिराणां रुचिमन्मन्दरकन्द[रानुरूपम् ।] · · · · · · · · · · · · · · जनैर्यथेप्सितं(तम्)[1] [॥२७॥*] असमस्य विरोचने गिरेर्विक-

२३ · · · · · · श्रमान्तकतया निवहेन · · · · · · · · · · · · [॥२८॥*] – – विशालमिति यस्य जनेन नाम प्रीतिप्रसादविकच-प्रणयेन चक्रे [।*] एतस्य

२४ – ⌣ ⌣ ⌣ – [2]र्लयनं सुरेन्द्रमौलिप्रभोपचित[मङ्गलसंग्रहाय][3] [॥२९॥*] निवेद्य सङ्घाय ⌣ – ⌣[4] भक्त्या सबन्धुवर्गस्स वराहदेवः [।*] नृदेवसौख्यान्यनुभूय – –[5]

२५ – – ण[6] शास्ता सुगतप्रशस्तः[7] [॥३०॥*] सान्द्राम्भोदभुजङ्गभोग-⌣ ⌣ –[8]र्य्यावत् ⌣ – – ⌣ –, – – नूत्नमनःशिलालकपिलैर्य्यावत्करै-र्भा[स्करः] । तावच्छे-

२६ ⌣ ⌣ – ⌣ – ⌣ ⌣ ⌣ – – – ⌣ – से[व्य]तामन्तर्मण्डपरत्नमेतदमलं रत्नत्र[यो*]द्भावि[तं] तम्[9]) ॥३१॥[*] विविधलयनसानुस्सेव्यमानो महद्भिर्गिरिरय-

२७ ⌣ ⌣ – – – ⌣ – – ⌣ द्धय [।*] जगदपि च समस्तं व्यस्तदोष-प्रहाणा[द्वि]शतु पदमशोकं निर्ज्वरं शान्तमार्य्यम्[10] [॥३२॥*]

१. इसका तथा अगले श्लोक का वृत्त—औपच्छन्दसिक ।
२. यहाँ नष्ट अक्षरो में से अन्तिम दो सम्भवतः 'गिरे-' हैं ।
३. वृत्त-वसन्ततिलका ।
४. पढ़िये 'सुवेश्म' ।
५. पढ़िये 'सम्यग्' ।
६. पढ़िये 'धर्मेण' ।
७. वृत्त-उपजाति ।
८ पढ़िये 'निकरै-' ।
९. वृत्त-शार्दूलविक्रीडित ।
१०. वृत्त-मालिनी ।

२६. वराहदेव का घटोत्कच गुहा लेख

उपलब्धि—यह लेख पं० भगवानलाल इन्द्रजी ने 'पश्चिम भारतीय गुहाओं के उत्कीर्ण लेख (आर्किऑलाजिकल सर्व्हे ऑफ् वेस्टर्न इंडिया, १८८?), पृ ८८३ में छाप के विना किन्तु अंगरेजी अनुवाद सहित प्रकाशित किया। उन्होने अधिकांश में उसका निर्दोष वाचन किया और यह अनुमान किया कि दशम पंक्ति में उल्लिखित हस्तिभोज बहुधा वाकाटक नृपति देवसेन का सचिव था। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रतिपादित किया कि तेरहवी पंक्ति में उल्लिखित देवराज अजता की छब्बीसवीं गुहा के लेख में उल्लिखित तन्नामक अश्मक राज से अभिन्न होना चाहिए। और इस आधार पर उनका अनुमान था कि यह घटोत्कच गुहा अजता की सोलहवी, सतरहवीं और छब्बीसवी गुहाओ की अपेक्षा परवर्ती हैं। इसके पश्चात् डॉ० बुल्हर ने यह लेख आर्किऑलॉजिकल सर्व्हे ऑफ वेस्टर्न इंडिया, जि. ४, पृ. १३८ इ मे छाप और अंगरेजी भाषान्तर सहित प्रकाशित किया। यह छाप पं. भगवानलाल द्वारा ली हुई छाप से तैयार की गई है किन्तु अक्षरों की स्पष्टता के लिए उसका थोड़ा बहुत संस्कार किया गया है। डॉ बुल्हर का वाचन कुछ विषयो में पं. भगवानलाल के वाचन से भिन्न है। देवराज अश्मकनरेश था, पं भगवानलाल का यह मत उनको मान्य न था। उनके कथनानुसार देवराज का अभिप्राय देवों के अधिपति इन्द्र से है। इस लेख में वर्णित सचिव वंश वल्लूर का है। डॉ बुल्हर के अनुसार यह वल्लूर मलबार में रहा होगा। भगवानलाल और बुल्हर के त्रुटिपूर्ण वाचन के कारण इस सचिववंश के सम्बन्ध में कुछ भ्रान्त धारणाएं प्रचलित हो गई थीं। अतः हैदराबाद राज्य के पुरातत्व विभाग द्वारा भेजी गई तथा शास्त्रीय पद्धति से तैयार की गई छाप के आधार पर मैंने यह लेख उस राज्य की लेखमाला (हैदराबाद आर्किऑलाजिकल सीरीज) में छाप व अंगरेजी अनुवाद सहित प्रकाशित किया। इसी छाप के आधार पर यहां उसका वाचन दिया गया है।

वर्णन—यह लेख अजंता के पश्चिम में ग्यारह मील पर स्थित गुलवाडा ग्राम के निकट घटोत्कच गुहा में है। वह गुहा के बरामदे की पिछली दीवार पर बायीं ओर के कोने में उत्कीर्ण है। प्रतीत होता है कि मूलतः इस लेख की बाईस पंक्तियां थीं, किन्तु अन्तिम चार पंक्तियां अब लगभग पूर्णतः नष्ट हो चुकी हैं। अवशिष्ट अठारह पंक्तियों में भी केवल आरम्भ की दस थोड़ी बहुत पढ़ने में आती हैं, किन्तु इसके बाद की आठ पंक्तियो का दायीं ओर का अधिकाश भाग पत्थर के पृष्ठ भाग के खराब हो जाने के कारण अब बिलकुल अस्पष्ट हो गया है। तथापि वाकाटक नरेश हरिषेण के सचिव वराहदेव की पूर्ण वंशावली देनेवाला एकमात्र लेख होने के

कारण इसका विशेष महत्त्व है। उसकी वर्तमान स्थिति में जितना वाचन सम्भव है उतना पढ़ने का यत्न यहाँ किया गया है। इस लेख ने ४ फुट चौड़ा, और २ फुट, ४ इंच ऊँचा स्थान व्याप लिया है।

लिपि—इस लेख की लिपि पेटिकाशीर्षक प्रकार की है तथा सामान्यतः अजंता की १६ वी और सतरहवी गुहा के लेखो के सदृश है। उसकी उल्लेखनीय विशेषताएं इस प्रकार है—व्यञ्जनयुक्त (दीर्घ) ऊकार कही दाहिनी ओर की दो आड़ी रेखाओं द्वारा और कही बायी ओर की रेखाओं द्वारा व्यक्त किया गया है; उदाहरण के लिए देखिये 'गुरुणो' (पं. १) व 'वल्लूर' (पं. ३) केवल 'भू' में अक्षर के दण्ड को दायीं ओर मोड़कर और उसमें एक आड़ी रेखा जोड़ कर ऊकार व्यक्त किया गया है। उदाहरणार्थ देखिये 'बभूव' (पं. ९)। 'त्' मे गाँठ नही है, किन्तु 'न्' मे है। 'य्' त्रिभागात्मक है, किन्तु अधोलिखित रूप मे द्विभागात्मक है। 'ल्' की दायी ओर की रेखा एकदम बायीं ओर घूमी हुई है। पद का अन्तिम व्यञ्जन छोटे आकार और शिरोमात्रा द्वारा दिखाया गया है। उदाहरणार्थ, देखिये 'तस्मात्' (पं ९)। जिह्वामूलीयका चिह्न पाँचवीं और नौवीं पंक्तियो मे और उपध्मानीय का चिह्न चौथी, पाचवी और दसवी पंक्तियो मे आया है।

भाषा—इस लेख की भाषा संस्कृत है तथा सम्पूर्ण लेख पद्यमय है। उसकी प्रत्येक पक्ति मे एक-एक श्लोक है। सम्पूर्ण लेख प्रसादगुणयुक्त सुन्दर शैली में लिखा गया है तथा उसमे व्याकरणदुष्ट प्रयोग क्वचित् ही प्राप्त होते हैं। पञ्चम पंक्ति मे द्वितीय भूतकाल के अर्थ मे 'आस' रूप का प्रयोग किया गया है। जो पाणिनि (२।४।५२) व्याकरण के विपरीत है। अन्य लेखो की भाँति 'र्' के उत्तरवर्ती व्यञ्जन का द्वित्व तथा अनुस्वार के स्थान पर 'ङ्' का प्रयोग, लेखन की ये विशेषतायें इस लेख में भी दृष्टिगत होती है।

विषय—प्रस्तुत लेख का उद्देश्य है वाकाटको के सचिव द्वारा एक विहार-गुहा खुदवाने का उल्लेख। इस सचिव का नाम अब नष्ट हो गया है, किन्तु हम आगे देखेंगे कि वह हस्तिभोज का पुत्र वराहदेव होना चाहिए। लेख के आरम्भ में मुनियो में श्रेष्ठ मुनि, देवो में श्रेष्ठ देव, गुरुओ में श्रेष्ठ गुरु इत्यादि शब्दो में बुद्ध की स्तुति की गई है। दूसरे श्लोक मे त्रिरत्नो में से अन्तिम दो अर्थात् धर्म और संघ की प्रशंसा की है। तीसरे श्लोक मे सचिव वंश का वर्णन आरम्भ होता है। दक्षिण में वल्लूर नामक श्रेष्ठ ब्राह्मणो का वंश है। महापुरुषो ने इस पुण्य श्लोक वंश का आदर किया है। इस वंश मे यज्ञपति नामक द्विजश्रेष्ठ हुआ जो भृगु, अत्रि, गर्ग, अङ्गिरस् जैसे सुप्रसिद्ध पुरातन ब्राह्मणो के सदृश था। उसका देव

नामक एक कर्तबगार, विद्वान्, नीतिनिपुण तथा क्रियाशील पुत्र हुआ। उसके प्रभाव से राजासहित सम्पूर्ण राष्ट्र धार्मिक कृत्यो का अनुष्ठान करने लगा। उसके पुत्र सोम ने क्षत्रिय और ब्राह्मण स्त्रियो से विवाह किया। क्षत्रिय पत्नी से रवि नामक पुत्र हुआ जो राजचिह्नों से युक्त था। उसने समस्त प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित किया। ब्राह्मण स्त्रियों से सोम को वेदविद्या मे पारंगत पुत्र हुए, जिनके कारण उनका वसतिस्थान वल्लूर सुप्रसिद्ध हुआ।

क्षत्रिय पत्नी से उत्पन्न सोम के पुत्र रवि का प्रवर नामक पुत्र हुआ। उसका भी कीर्ति नामक यशस्वी पुत्र हुआ। कीर्तिका पुत्र हस्तिभोज वाकाटक नृपति देवसेन का सचिव था। दसवे श्लोक में कहा गया है कि उसकी कुलीनता और शूरता की आज भी प्रशसा होती है। अगले दो श्लोकों में भी उसकी प्रशसा की गई थी, किन्तु वे अब अतिशय खण्डित हो चुके हैं। तेरहवें श्लोक का आरम्भ 'अथ' शब्द से होता है जो नवीन विषय के आरम्भ का सूचक है। उसमें देवराज के पुत्र हरिषेण का उल्लेख आया है। स्वभावतः ही यह वाकाटक नृपति देवसेन का पुत्र हरिषेण है। इसी के राज्यकाल में अजता की क्रमांक १६, १७ और १९ की गुहाएँ खोदी गईं। भगवानलाल इन्द्रजी और बुल्हर 'देवराजसूनोर्हरिषेणो' शब्द नही पढ़ सके थे। अतः इसकी ऐतिहासिक सूचना की ओर उनका ध्यान नहीं गया। भगवानलाल के अनुसार देवराज अश्मक-नरेश का मन्त्री था और बुल्हर ने देवराज को किसी व्यक्तिविशेष का नाम न मानकर देवों के स्वामी इन्द्र का वाचक माना। चौदहवें श्लोक मे सम्भवतः हरिषेण की स्तुति की गई थी। तेरहवें श्लोक की भाति पंदरहवा श्लोक भी 'अथ' शब्द से आरम्भ होता है जिससे स्पष्ट है कि उसमे भी विषयान्तर हुआ था। उसमें अनेक गुणो से युक्त हस्तिभोज के प्रिय तनय का वर्णन था। आगे इसी प्रसंग में हस्तिभोज के अनेक पुत्रो का उल्लेख आया है। श्लोक १६-१७ में जिसका वर्णन अब अत्यन्त खण्डित हो गया है उस वराहदेव का नाम मात्र सौभाग्यवश आज भी १८ वे श्लोक में अंशतः पढा जा सकता है। इसके बाद के श्लोको मे वराहदेव का वर्णन व उसके घटोत्कचगुहा के खुदवाने का उल्लेख आया होगा, किन्तु वह भाग अब पूर्ण रूप से नष्ट हो गया है।

चर्चा—जैसा कि बुल्हर ने कहा है, पांचवे श्लोक में वर्णित देव तत्कालीन राजा का प्रधान सचिव रहा होगा। उस राजा का उल्लेख प्रस्तुत लेख में प्राप्त नहीं होता, किन्तु अब तक के विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा कि वह वाकाटक वंश का ही होना चाहिए। वल्लूर के इन सचिवो तथा उनके समकालीन वाकाटक नृपतियों के नाम नीचे दिये गये हैं—

सचिव	समकालीन वाकाटक नृपति (राज्यारोहण के सम्भवनीय वर्षों के साथ)
यज्ञपति	
देव	विन्ध्यशक्ति (सन् २५०)
सोम	प्रवरसेन प्रथम (सन् २७०)
रवि	सर्वसेन (सन् ३३०)
प्रवर	विन्ध्यसेन (सन् ३५५)
श्रीराम	प्रवरसेन द्वितीय (सन् ४००)
कीर्ति	(नाम नष्ट) (सन् ४१०)
हस्तिभोज	देवसेन (सन् ४५०)
वराहदेव	हरिषेण (सन् ४७५)

इस सचिववंश का नाम वल्लूर था। पांचवे श्लोक से स्पष्ट है कि यह नाम उनके निवासस्थान के नामपर पड़ा था। सातवे श्लोक मे भगवानलाल ने 'मलये' शब्द पढ़ा था। इसी का अनुसरण करते हुए डॉ. बुल्हर ने प्रतिपादित किया कि यह सचिववंश मलबार ब्राह्मणो में से रहा होगा। किन्तु हम आगे चलकर देखेंगे कि 'मलये' पाठ अत्यन्त संशयास्पद है। इसके अतिरिक्त यह मानने के लिये कोई भी आधार नही है कि यह कुटुम्ब दक्षिण के मलबार जैसे दूरवर्ती प्रदेश से आया था। यह कुटुम्ब मूलतः हैदराबाद राज्य के दक्षिण भाग का ही रहा होगा। हम आगे देखेंगे कि वल्लूर हैदराबाद के येलगंडल जिले में स्थित वेलूर होना चाहिए। इस कुटुम्ब को आश्रय देनेवाले वाकाटक वंश का उदय भी सम्भवतः इसी प्रदेश में हुआ था, क्योंकि 'वाकाटक' नाम का प्रथम उल्लेख वेलूर के १५० मील आग्नेय मे स्थित अमरावती के एक स्तम्भ-लेख मे आया है। ये दोनों वंश एक ही काल में उदित हुए और अनेक पीढियों तक परस्पर सम्बद्ध रहे। अतः यह नितान्त सम्भव है कि ये दोनो वंश मूलतः एक ही प्रदेश के–दक्षिण के मध्यभाग के-थे। साथ ही इस मत को मानने पर वाकाटक सातवाहनों के अस्त के अनन्तर इस प्रदेश में किस प्रकार उदित हुए, यह भी समझ मे आ जाता है।

काल-निश्चय – प्रस्तुत लेख से घटोत्कच गुहा के काल पर प्रकाश पड़ता है। इस काल का अनुमान अनेक प्रकार से किया है। प्रथम बर्जेस ने इस गुहा की स्थापत्यपद्धति के आधार पर भगवानलाल के इस मतका समर्थन किया था कि घटोत्कच गुहा अजंता की क्रमाक १६, १७ और २६ की गुफाओ की अपेक्षा परवर्ती है। किन्तु बाद मे, डॉ. बुल्हर के यह प्रतिपादित करने पर कि 'देवराज' अश्मकवंशी राजा का तन्नामक मन्त्री नही है बर्जेस ने अपना मत बदल दिया। बौद्ध गुहाओ और उनके उत्कीर्ण लेखो से सम्बद्ध अपने ग्रन्थ (आर्किऑलाजिकल

सर्व्हे ऑफ वेस्टर्न इंडिया, जि. ४) में बर्जेस ने लिखा है, यह गुहा बहुधा हस्तिभोजने खुदवायी होगी। अतः यह उसके पुत्र द्वारा अजंता मे खुदवाई हुई गुहा की अपेक्षा पूर्ववर्ती हैं। किन्तु हम ऊपर देख चुके है कि घटोत्कच गुहा भी हस्तिभोज के पुत्र वराहदेव ने ही खुदवाई थी। अतः इसमें संशय नहीं कि वह अजंता की क्रमांक १६, १७ व १९ की गुहाओ के ही काल की है। इस गुहा में दृष्टिगत स्थापत्य शैली का अन्तर कारीगरों की कुशलता का परिणाम है।

स्थल-निश्चय—प्रस्तुत लेख में एक ही स्थलनाम वल्लूर का उल्लेख है। यह ग्राम हैदराबाद राज्य के येलगंडल जिले मे हैदराबाद से लगभग तीस मील ईशान में स्थित वेलूर होना चाहिए। इस ग्राम के गुलवाडा के दक्षिण में होने के कारण प्रस्तुत लेख का वल्लूरविषयक विधान—'वल्लूर का यह ब्राह्मण वंश आज भी दक्षिण में सुप्रसिद्ध है—वेलूर पर उत्तम रीति से लागू होता है।

पंक्ति

वाचन[1]

१ मुनिर्मुनीनाममरोमराणां गुरुर्गुरूणां प्रवरो वराणां(णाम्) [।*]
जयत्यनाभोगविबुद्धबुद्धिर्बुद्धाभिधानो निधिरद्भुतानां (नाम्)[2] [॥१॥*]

२ धर्म्मस्ततो धर्म्मविदा प्रणीतस्तथा [ग*][ण]श्चान्यतमो गणानां(नाम्)
[।*] भवन्ति य[स्मि]न्निहि[ता.] सु[पा]त्रे कारापका[रा]स्तनया
ह्युदारा[3]: [॥३॥*]

१. हैदराबाद राज्य के पुरातत्त्व विभाग द्वारा प्रेषित छाप के आधार पर।
२. श्लोक १-२ का वृत्त-उपजाति।
३. इस श्लोक के द्वितीयार्ध का वाचन संशयरहित नहीं है। भगवानलाल ने '–तनयाप्युदारा' तथा बुल्हर ने '–तनयाप्युदाराः' पाठ दिया है। बुल्हर ने आगे कहा है कि 'तनयाप्युदाराः' अथवा 'तनया ह्युदाराः' पढ़ना चाहिए। 'दा' का पूर्ववर्ती अक्षर निश्चित रूप से 'ह्यु' है। तथा 'भवन्ति' क्रिया-रूप से स्पष्ट है कि कर्ता बहुवचन में होना चाहिए। अतः 'तनया ह्युदाराः' पाठ ही विवक्षित रहा होगा।

३ अस्ति प्रकाशो दिशि दक्षिणस्यां वल्लूरनाम्नां द्विजसत्तमानां (नाम) [।*] आ ब्रह्मणस्संभृतपुण्यकीर्त्तिर्व्वङ्शो[1] महीयान्म[हि]तो महद्भिः[2] [॥३॥*]

४ त[स्मिन्न]भूदाहितलक्षणानां[3] द्विजन्मनां [प्रा]थमकल्पिकानां(नाम्)[4] [।*] भृग्वत्रिगर्ग्गाङ्गिर सां समानो द्विजर्षभो [य]ज्ञ[पति][5]-प्रकाश[6]: [॥४॥*]

५ तदात्मजो देव इवास देवकृती गृही[ती[7]] नयवान्क्रियावान् [।*]

१. भगवानलाल ने '–व्वंशो' और बुल्हर ने '–वंशो' पाठ दिया है। 'र्' के उत्तरवर्ती 'व्' का द्वित्व किया गया है। इसके अतिरिक्त 'श' पंक्ति के काफी नीचे लिखा हुआ दिखाई पडता है; अतः उसपर 'ङ्' अक्षर के लिए पर्याप्त स्थान है। छठी पंक्ति में 'वङ्शजासु' शब्द देखिए। पढ़िये -'व्वंशो'।

२. वृत्त-इन्द्रवज्रा।

३. भगवानलाल और बुल्हर ने 'आहतलक्षणाना' पढा, किन्तु 'ह' के ऊपर का अर्धवृत्त अब भी अस्पष्ट रूप मे दिखाई पडता है। तुलनीय रघुवंश (६।७१)– 'ककुत्स्थ इत्याहितलक्षणोऽभूत्'।

४. भगवानलाल ने 'प्राथमकल्पकानां' पढ़ा था, बाद मे बुल्हर ने 'प्राथमकल्पिकानां' यह शुद्ध पाठ दिया।

५. भगवानलाल इस वंश के मूल पुरुष का पूर्ण नाम नही दे सके थे। उनके अनुसार उसका नाम 'यज्ञ. . प्रकाश' रहा होगा। किन्तु प्रस्तुत लेखक ने 'प्रकाश' शब्द का उपयोग 'प्रसिद्ध' अर्थ में अन्यत्र (पं. ३,१०) किया है। बुल्हर ने 'यज्ञधरः' और 'यज्ञपतिः' दो पाठ सुझाये और उनमे से दूसरा पसन्द किया। नयी छाप में यह नाम काफी स्पष्ट है। अंतिम अक्षर के ऊपर के अर्धवृत्त से 'यज्ञपति' नाम का समर्थन होता है। 'प्र' अक्षरपर उपध्मानीय के चिह्न के अवशेष हैं।

६. श्लोक ४-१२ का वृत्त-उपजाति।

७. भगवानलाल ने 'गृहस्थो' पढ़ा, किन्तु, जैसा कि बुल्हर ने कहा है, 'ह' के ऊपर का अर्धवृत्त स्पष्ट है। उसके बाद का अक्षर बुल्हर ने नही पढ़ा था। उसपर भी इकार स्पष्ट है। अतः 'गृहीतो' पाठ विवक्षित रहा होगा। तुलनीय, दशकुमारचरित (बंबई संस्कृत ग्रन्थमाला, १९१९), पृ १००' गृहीती षट्स्वङ्गेषु'।

सराजकं राष्ट्रमुपेत्य यस्मिन्धर्म्याऽक्रिया≍[पा]र्थ[1] इव प्रचक्रे[॥५॥*]

६ सोमस्ततः सोम [इ]वापरोभूत्स ब्राह्मणक्षत्रियवङ्शजासु[2] [।*] श्रुति-
स्मृतिभ्यां विहिता[र्थ]कारी द्वयीषु भार्य्यासु मनो दधार [॥६॥*]

७ स क्षत्रियायां कुलशीलवत्यामुत्पादयामास नरेन्द्रचिह्नं(ह्नम्) [।*]
सुतं सुरूपं रविनामधेयं कृताधिपत्यं वि[ष]ये[3] समग्रे [॥७॥*]

८ द्विजासु चान्यासु सुतानुदारान्स [प्राप*[4]] वेदेषु समाप्तकामान् [।*]

१. भगवानलाल ने 'पार्त्थ' और बुल्हर ने 'नाथ' पाठ दिया है। इनमें से प्रथम अक्षर पर उपध्मानीय का चिह्न स्पष्ट है तथा इस श्लोक में मन्त्री 'देव' की देव अर्थात् कृष्ण के साथ तुलना विवक्षित प्रतीत होने के कारण 'पार्थ' पाठ ही शुद्ध प्रतीत होता है। इसका दूसरा अक्षर 'र्त्थ' अथवा 'थ' न होकर 'र्थ' ही है।

२. भगवानलाल और बुल्हर ने 'वंशजासु' पढ़ा, किन्तु 'श' के ऊपर 'ङ्' स्पष्ट है। 'वंशजासु' शुद्ध रूप है।

३. भगवानलाल और बुल्हर ने 'मलये' पढ़ा, किन्तु इनमे से प्रथम अक्षर 'म' के सदृश न होकर 'वि' के सदृश है। द्वितीय अक्षर अब अत्यन्त अस्पष्ट हो गया है। भगवानलाल के काल में भी वह उसी स्थिति मे रहा होगा। आ. स वे इ. (फलक ६०) में वह 'ल' जैसा दिखाई देता है, किन्तु वह विश्वसनीय नहीं है। कारण यह है कि उक्त छाप संस्कार करके मुद्रित प्रतीत होती है। प्रस्तुत लेख मे 'ल' अक्षर की दायी ओर की रेखा सर्वत्र वक्ररूप से बायीं ओर घूमी हुई है। उदाहरण के लिए देखिए 'आहितलक्षणाना', 'प्राथमकल्पिकाना' (पं.४), 'कुलशील-' (पं. ७), 'वल्लूर' (पं ८), 'धवलां (पं. १४), 'फलमखिल-' (पं. १७)। इन सभी स्थलो मे 'ल' की दाहिनी रेखा बायी ओर घुमाई हुई दिखाई देगी। केवल प्रस्तुत स्थल में तथा-कथित 'ल' का दायीं ओर का भाग खड़ा हुआ है। अतः यह अक्षर 'ल' नही हो सकता। 'विषये' शुद्ध पाठ प्रतीत होता है।

४. भगवानलाल ने 'सोम' और बुल्हर ने 'समस्त' पढ़ा था। इन दोनों पाठों के लिए आवश्यक क्रियापद इस श्लोक में नहीं मिलते। इस स्थल के अक्षर अब अत्यन्त स्पष्ट हो गये हैं। 'प्राप' विवक्षित प्रतीत होता है।

वल्लूरनाम्ना[1] दिशि दक्षिणस्यामद्यापि येषा[म्व]सति[2][द्वि]जानां-
(नाम्) [॥८॥*]

९ रवेस्सुतो भूत्प्रवराभिधानः श्रीरामनामाथ बभूव तस्मात् [।*] तस्या-
त्मज[3]×कीर्त्तिरभूत्सुकीर्त्तिर्ब्बभूव तस्मादथ हस्ति[भोजः][4] [॥९॥*]

१० वाकाटके राजति देवसेने गुणै≍प्रकाशो[5] [भुवि[6]] [ह]स्तिभोजः [।*]
अद्यापि यस्याभिजनप्र[दा]न ≍ – ⌣ – – ⌣ ⌣ – ⌣ – – [॥१०*]

११ धीरेषु धीमत्सु सहोत्थितेषु कृत्य[प्र]मा[णेषु] गुणान्वितेषु [।*]
≍ – ⌣ – – नुपतेर्यदे –, ≍ – ⌣ – – ⌣ ⌣ – ⌣ – – [॥११॥*]

१. भगवानलाल तथा बुल्हर ने 'वल्लूरनाम्ना' ही पढ़ा है और बुल्हर ने 'वल्लूरनाम्नां' पढने का सुझाव दिया है, किन्तु यह वाचन आवश्यक नही है। जैसा कि श्लोक ३ मे कहा गया है, इन ब्राह्मणो का नाम 'वल्लूर' था, जो उनके वल्लूर नामक मूल निवासस्थान से पड़ा होगा। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि 'मालतीमाधव' में भवभूति के पूर्वजो का वर्णन 'उदुम्बरनामानः' शब्द से किया गया है।

२. पढ़िये 'येषा वसति–'।

३. भगवानलाल और बुल्हर ने 'तदात्म–' पढ़ा था, किन्तु 'त' के उत्तरवर्ती अक्षर के नीचे 'य' दृष्टिगत होता है। अतः 'तस्यात्मज–' पाठ विवक्षित होना चाहिये।

४. भगवानलाल ने ह[स्तिभोजः] तथा बुल्हर ने [हस्तिभोजः] पाठ दिया है। इनमे से प्रथम दो अक्षर निश्चित है, किन्तु अन्तिम दो अक्षर इस समय खराब हो गये हैं।

५. भगवानलाल और बुल्हर ने 'गुणैषिकोशो' पढ़ा, किन्तु उसका अर्थ कुछ ठीक जमता नहीं है। जो चिह्न उन्हे 'षि' का अर्धवृत्त लगा वह वस्तुतः 'प्र' के ऊपर का उपध्मानीय का चिह्न है। 'गुणै≍प्रकाशो' विवक्षित प्रतीत होता है। इस कवि ने अन्यत्र भी 'प्रकाश' शब्द का प्रयोग किया है (पं. ३-४)।

६ भगवानलाल और बुल्हर के समय मे 'भुवि' शब्द स्पष्ट था, किन्तु अब वह अस्पष्ट हो गया है। 'हस्तिभोजः' का 'ह' अंशतः अस्पष्ट हो गया है, किन्तु अन्य अक्षर अवशिष्ट रेखाओं की सहायता से पढ़े जा सकते हैं।

१२ यस्यासनार्द्धं [पु]रुषा[1] ⏑ – –, ⏑ – ⏑ मात्संसदि – ⏑ – – [।*]
⏑ – ⏑ – – ⏑ ⏑ – ⏑ – –, ⏑ – ⏑ – – ⏑ ⏑ – ⏑ – –
[॥१२॥*]

१३ अथ देवराजसुगुर्हरिषेणो[2] · · हस्तिभोज · · · [।*] · · · ·
· · · · · · · · · · · · · · · · [3] · [॥१३॥*]

१४ शशिकरधवलां नि[री] क्ष्य की[र्त्ति] ⏑ ⏑ ⏑ ⏑ – ⏑ ⏑ – ⏑ – ⏑ –
– – [।*] ⏑ ⏑ ⏑ ⏑ ⏑ ⏑ ⏑ – ⏑ – ⏑ – –, ⏑ ⏑ ⏑ ⏑ – ⏑ ⏑
– ⏑ – ⏑ – –[3] [॥१४॥*]

१५ अथ गुणशतसंभृतात्मभूतः प्रियतन[यो*] ⏑ ⏑ – ⏑ – ⏑ – – [।*]
⏑ ⏑ ⏑ ⏑ ⏑ ⏑ – ⏑ – ⏑ – –, ⏑ ⏑ ⏑ ⏑ – ⏑ ⏑ – ⏑ – ⏑
– – [॥१५॥*]

१६ तस्यात्मजेषु बहुषु ⏑ ⏑ ⏑ ⏑ – –, – – ⏑ – ⏑ ⏑ ⏑ – ⏑ ⏑ –
⏑ – – [।*] – – ⏑ – ⏑ ⏑ ⏑ – ⏑ ⏑ – ⏑ – –, – – ⏑ – ⏑
⏑ ⏑ – ⏑ ⏑ – ⏑ – –[4] [॥१६॥*]

१. भगवानलाल ने 'पुरुषा' पढ़ा, किन्तु बुल्हर के मत में वह 'सुरसा' होना चाहिए। इस स्थल के अक्षर सन्दिग्ध हैं, किन्तु अवशिष्ट रेखाओ की सहायता से पढे जा सकते हैं।

२. भगवानलाल केवल 'देवराज' और बुल्हर 'देवराजस्य' पढ़ पाये थे। देवराज के बाद का अक्षर निश्चित रूप से 'सू' ही है। उसके बाद के अक्षर का ऊपरी भाग अस्पष्ट हो गया है, किन्तु नीचे उकार स्पष्ट है। उसके बाद का अक्षर 'ह' है। वह तीसरी पंक्ति के 'महद्भिः' के 'ह' के सदृश ही है। उसके बाद का अक्षर स्पष्ट रूप से 'रि' ही है। अतः 'हरिषेणो' नाम होना चाहिए। उसके अन्तिम दो अक्षर नये छापे मे स्पष्ट हैं। पूर्ववर्ती सम्पादक इस महत्त्वपूर्ण नाम को नहीं पढ़ सके थे; इस कारण उन्हे देवराज का पता नहीं लग सका था।

३. श्लोक १४-१५ का वृत्त पुष्पिताग्रा।

४. वृत्त-वसन्ततिलका।

१७ फलमखिल ⏑ – ⏑ – ⏑ – – , ⏑ ⏑ ⏑ ⏑ – ⏑ ⏑ – ⏑ – ⏑ – –
[।*] ⏑ ⏑ ⏑ ⏑ ⏑ ⏑ – ⏑ – ⏑ – – , ⏑ ⏑ ⏑ – ⏑ ⏑ – ⏑
– ⏑ – –[1] [॥१७॥*]

१८ सम्यग्विभावित इहास्ति वराह[देव *] – – ⏑ – ⏑ ⏑ ⏑ – ⏑ ⏑
– ⏑ – – [।*] – – ⏑ – ⏑ ⏑ ⏑ – ⏑ ⏑ – ⏑ – – , – – ⏑ –
⏑ ⏑ ⏑ – ⏑ ⏑ – ⏑ – –[2] [॥१८॥*][3]

१. वृत्त-पुष्पिताग्रा ।

२. वृत्त-वसन्ततिलका ।

३ अगली चार पंक्तियो का एकाध अक्षर कहीं कहीं पढ़ने में आता है, किन्तु पूर्ण शब्द एक भी नही है ।

२७. अजन्ता की सतरहवीं गुहा का लेख

उपलब्धि— इस लेख की छाप पहले अनेक लोगो ने ली थी। किन्तु उसका वाचन सर्वप्रथम डॉ. भाऊदाजी ने किया। फरवरी १८६३ में उन्होने इसकी व अजन्ता के अन्य लेखों की छाप ली और उनपर अपना निबन्ध रॉयल एशियाटिक सोसायटी की बम्बई शाखा के सामने १० जुलाई, १८६३ के दिन पढ़ा। उन्होने अपने निबन्ध के साथ इस लेख की यथादृष्ट प्रति, उसका वाचन तथा अंगरेजी अनुवाद भी प्रकाशित किया। इस लेख में नौ राजनाम डॉ. भाऊदाजी के पढ़ने मे आये। उन्होंने प्रतिपादित किया कि इनमें से चार—धृतराष्ट्र, हरिसाम्ब, शौरिसाम्ब और रविसाम्ब—एक वंश के तथा शेष पांच—उपेन्द्रगुप्त, स्काच, नोलदास, स्काच और कृष्णदास – दूसरे वंश के थे। तेरहवी पंक्ति मे उन्होने अचित्य नामक सचिव का नाम पढ़ा। उनके अनुसार वह रविसाम्ब का सेवक रहा होगा। इक्कीसवी पंक्ति में उल्लिखित हरिषेण वाकाटक नृपति था, यह बात डॉ भाऊदाजी के ध्यान में नहीं आई। इस लेख का उद्देश्य क्या था, इसमे उल्लिखित नृपतियों के राज्य कहाँ थे, उनकी राजधानियां कहाँ थी, इत्यादि के विषय मे उन्होने कुछ नही लिखा।

इसके पश्चात् यह लेख पं. भगवानलाल इन्द्रजी ने 'पश्चिम भारतीय गुहाओं के उत्कीर्ण लेख' (आर्किऑलॉजिकल सर्व्हे ऑफ् वेस्टर्न इंडिया १८८१), पृ. ७३ ई० मे प्रास्ताविक सूचना तथा अंगरेजी भाषान्तर के साथ प्रकाशित किया। उन्होने पहलेपहल निम्ननिर्दिष्ट दस राजनाम पढे और यह प्रतिपादित किया कि ये राजा एक ही वंश के थे तथा इनका राज्य अश्मक मे था – धृतराष्ट्र, हरिसाम्ब, शौरिसाम्ब, उपेन्द्रगुप्त, अगज अथवा काच प्रथम, भिक्षुदास, नोलदास, काच द्वितीय, कृष्णदास और रविसाम्ब। इसके अतिरिक्त उन्होने यह भी प्रतिपादित किया कि इस लेख में उल्लिखित हरिषेण वाकाटक नृपति था और अश्मक के ये राजे उसके माण्डलिक थे। बारहवीं पंक्ति के खण्डित वर्णन से उन्होने अनुमान किया कि कृष्णदास के ज्येष्ठ पुत्र ने, जिसका नाम अब नष्ट हो गया है, अपने अनुज रविसाम्ब को मार डाला, किन्तु बाद मे उसे पश्चात्ताप हुआ। जिस गुहा-विहार में प्रस्तुत लेख उत्कीर्ण है उसे हरिषेण ने अथवा उसके सचिव अचिन्त्य ने खुदवाया होगा। पं. भगवानलाल के कथनानुसार यह लेख अजन्ता की सोलहवीं गुहा का समकालीन है और छत्तीसगढ़ व वैनगंगा के आसपास ईसा की पाँचवीं अथवा छठी शताब्दी में प्रचलित लिपि में उत्कीर्ण है।

तदनन्तर डॉ बुल्हर ने इस लेख को छापे और अंगरेजी भाषान्तर सहित आर्किऑलॉजिकल सर्व्हे ऑफ् वेस्टर्न इंडिया, भा. ४ (१८८३), पृ. १२८ इ. और

फलक ५६) में प्रकाशित किया। यह छापा पं. भगवानलाल द्वारा ली हुई छापा से तैयार किया गया था। प्रतीत होता है कि अक्षरों को स्पष्ट करने के लिये उसमे काफ़ी हेरफेर किया गया था। डॉ. बुल्हर का वाचन पं. भगवानलाल के वाचन से अधिक भिन्न नही है। उन्होने वेही राजनाम पढ़े, किन्तु बारहवें श्लोक के अर्थ के विषय में पं. भगवानलाल द्वारा की हुई त्रुटि का संशोधन किया। उन्होंने प्रतिपादित किया कि इस श्लोक का वास्तविक अर्थ यह है कि अपघात अथवा व्याधि के कारण रविसाम्ब का अकाल निधन हुआ। उसके बाद के श्लोक के अनुसार तत्कालीन राजा के सचिव अचित्य ने इस विहार-गुहा का दान किया, यह भी बुल्हर ने प्रस्तावित किया। बुल्हर के मतानुसार यह लेख पाचवी शती के अन्त का अथवा छठीं शती के आरम्भ का है।

अन्त में प्रस्तुत लेख गव्हर्नमेन्ट एपिग्राफिस्ट द्वारा भेजे हुए छापे से मैंने हैदराबाद पुरातत्त्व ग्रन्थमाला, क्रमांक, १५, में छापा और अंगरेजी अनुवाद सहित सन् १९४९ में प्रकाशित किया। उसी छापे से यहां उसका वाचन किया गया है।

वर्णन—यह लेख महाराष्ट्र के औरंगाबाद जिले में अजंता की सतरहवीं गुहा में बरामदे के एक ओर भीत पर उत्कीर्ण है। वह धूप और वर्षा से बहुत अस्पष्ट हो गया है। प्रत्येक पंक्ति में बायीं ओर के कुछ अक्षर वर्षा का पानी बहते रहने के कारण पूर्णतः नष्ट हो गये हैं। तथापि इस लेख का साराश समझने में अधिक कठिनाई नहीं होती।

लिपि—इस लेख से ४ फुट चौड़ा और ४ फुट, ५ इंच ऊंचा स्थान घिरा हुआ है। इसके अक्षरो की बनावट पेटिकाशीर्षक प्रकार की है। उसकी निम्ननिर्दिष्ट विशेषताएं उल्लेखनीय हैं - व्यञ्जनयुक्त (दीर्घ) ई एक घुमावदार वक्र रेखा के द्वारा व्यक्त किया गया है। यह रेखा बहुधा बायी ओर (उदा 'मरीचि-,' पं २०; 'न्यत्रीविशत्', पं. २३ इ) और कही-कहीं दाहिनी ओर घुमाई गई है, (उदा. 'प्रदीप्त', पं ६; 'व्यत्रीवृधत्, पं, १३)। व्यञ्जनायुक्त 'औ' द्विभागात्मक है, जैसे 'कान्तरूपौ' (पं. ८)। 'च' और 'ब' की आकृति कुछ स्थलो पर एकसदृश है, जैसे 'मरीचि-' (पं. २०) और 'रवि-' (पं. २९)। जिह्वामूलीय का चिह्न पं. १, ४ व ६ में और उपध्मानीय का चिह्न पं ११ व १३ मे पाया जाता है।

भाषा—इस लेख की भाषा संस्कृत है तथा सम्पूर्ण लेख पद्यमय है। उसमें कुल मिला कर २९ श्लोक हैं। कुछ स्थलों में प्रथम श्लोकार्ध की समाप्ति एक आड़ी रेखा के द्वारा और सम्पूर्ण श्लोक की समाप्ति दो खड़ी रेखाओं के द्वारा सूचित की गई है। लेखन की अधोनिर्दिष्ट विशेषताएं उल्लेखनीय हैं,—'र्' के अनन्तर आनेवाले व्यञ्जन का द्वित्व किया गया है, जैसे 'कर्म्मणो' (पं. १), 'कीर्त्ति'

(पं. ५)। 'भूव स्तूप–' में पाणिनि सूत्र ८।३।३६ पर दिये गये वार्त्तिक के अनुसार विसर्ग लुप्त हो गया है। 'अनूचिवां' (पं० १८) में पदान्त 'न्' का अनुस्वार कर दिया गया है, जो नियमविरुद्ध है।

विषय—जैसा कि हम आगे देखेंगे, जिस राजा ने यह लेख उत्कीर्ण कराया था उसका नाम अब नष्ट हो गया है, किन्तु यह निश्चय है कि वह वाकाटक नृपति हरिषेण का माण्डलिक था जो बहुधा खानदेश पर राज्य करता रहा होगा। इस लेख का प्रयोजन इस राजा के द्वारा अजन्ता की क्रमांक सतरह की विहार गुहा और क्रमाक उन्नीस की गन्धकुटी के खुदवाने का उल्लेख करना है। अतः लेख का काल ईसा की पञ्चम शती के अन्त मे निश्चित होता है। सोलहवी गुहा के लेख की भाति यह लेख भी वाकादक सम्राट् हरिषेण के राज्यकाल का है।

प्रस्तुत लेख का बायीं ओर का अधिकाश भाग नष्ट हो जाने के कारण उसमें निहित सूचना पूर्ण रूप से देना असम्भव है। कुछ स्थलो पर नष्ट हुए भाग के अर्थ का अनुमान किया जा सकता है। संसार रूपी वृक्ष के लिए वज्ररूप भगवान् बुद्ध के नमन के साथ लेख का प्रारम्भ होता है। तदनन्तर विहारदाता की निम्नलिखित वंशावली दी गई है—

(नाम नष्ट)
|
(पुत्र)
धृतराष्ट्र
|
(पुत्र ?)
हरिसाम्ब
|
(पुत्र)
शौरिसाम्ब
|
(पुत्र ?)
उपेन्द्रगुप्त
|
(कनिष्ठ पुत्र)
काच प्रथम
|
(पुत्र ?)
भिक्षुदास

भिक्षुदास
|
(पुत्र)
नीलदास
|
(पुत्र ?)
काच द्वितीय
|
(पुत्र)
कृष्णदास
|
(नाम नष्ट) — रविसाम्ब

इस वंश के मूल पुरुष का नाम नष्ट हो गया है, किन्तु द्वितीय श्लोक के वर्णन से प्रतीत होता है कि उसके नाम का अर्थ 'जनो का पालन करनेवाला' था। अवशिष्ट भाग से यह स्पष्ट नही होता कि हरिसाम्ब, उपेन्द्रगुप्त, भिक्षुदास और द्वितीय काच का तत्पूर्ववर्ती राजाओ के साथ निश्चित रूप से क्या सम्बन्ध था। प्रथम काच के विषय मे कहा गया है कि वह उपेन्द्रगुप्त का कनिष्ठ पुत्र था। उसका बडा भाई गद्दी पर क्यो नही बैठा, इस विषय में लेख मे कुछ भी नही कहा गया है।

कृष्णदास की रानी का नाम भी नष्ट हो गया है। लेख के कथनानुसार उसने प्रद्युम्न और साम्ब जैसे पुत्रो को जन्म दिया था। उनमे से ज्येष्ठ पुत्र सिंहासन पर आसीन हुआ। दोनो भाइयो ने मिलकर अश्मक आदि देशो पर विजय प्राप्त की। वे आनन्द से एकत्र रहते थे जिससे उनका पारस्परिक प्रेम व यश वृद्धिगत होता गया। कुछ समय पश्चात् रविसाम्ब की उसके पूर्वजन्म के कर्मों के कारण अकाल मृत्यु हो गई। इससे बड़े भाई को अत्यन्त दु.ख हुआ। संसार की अनित्यता का निश्चय हो जाने पर उसने धार्मिक वृत्ति से अपना समय व्यतीत करना आरम्भ किया। वह विद्या, दातृत्व, दया, आनन्द, मैत्री, क्षमा, सामर्थ्य, बुद्धिमत्ता इत्यादि गुणो से युक्त महात्माओ की सेवा करने लगा। अपने व्यवहार में सदाचारी राजाओ का अनुकरण करने लगा। वह याचको को इतना धन देता था कि वे याचक ही इतर याचको का मनोरथ पूर्ण करके उसकी यशोवृद्धि करने लगे। अनेक बन्दी और भयत्रस्त व्यक्तियो को उसने बहुत धन व्यय करके मुक्त कराया। भगवान् बुद्ध के ध्यान से सिद्धि मिलने के मार्ग मे सम्पत्ति को बाधक मानकर उसने स्तूप, विहार इत्यादि से भूमि को सुशोभित किया और दान देकर याचको को सन्तुष्ट किया। उस समय प्रजाहितकारी श्रेष्ठ

नृपति हरिषेण पृथ्वी का पालन कर रहा था। इसके पश्चात् उसने सह्यपर्वत की सुन्दर टेकड़ी पर भगवान् बुद्ध के चैत्यमन्दिर से युक्त एकाश्मक मण्डप खुदवाया। उसके निकट ही उसने उत्तम, हलके, स्वच्छ व शीतल जल का बड़ा कुण्ड बनवाया। उसके पश्चिम में उसी टेकड़ी पर उसने एक विशाल गन्धकुटी (चैत्य-गुहा) खुदवाई। अन्तिम दो श्लोको में यह इच्छा व्यक्त की गई है कि लोकहित के लिए सन्नद्ध इस दाता को भगवान् बुद्ध के ध्यान से होनेवाली सिद्धि के लिए अभीष्ट सम्पूर्ण कल्याणपरम्परा प्राप्त हो तथा जब तक सूर्य अपनी किरणों से अन्धकार का नाश करता रहे तब तक यह मण्डप सज्जनो का कल्याण करता रहे।

चर्चा—उपरिलिखित सारांश से यह स्पष्ट हो गया होगा कि इस वंश का अन्तिम राजा, जिसका नाम दुर्दैव से नष्ट हो गया है, वाकाटक नृपति हरिषेण का समकालीन और माण्डलिक था। उसके पूर्व दस राजा हो चुके थे। अतः इस वंश का मूलपुरुष लगभग ख्रिस्तोत्तर २७५ से ३०० तक के काल मे हुआ होगा।

दशम श्लोक मे अश्मक देशका उल्लेख आया है। इस आधार पर पं. भगवानलाल का अनुमान था कि ये राजे अश्मक अर्थात् वर्तमान खानदेश में राज्य करते थे। किन्तु यह अनुमान समीचीन प्रतीत नही होता, क्योंकि इस श्लोक के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इन राजाओं ने अश्मक पर अभियान किया था। अश्मक उनका मूल देश नही था। सुत्तनिपात से ज्ञात होता है कि अश्मक देश गोदावरी के आसपास और मूलक से लगा हुआ था। इस ग्रंथ मे कहा गया है कि अश्मक देश मे गोदावरी के तटपर रहने वाले बावरि के शिष्य पहले मूलक देश की राजधानी प्रतिष्ठान गये और बाद में उन्होने उत्तर भारत में प्रयाण किया। इस प्रकार अश्मक गोदावरी के तट का प्रदेश था जिसमे सम्भवतः वर्तमान अहमदनगर और बीड जिलो का कुछ भाग अन्तर्भूत था। अश्मक अजन्ता के दक्षिण में था। अतः अजन्ता के उत्तर में स्थित खानदेश के साथ उसका ऐक्य सम्भव नहीं है।

तथापि यह असम्भवनीय नही कि ये राजे खानदेश में ही कहीं राज्य करते रहे हो। इन राजाओ मे से भिक्षुदास, नीलदास और कृष्णदास इन तीन राजाओ के नाम 'दास' शब्दान्त हैं। इस आधारपर पं. भगवानलाल की धारणा थी कि पश्चिम खानदेश के शिरपुर ग्राम में सन् १८८४ में जिस रुद्रदास का ताम्रपट प्राप्त हुआ था वह भी इसी वंश का रहा होगा। इसके भी आगे जाकर उन्होने यह मत व्यक्त किया कि कृष्णदास के जिस ज्येष्ठ पुत्र का नाम प्रस्तुत लेख मे नष्ट हो गया है वह यही रुद्रदास होना चाहिए। इसके पश्चात् इन्दौर के पं वामनशास्त्री इसलामपुरकर के संग्रह मे विद्यमान महाराज भुलुंड और स्वामिदास के ताम्रपट प्रकाशित हुए। मैने अन्यत्र प्रतिपादित किया है कि ये ताम्रपट भी मूलतः खानदेश के ही होने

चाहिए[1]। मैंने अन्यत्र यह भी प्रतिपादित किया है कि स्वामिदास, भुलुंड व रुद्रदास के ताम्रपटो में उल्लिखित वर्ष ६७, १०७ व ११७ कलचुरि—चेदि संवत् के हैं। इस प्रकार रुद्रदास का काल (११७+२४९ =) ई. सन् ३६६ निश्चित होता है। अतः उसकी पहचान पञ्चम शताब्दी के उत्तरार्ध में हुए कृष्णदास के पुत्र के साथ नही की जा सकती। अजन्ता के प्रस्तुत लेख में उल्लिखित राजाओं ने खिस्तोत्तर २७५-५०० में राज्य किया। खानदेश के स्वामिदास, भुलुंड और रुद्रदास इन राजाओं के समकालीन थे और सम्भवतः इसी वंश की एक दूसरी शाखा से सम्बद्ध थे। उनकी राजधानी वल्ल का उल्लेख उनके ताम्रपटो मे पाया जाता है। अन्यत्र मैंने इस नगर की पहचान खानदेश में स्थित वर्तमान वाघली के साथ की है। अजन्ता के प्रस्तुत लेख में उल्लिखित राजाओं की राजधानी कहाँ थी, यह अज्ञात है।

स्थल-निश्चय—हम ऊपर देख आये हैं कि अश्मक खानदेश का प्राचीन नाम नहीं है। किन्तु खानदेश प्राचीन ऋषीक हो सकता है। बराहमिहिर के कथनानुसार ऋषीक दक्षिण भाग मे है। रामायण में सुग्रीव ने सीता की शोध के लिए जिन देशों में जाने की आज्ञा बानरों को दी उनमे विदर्भ के साथ ऋषीक का उल्लेख आया है। महाभारत मे भी विदर्भ और ऋषीक का एकत्र उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार कर्ण द्वारा विजित प्रदेशो में ऋषीक व अश्मक का निर्देश किया गया है। दशकुमारचरित के कथनानुसार अश्मकाधिपति के समान ऋषीकेश्वर भी विदर्भराज का माण्डलिक था। पुलुमावि के नासिक गुहालेख मे गौतमी पुत्र सातकर्णि द्वारा जीते हुए प्रदेशों की सूची में असक (अश्मक) और मूलक देशों के साथ असिक (ऋषीक) का भी उल्लेख आया है। इन समस्त संदर्भों से स्पष्ट है कि ऋषीक देश अश्मक, मूलक व विदर्भ के निकट था। यह वर्णन खानदेश पर ही लागू होता है, क्योंकि उसके पूर्व मे विदर्भ (बरार) और दक्षिण में मूलक (औरङ्गाबाद जिला) है। अश्मक देश (वर्तमान अहमदनगर व बीड जिलो का कुछ भाग) मूलक के दक्षिण मे था। ऋषीक नाम खिस्तोत्तर सप्तम शताब्दी तक प्रचलित था। इसके पश्चात् मुसलमानो के राज्यकाल में उसका वर्तमान नाम खानदेश पड़ा।

माण्डलिक वंश—प्रस्तुत लेख में वर्णित राजवंश का उदय खिस्तोत्तर तृतीय शतक के अन्त में हुआ। उसके आरम्भिक राजे उन आभीरों के माण्डलिक रहे होंगे जिन्होने सातवाहनो के अनन्तर पश्चिमी महाराष्ट्र में अपना साम्राज्य स्थापित किया था। प्रतीत होता है कि आभीरो के अस्त के पश्चात् उन्होने वाकाटकों की प्रभुसत्ता स्वीकार की। अजन्ता की सोलहवीं गुहा के खण्डित श्लोक में

१. संशोधनमुक्तावलि, भाग २, पृ. ७५।

त्रिकूट देश पर विदर्भाधिपति वाकाटक सम्राट् हरिषेण की विजय का उल्लेख है। त्रिकूट और विदर्भ के मध्य में होने के कारण यदि खानदेश के राजा ने भी हरिषेण का स्वामित्व स्वीकार किया हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। प्रस्तुत लेख में हरिषेण के उल्लेख से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है। दशकुमारचरित के विश्रुतचरित नामक अष्टम उच्छ्वास में दी हुई विदर्भ नृपति की कथा का एक बड़ा भाग ऐतिहासिक प्रतीत होता है। मैंने अन्यत्र प्रतिपादित किया है कि इस कथा में हरिषेण के पुत्र के काल की विदर्भ की परिस्थिति वर्णित है।[1] इस कथा के अनुसार ऋषीकेश्वर विदर्भ-नृपति का माण्डलिक था। इससे भी प्रतीत होता है कि खानदेश के राजकुल ने वाकाटकों का स्वामित्व स्वीकार किया था।

कृष्णदास के पुत्र के अनन्तर इस कुल का क्या हुआ, यह ज्ञात नहीं है। वाकाटकों के अस्त के पश्चात् उदित कलचुरियों ने उत्तर महाराष्ट्र और विदर्भ प्रदेशों पर अपना स्वामित्व स्थापित किया। आद्य-कलचुरि नृपति कृष्णराज की रजत-मुद्राओं के संचय खानदेश की सीमा पर स्थित नासिक और बरार के प्रदेशों में प्राप्त हुए हैं। अभी कुछ समय पूर्व कृष्णराज की इसी प्रकार की मुद्रा खानदेश में भी प्राप्त हुई है।[2] अतः इसमें संशय नहीं कि खानदेश कलचुरि नृपतियों के साम्राज्य में सम्मिलित था।

वाचन[3]

१ ⏑ – ⏑ – – – ⏑ [भव*]द्रुमाशनिं[4] प्रणम्य विद्यात्रयपारगं मुनिम् [।*]
विहारदातुर्व्यवदातकर्म्मणो[5] गुणाभिधानोपनयxकरिष्यते[6] ॥ [१॥*]

१. देखिए इस ग्रन्थ के पृष्ठ ४३ इ ; संशोधनमुक्तावलि, भाग २, पृ ८५ इत्यादि।
२. इस प्रकार की एक मुद्रा नन्दूरबार के श्री शिवलदास शम्भुभाई देसाई ने कुछ समय पूर्व मेरे पास भेजी थी।
३. हैदराबाद आर्किऑलॉजिकल सीरीज, क्रमांक १५ में दिये हुए छापे से।
४. भगवानलाल और बुल्हर ने '-मावनि' पढ़ा था, किन्तु 'मा' के पूर्व 'द्रु' अक्षर है। अतः 'द्रुमाशनि' पाठ के विषय में शंका नहीं है। प्रस्तुत कवि ने १२वें श्लोक में भी 'अशनि' शब्द का प्रयोग किया है।
५. बुल्हर ने 'कर्मणो' पढ़ा, किन्तु छापे में 'म्म' का निचला 'म' स्पष्ट दिखाई देता है।
६. वृत्त-वंशस्थ।

२ ⏑ – ⏑ – – – ⏑ ⏑ [पा*]लनेन[1] लब्धात्मभावस्य नराधिपस्य[।*]
धृतातपत्रस्य बभूव पुत्रस्सितातपत्रो धृतराष्ट्रसंज्ञः[2] [।।२।।*]

⏑ ⏑ – ⏑ ⏑ – ⏑ – स्य राज्ञो हरिसाम्बोम्बुरुहेन्दुकान्तवक्त्रः [।*]
नृपतेस्तनयो बभूव तस्याप्यमलश्रीः क्षितिप.लशौरिसाम्बः[3] ।। [३।।*]

४ ⏑ ⏑ – ⏑ ⏑ – ⏑ – ⏑ [ते]न पृथुकीर्तिर्द्युतिमानुपेन्द्रगुप्तः [।*]
समभूद[वर]स्सुतोथ तस्य क्षितिपxकाच इति प्रकाशनामा ।। [४।।*]

५ ⏑ ⏑ – ⏑ ⏑ – ⏑ – ⏑ – – द्युति[6]कीर्तिन्यसनाय भिक्षुदासः [।*]
प्रथितो भुवि नीलदासनामा नृपतिस्तस्य सुतो नराधिपस्य ।। [५।।*]

६ ⏑ ⏑ – ⏑ ⏑ – ⏑ – ⏑ – [रैः] प्रथितxकाच इति प्रदीप्तकीर्त्तिः [।*]
नृपतेरथ तस्य कृष्णदासः कुलवंशद्युतिवर्द्धनो बभूव ।। [६।।*]

७ ⏑ ⏑ – ⏑ ⏑ – ⏑ – ⏑ – – स्तनया चन्द्रकरावदातवेशा [।*] अभ-
वत्परिपूर्णचन्द्रवक्त्रा विनयाचारविभूषणातिचन्द्रा[7] ।। [७।।*]

१. भगवानलाल ने '-नेश' पढ़ा, किन्तु इस संदर्भ मे उसका अर्थ नही लगता। बुल्हर का पाठ 'नेन' ठीक है। उसके पूर्व 'ल' का चिह्न है। यहाँ का पाठ 'नास्ता जनपालनेन' रहा होगा।
२. वृत्त-उपजाति।
३. श्लोक ३-७ का वृत्त-औपच्छन्दसिक।
४. भगवानलाल ने 'नेश' पढ़ा। बुल्हर ने भी दूसरे अक्षर को 'श' ही पढ़ा, किन्तु छापे पर 'तेन' पाठ दिखाई देता है।
५. भगवानलाल ने सन्दिग्ध रूप से 'दगजः' पढ़ा और सुझाव दिया कि वह कदाचित् 'दवरः' रहा होगा। बुल्हर ने भी कहा है कि 'दव' स्पष्ट है। इस स्थल का पाठ '-दपरः' रहा होगा।
६. भगवानलाल और बुल्हर ने 'द्भुवि' पढ़ा, किन्तु इसका दूसरा अक्षर निश्चित रूप से 'ति' है और पहिला बहुत करके 'द्यु' होना चाहिए।
७. भगवानलाल ने 'चन्द्रा' ही पढ़ा, किन्तु बुल्हर ने 'सुचन्द्रा' पढ़ा। 'चन्द्रा' के पूर्ववर्ती अक्षर पर अर्धवृत्त दृष्टिगत होता है। 'चन्द्र' शब्द का पुनः पुनः प्रयोग किया गया है; अतः सम्भव है रानी का नाम 'चन्द्र' शब्दान्त रहा हो। कदाचित् वह 'अतिचन्द्रा' रहा होगा।

८ – – ⏑ – – – ⏑ ⏑ – ⏑ – – [अ*]र्थिस्थलो[1]द्यो(द्यो)तकरीमबाप [।*]
तस्यां च तस्याम्बुरुहायताक्षावुत्तप्तचामीकरकान्तरूपौ[2] ॥[८॥*]

९ ⏑ – ⏑ – – – ⏑ ⏑ – ⏑ – – [प्रद्यु]म्नसाम्बप्रतिमौ कुमारौ [।*]
धराधिपाख्यां[3] प्रथमो बभार दध्रे द्वितीयो [र]विसाम्ब[4]संज्ञाम्[5]
॥ [९॥*]

१० ⏑ – ⏑ – – – ⏑ ⏑ – ⏑ – ⏑ –, ⏑ – ⏑ [नीयोच्छ्रित[6]]मश्मकादि
[कम्] [।*] [कृ]तार्थसत्वा(त्त्वा)[व]भिभूय[7] भूयसा रराजतुश्चन्द्रदिवा-
कराविव[8] ॥ [१०॥*]

११ ⏑ – ⏑ – – – ⏑ ⏑ – ⏑ – ⏑ –, ⏑ – ⏑ – – ह निबद्धमानयोः[9]
[।*] विवृद्धसोहार्दयश×प्रतानयोस्सदानुकूल्येन सुखं विजह्रुषोः[10] ॥

१२ ⏑ – ⏑ – – – ⏑ ⏑ – ⏑ – ⏑ – [अमानै[11]वैरप्यनिवार्य्यशासनः [।*]

१. इन तीन अक्षरों का वाचन यहां पहले पहल किया गया है। इस श्लोकार्ध का वर्णन रानी के 'अतिचन्द्रा' नाम से सूचित प्रतीत होता है।

२. वृत्त-इन्द्रवज्रा (किंवा उपजाति)।

३ यहां पूर्ववर्ती सम्पादको ने भिन्न भिन्न वाचन किये है। 'धराधिपत्ये प्रथमावतारम्' (भाऊ दाजी)· 'एकाधिपत्यप्रथमावतारम्' (भगवानलाल); 'एकाधिपत्यं प्रथमो बभार' (बुल्हर)। नवीन छापे को देखने से स्पष्ट होगा कि ऊपर दिया हुआ वाचन समीचीन है।

४. भाऊ दाजी ने 'रविसाम्ब–' पढ़ा और परवर्ती सम्पादको ने यही पाठ स्वीकार किया है। इस नाम का पहिला अक्षर अस्पष्ट है, तथापि 'हरिसाम्ब', 'शौरिसाम्ब' आदि नामो के समान यहां 'रविसाम्ब' नाम सम्भव है।

५ वृत्त-उपजाति।

६. ये चार अक्षर यहा पहिली बार पढ़े गये हैं। वे स्पष्ट हैं।

७. भगवानलाल व बुल्हर ने 'नु ताभ्यामभिभूय' पढ़ा।

८. श्लोक १०-१३ का वृत्त-वंशस्थ।

९. ये सात अक्षर स्पष्ट हैं।

१०. भाऊ दाजी और भगवानलाल 'विजहृतोः' पढ़ा, किन्तु वह व्याकरण-दुष्ट है। उपरिलिखित पाठ सर्वप्रथम बुल्हर ने दिया।

११. यह शब्द पूरी तरह से पहली बार यही पढ़ा जा रहा है।

पुराकृतोद्भावितभीमविक्रमः कनीयसि प्राख्यदनित्यताशनि[म्][1] ॥ [१२।*]

१३ ⏑ – ⏑ – – ⏑ ⏑ – ⏑ – ⏑ –, ⏑ – – ⏑ धैर्यादिव कायधीरुजः[2] [*] अनित्यसंज्ञासचिव[3]स्तत ⏑ परं व्यवीवृधत्पुण्यमहामहीरुहम् ॥ [१३॥*]

१४ ⏑ – ⏑ – – ⏑ ⏑ – ⏑ – –, ⏑ – – नुजाततोषा[न्] [।*] भूयश्च्युतत्यागदयाप्रमोदमैत्रीक्षमावीर्यधियस्सिषेवे[4] ॥ [१४॥*]

१५ ⏑ – ⏑ – – ⏑ ⏑ – ⏑ – –, ⏑ – ⏑ – – ⏑ ⏑ – नरेन्द्रान् [।*] प्रशस्तवृत्तान्सुविशुद्धवृत्तो वृत्तेन सभ्यानुचितोनुचक्रे[5] ॥ [१५॥*]

१६ – – ⏑ – – ⏑ ⏑ – ⏑ – –, – – ⏑ – – ⏑ ⏑ – चकार [।*] अन्यार्थिकस्यार्थिजनस्तथैव[6] कीर्तिं कृतार्थः प्रथयाम्बभूव[7] ॥ [१६॥*]

१. भाऊदाजी ने 'प्रेत्य च नित्यताशनि.' और भगवानलाल ने 'प्र...शनिः' पढ़ा। 'प्रा' के बाद का अक्षर 'ख्य' है। 'धाराधिपाख्याम्' (पं ९) शब्द का 'ख्य' द्रष्टव्य है। अगले अक्षर अत्यन्त अस्पष्ट हैं। अगले श्लोक में 'अनित्य शब्द की पुनरुक्ति है।

२. यह सामासिक शब्द यहाँ पहली बार पढा जा रहा है।

३. यह समास भिन्न-भिन्न प्रकार से पढ़ा गया था—उदाहरणार्थ, 'अनित्यसंज्ञासचिव' (भाऊ दाजी); 'अचित्यसंज्ञासचिव—' (भगवानलाल); 'अचित्यसंज्ञासचिव—' (बुल्हर)। इनमे से दूसरा अक्षर निश्चित रूप से 'नि' है और पाँचवा 'ज्ञा'। अतः भाऊ दाजी का वाचन ठीक था। उनके द्वारा किया गया उसका अर्थ मात्र त्रुटिपूर्ण था। 'अनित्यसज्ञासचिवः' का अर्थ इस प्रकार करना चाहिये—'वह जिसे संसार की अनित्यता का सदा ज्ञात है'। छन्दोग्य उपनिषद्, १।२ पर शांकर भाष्य में 'सचिव' शब्द का ऐसा उपयोग किया गया है।

४. श्लोक १४-१५ का वृत्त – उपजाति।

५. सभी पूर्ववर्ती सम्पादकों ने 'सम्यक्षुभितोनुचक्रे' पढ़ा है, किन्तु छापे से वह शुद्ध प्रतीत नही होता और उसका अर्थ भी ठीक से नही लग पाता। इसका तीसरा अक्षर 'नु' और चौथा 'चि' है। अतः 'सम्यानुचितोनुचक्रे' पाठ ही सम्भव है।

६. भाऊ दाजी ने 'अन्याथिकस्याथिजन' पढ़ा था, किन्तु भगवानलाल ने इसका दूसरा अक्षर छोड़ दिया और बुल्हर ने 'अथिकस्याथिजन' पढ़ा, किन्तु यह छन्द के अनुकूल नहीं है। छापे से यहां दिया गया पाठ ठीक प्रतीत होता है।

७. वृत्त—वंशस्थ।

१७ ⏑ – ⏑ – – ⏑ ⏑ – ⏑ – –, ⏑ – ⏑ – [या]न्भ[य]विप्लुता-
न्तान् [।*] अमूमुचद्वृत्तविसर्गशक्त्या पुत्रानिवेष्टान्[1] करुणाभिमृष्ट ॥
[१७॥*]

१८ ⏑ – ⏑ – – ⏑ – – ⏑ – ⏑ –, ⏑ – ⏑ – – प्रणयेन पुत्रवत् [।*]
अनूचितवां(वान्) सोपि हि यस्य हृद्गतां विद[न्] नृवध्याशय-
शुद्धिसम्पदम्[2] ॥ [१८॥*]

१९ – – ⏑ – – ⏑ ⏑ – ⏑ – –, – – ⏑ – – ⏑ कराणि सद्यः [।*]
सर्वज्ञभावप्रणिधानसिद्धिं सत्याभिधानां विभवा[4]दपेयु[5] ॥ [१९॥]

२० ⏑ – ⏑ – – ⏑ ⏑ – ⏑ – –, ⏑ – ⏑ [स*]म्भारवयाधियोगा[त्*[6]]
[।*] यशोंशुभि[7]श्चन्द्रमरीचिशुभ्रैर्जगत्समग्रं समलञ्चकार[8]॥[२०॥*]

२१ ⏑ ⏑ – ⏑ ⏑ – ⏑ – ⏑ – –, ⏑ ⏑ – – वदनारविन्दचन्द्रे [।*] परि-
पालयति[9] क्षितीन्द्रचन्द्रे हरिषेणे हितकारिणि प्रजानाम्[10] ॥ [२१॥*]

१. भगवानलाल ने 'पुत्राभिवेष्टान्' और बुल्हर ने 'पुत्राधिवेष्टान्' पढ़ा, किन्तु इनमे से एक भी संदर्भ में ठीक नही बैठता। इसके अतिरिक्त 'ष्टा' के पूर्व का अक्षर स्पष्ट रूप से 'वे' है, 'चे' नही। अतः यहां का शुद्ध पाठ वही है जो ऊपर दिया गया है।

२. पढ़िये 'नृवद्धयाशय —'।

३. वृत्त— वंशस्थ।

४. भाऊ दाजी ने 'सत्याभिधानानि' और भगवानलाल ने 'सत्याभिधानाभि-भवात्' पढ़ा था। सन्दर्भ से प्रतीत होता है कि इस श्लोक में 'सम्पत्ति निःश्रेयसप्राप्ति मे विघ्न उत्पन्न करती है' यह शुक-वचन दिया गया है।

५. वृत्त —इन्द्रवज्रा (किंवा उपजाति)।

६. भगवानलाल ने '-म्भारवयाधियोगः' पढ़ा था, किन्तु बुल्हर के अनुसार केवल 'च' और 'योगः' ये ही अक्षर स्पष्ट हैं। प्रथम अक्षर के नीचे का व्यञ्जन 'भ' है। अन्तिम शब्द 'अधियोग' पञ्चम्यन्त होना चाहिए।

७. भगवानलाल ने 'यशोम्बुभिः' और बुल्हर ने 'यशोंशुभिः' पढ़ा। छापे से बुल्हर का वाचन ठीक प्रतीत होता है।

८. वृत्त—उपेन्द्रवज्रा अथवा उपजाति।

९. 'ल' के अनन्तर एक दण्ड निरर्थक है।

१०. वृत्त—औपच्छन्दसिक।

२२ – – ⏑ – – – ⏑ ⏑ – ⏑ – –, – – ⏑ नत्यद्भुतपुण्यराशिः ।।*।
चक्रे भुव[1] स्तूपविहारभूषां दानोदयैश्चार्त्थिजनप्रमोदम्[2] ।। ।२२।।*।

२३ – – ⏑ – – ⏑ ⏑ – ⏑ – –, – – नाकुलनादवद्भिः[3] ।।*। नित्यं
वितानार्थधिया वहद्भिरम्भोधरैश्श्रीमति सह्यपादे[4] ।। ।२३।।*।

२४ ⏑ – ⏑ – – ⏑ ⏑ – – – –, ⏑ – ⏑ गम्भीर्य्यगुणैरुपेतम् ।।*।
निवेशितान्तर्मुनिराजचैत्यमेकाश्मकं मण्डपरत्नमेतत्[5] ।। ।२४।।*।

२५ ⏑ – ⏑ – – ⏑ ⏑ – ⏑ – –, ⏑ – ⏑ – – विपुलां विसृज्य ।।*।[6]
अचीकरद्दित्यममानकल्प[7]मल्पात्मभि. कल्पनयाप्यशक्यम् ।। ।२५।।*।

२६ ⏑ – ⏑ – – ⏑ ⏑ – ⏑ – –, ⏑ – – ⏑ – – नयनाभिरामम् ।।*।
न्यवीविशत्साधुलघुप्रसन्नशीत[8]प्रकामाम्बुमहानिधानम् ।२६।।*।

२७ ⏑ – ⏑ – – ⏑ ⏑ – ⏑ – –, ⏑ – – – नेत्रमनोभिरामम् ।।*।
अन्यांगदेशेस्य दिशि प्रतीच्यामकारयद्गन्धकुटीमुदाराम् ।। ।२७।।*।

१. बुल्हर ने 'भुवः' पढ़ने का सुझाव दिया है, किन्तु उसकी आवश्यकता नहीं है। इसका विसर्ग पाणिनि, ८।३।३६ पर कात्यायन के वार्तिक से लुप्त हो गया है।

२. श्लोक २२-२३ का वृत्त –इन्द्रवज्रा (किंवा उपजाति)।

३. यही वाचन भाऊ दाजी ने दिया था। भगवानलाल ने 'नानिलनादवद्भिः' पाठ सुझाया, किन्तु इसका अर्थ ठीक से लगता नहीं। बुल्हर ने 'नाद' शब्द के पूर्व के दो अक्षर छोड़ दिये हैं।

४. यह श्लोकार्ध पूर्णरूप से यही पढा गया है। अजंता पर्वत का 'सह्यपाद' शब्द से वर्णन पूर्ववर्ती सम्पादकों के ध्यान मे नही आया था।

५. श्लोक २४-२७ का वृत्त—उपजाति।

६. सभी पूर्ववर्ती सम्पादको ने 'अचीकरच्चैत्यम्' पढ़ा था, किन्तु 'र' के बाद का संयुक्त व्यंजन द्द' है 'च्च' नही। दान के अर्थ मे 'दित्य' शब्द का प्रयोग तत्कालीन उत्कीर्ण लेखो मे प्राप्त होता है।

७. पिछले सम्पादको ने इसका वाचन भिन्न भिन्न प्रकार से किया है— '–मिहानकल्पम्' (भाऊ दाजी और बुल्हर): '–महीनकल्पम्' (भगवानलाल)। पहिले 'म' के ऊपर का अर्धवृत्त मिटा हुआ दिखता है। उसके बाद का अक्षर 'मा' है, 'ही' नहीं।

८. भगवानलाल ने 'प्रसन्नं' पढ़ा, किन्तु छापे मे 'स्न' के ऊपर अनुस्वार दृष्टिगत नही होता।

२८ ⏑ – ⏑ – – ⏑ ⏑ – ⏑ – ⏑ –, [जग]द्धितायोद्यतसर्व्वकर्म्मण[:] [।*] मुनीन्द्रभाव[1]प्रणिधानसिद्धये भवन्त्वभीष्टा भुवि सर्व्वसंपद:[2] ॥ [२८॥*]

२९ ⏑ – ⏑ – – ⏑ ⏑ – ⏑ – ⏑ –, ⏑ – ⏑ – सप्रणयेन मण्डप: [।*] करोतु तावत्कुशलोदयं सतां विहन्ति[3] यावद्रविरंशुभिस्तम: ॥ [२९॥*]

१. भाऊ दाजी का त्रुटिपूर्ण वाचन मुनीन्द्रनाथ' भगवानलाल व बुल्हर ने भी स्वीकार किया है, किन्तु उसमें पुनरुक्ति दोष है। यहाँ दिये हुए वाचन की श्लोक १९ के सर्वज्ञभावप्रणिधानसिद्धिम्' के साथ तुलना कीजिये।

२. २८ २९ का वृत्त—वंशस्थ।

३. यही वाचन भाऊ दाजी ने दिया था, किन्तु भगवानलाल ने इसे गलती से 'निहन्ति' पढ़ा और वही बुल्हर ने स्वीकार किया।

परिशिष्ट

देवसेन का बोराले शिलालेख

उपलब्धि—प्रस्तुत ग्रन्थ का अधिकांश मुद्रित हो चुकने पर वाशीम के निकट बोराले नामक ग्राम में वत्सगुल्म शाखा के राजा देवसेन का एक शिलालेख प्राप्त हुआ। यह अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है किन्तु नागपुर महाविद्यालय के प्राचार्य डॉ. वि. भि. कोलते की कृपा से मुझे उसकी छाप देखने को मिली। इसी छाप के आधार पर इस लेख के विषय में यहां संक्षिप्त जानकारी दी जा रही है।

वर्णन—जिस शिला पर यह लेख उत्कीर्ण किया गया था, उसके अब तीन टुकड़े हो गये हैं। लेख कुल चार पंक्तियों का है। प्रथम पंक्ति के आरम्भ में कुछ अक्षर अब नष्ट अथवा अस्पष्ट हो गये हैं। लेख का अवशिष्ट भाग अच्छी स्थिति में है।

लिपि एवं भाषा—वाकाटकों के अधिकांश लेखों की भांति यह लेख भी पेटिकाशीर्षक लिपि एवं संस्कृत भाषा में लिखा गया है।

लेख का काल—इस लेख के आरम्भ में काल-निर्देश था, किन्तु अब वह दुर्ज्ञेय हो गया है। उसके अन्त के अक्षर एवं संख्या स(श)कानां ३०० ८० मात्र स्पष्ट हैं। इससे यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत लेख शक संवत् ३८० (ई. स. ४५८-५९) में उत्कीर्ण किया गया था। यह लेख वत्सगुल्म शाखा के राजा देवसेन के राजत्व-काल में कोरा गया था। हमने अनुमान से इस राजा का काल ई. स. ४५० से ४७५ तक निश्चित किया था (द्रष्टव्य पृ. ९-१०), जिसकी इस काल-निर्देश से पुष्टि होती है।

विषय—प्रस्तुत लेख का प्रयोजन वाकाटक राजा देवसेन के आज्ञाकारी सेवक आर्य (सच्छील) स्वामिल्लदेव द्वारा (बोराले में) समस्त प्राणियों के हित के लिए सुदर्शन नामक एक तालाब के निर्माण का उल्लेख करना था। लेख के अन्त में यह इच्छा व्यक्त की गई है कि 'जब तक चार युग चलते रहें और जब तक चन्द्र-सूर्य एवं पृथिवी विद्यमान रहे तब तक मेरा यह उत्कृष्ट सरोवर परमेश्वर की कृपा से सबके उपयोग के लिए स्थिर रहे'। अन्त में सरोवर के 'कर्मोपदेष्टा' (अधीक्षक) नाते बप्पक का नाम आया है।

लेख का महत्त्व—अब तक देवसेन का केवल एक उत्कीर्ण लेख ज्ञात था और वह भी अपूर्ण था (क्रमांक २४)। अतः प्रस्तुत लेख का विशिष्ट महत्त्व है। वाकाटको के अन्य लेखो मे उनके राजत्वकाल के वर्ष दिये गये हैं, किन्तु केवल इसी लेख में शक संवत् के वर्ष का उल्लेख है। शक क्षत्रियों के राज्य में जूनागढ़ के समीप चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में खोदा हुआ 'सुदर्शन' नामक सुप्रसिद्ध तालाब था। स्वामिल्लदेव द्वारा बोराले मे खुदवाये हुए तालाब को भी 'सुदर्शन' नाम दिया गया था। स्वामिल्लदेव का वर्णन करते हुए 'आर्य' विशेषण का प्रयोग किया गया है। इसी विशेषण का उपयोग जूनागढ़ के निकटवर्ती सुदर्शन तालाब की मरम्मत करनेवाले पह्लव सुविशाख के लिए शक क्षत्रप रुद्रदामन् के गिरनार प्रस्तरलेख में किया गया है। इन सब कारणो से ऐसा प्रतीत होता है कि इस तालाब का निर्माण करानेवाला स्वामिल्लदेव सम्भवतः क्षत्रपो के राज्य से आया था। वाकाटको के राज्य में शक क्षत्रपो की अनेक मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं, जिनसे इन दोनो राज्यो का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट होता है।

सूची

अंगुलीयक ६८
अजकर्ण २०६
अजंता की गुहाएं ४, ४१, ४२, ६०-७०, १००-१२०
अजातशत्रु ६१
अज्झितभट्टारिका ३२, ५१, २२५
अंजनवाटक १७५-१७६
अन्तरावासक ६५
अन्तरीयक ६२
अभिनवगुप्त ८३
अर्थपति ३६
अर्थशास्त्र (कौटिलीय) २३७
अवगुंठन ६७
अवन्ति ४१, २५८-५९
अवन्तिसुन्दरीकथा ७९, ८१, ८९
अविधेय ३३
अश्मक ३९, ४३-४४, २०७, २७९, २८०
अश्वत्थखेटक ७३, १९८, २०२
अश्वत्थनगर ४७, १६९, १७१
असिभुक्ति ४७, १४७, १४८
आकासपट्ट २४४, २४६
आदित्यसेन २
आनन्दवर्धन ८१-८३, ८७
आन्ध्र १९, ४३, २६०
आभीर नृपति ७, १९, २८०
आरंग २३०
आरम्भि ८६, १८१, २०६, २०७
आरामक १७५, १७६
आहार ४६, ४७
आज्ञप्ति ५३
इक्ष्वाकुवंशी राजा १९
इन्द्र २२९
ईशान २२९
ईश्वर २२९
उच्चकल्पवंशी राजा ८, १३, १४, ३७, २३८
उत्तरमार्ग २४४
उत्तरराष्ट्र २२९
उत्तरासंग ६५
उदयसुन्दरीकथा २५९
उपक्लृप्त ५४
उपेन्द्रगुप्त २७५, २७७, २७८
उमा नदी ४८, १४१, १४३
ऋक्षवत् १२, २२
ऋषीक ४२-४४, २८०
एकादशीव्रत ७६
एकार्जुनक ९२, १९३
कलचुरि वंश ४२, ४३
कदबगिरिग्राम ३६
कदंबसरक १९२
कदापिञ्जन १३७
करञ्जविरक ४७, १६३
कर्णसुन्दरी २७
कर्पूरमञ्जरी २४६
कलिंग ४१, २५७, २५९
कल्लार २०६, २०७
कवीन्द्रवचनसमुच्चय ७९
काकपक्षक ६६
काच, प्रथम २७५, २७७
काच, द्वितीय २७५, २७८

कांची ६९
कात्यायन ५३, ५८
कामसूत्र ३९, २४६
कालिदास २८, ३०, ३१, ३३, ४८, ५५, ५८, ७९, ८०, ८६, १९८-२००
कालुट्टक ५७, १४१
काव्यमीमांसा ७८, २४६
किलकिल (कोलिकिल) २०
कीर्ति ४०, २६७, २६८
कुन्तक ८३
कुन्तल २५, ३२, ३३, ३९, ४१, २२५, २५८, २५९
कुन्तलेश ३३, ३९
कुन्तलेश्वरदौत्य ३३
कुराल २६
कुलपुत्र ५१
कुशाण नृपति ४, २४
कूर्पासक ६४
कृष्णदास २७५, २७८, २७९
कृष्णराज १५, ४२, ४५
क्लृप्त ५४
कोकण ४३
कोथुरक १४१, १४२
कोल्लपूरक १६३
कोविदारक १७५, १७६
कोशम्ब १७५, १७६
कोशम्बखण्ड १७६, १८७
कोसला (कोसल) १३, ३३-३५, ४१, २२५, २३०, २५९
कौशिक मार्ग ४७, १६९, १७१
क्षत्रप २९०
गग नृपति ४१, ४५
गणपतिनाग २६
गण्डक ५४, २३०, २३१
गर्दभिल राजा १९
गाथाकोश ९१
गाथासप्तशती ३९, ८४-८८
गुप्तनृपति ४, ७, ७८
गुलवाडा की गुहा ४२, ११७-१२०
गृध्रग्राम १९२
गेपुरक मार्ग ४७, १७५, १७६
गौतमीपुत्र ५, ७, १०, २४, २५, २४६
ग्रामकूट ५३, १३०
घटोत्कच गुहा १८, ४१, ७४, २६६-२६९
चटुलातिलक ६८
चडातक ६३
चनका १२
चनालस्वामी ५७, १३६
चन्द्र ५८, १६८
चन्द्रगुप्त, द्वितीय ३, ८, २९, ३०, ७८, ८६
चन्द्रपुर १८१
चमिदास ५१, ५३, ५८, १८३
चमुना १६
चर्माङ्क ४८, १५६
चान्द्रपुर १८६, १८७
चिचापल्ली १४१, १४२
चित्रवर्मन् ५३, ५८, १४७
चेदि देश ३७
छप्पण्णय ९०, ९१
छात्र ५१
जमली १८६, १८७
जयनाथ ९, १३, ३७, २३८
जयबल ४९, २२९
जातककथाएं १०१, १०९-११६
ताकालक्खोप्पक २४४, २४६
तिलक ६०
तिलकमणि ६८
तुषार २०

त्रिकूट ११, ४१, २५८, २५९
त्रैकूटक ११
दङ्गुणग्राम ४७, १३६, १३७
दण्डनायक ५२, २५१
दयितवर्मन्, प्रथम २३०
दयितवर्मन्, द्वितीय २३०
दर्भमलक १८०
दर्भविरक ४७, २१३, २१४
दशकुमारचरित ४३-४५, ५१, २८०, २८१
दशपुर ३४
दामोदरसेन ८, १०, ३०, १६८, १७०
दिवाकरसेन ३, ८, १०, २९ ३०, १३६
दीर्घद्रह १४७, १४८
दूतक ५३, ५७, १६९
देव १८, २४, ७१, २६६, २६८
देवगुप्त २
देवनन्दस्वामिन् ५८, १६९
देवराज (राष्ट्रकूट) ३३, ४०
देवराज (वाकाटक देवसेन) २६०
देववारिक ५३, २३०, २३१
देवसेन ९, १०, ४०, ४१, ४९, ११८, २६७, २६८
दौवारिक ५३, २३७
द्रौणभट्टारिका २२९
द्रौणमुख २३१
द्रोणाग्रकनायक ५३, २३१
द्विवेद ५७
धर्ममहाराज १७, २३, ३९, ४०, २४५
धर्मस्वामिन् २५२
ध्रुववासक २०६, २०७
धृतराष्ट्र २७५, २७७
नन्दिवर्धन २९, ८०, १३५, १३७, १४१, १४२, १४७
नर्मदास ५३, ५८, १८१
नरत्तङ्गवारि १८६, १८७
नरेन्द्रसेन ८, १०, १३, १४, ३२-३४, ५१, ९६, २२५
नल राजा ६, २५, ३५, ३६, ५०
नागदत्त २६
नाग राजा ४, २५
नागबल ३४, २२९
नागसेन २६
नाङ्गरकटक ४६, २५१, २५२
नान्दीकट (नान्दीकड) ४०, ४६, २४४, २४६
नासिक्य ४४
नीलदास २७५, २७८, २७९
नीलीग्राम १९२
पञ्चगर्ता ४९, २२९, २३१
पथक ४०
पद्मपुर ३६, ७२, २२१, २२३
पद्मावती २४, २६
पयोधरपट ६४
पल्लव राजा ४, १७
पवरज्जवाटक ४७, १६३
पाक्कणराष्ट्र ४६, १४७, १४९
पांडववंशी राजा १४, ३४, ९६, २२९, २३०
पादलिप्त ८९
पिष्टपुर २६
पीताबर ८४, ८७
पुरिका १२, २१, २२, २८
पुलुमावि (द्वितीय) ४४
पृथिवीराज (पृथिवीषेण, प्रथम) १९
पृथिवीषेण, प्रथम ८, १०, २७-२९, ४८, ४९, १४१, ३०६, २५४, २५७
पृथिवीषेण, द्वितीय ८, १०, १३, १४, ३२, ३६, ३७, ९९, २२४, २२५, २३६-२३८

प्रतीहार ५३, २३१
प्रभाकर ३४
प्रभावतीगुप्ता ३, ८, २९, ३०, ५६, ५७, ७२, ७३, १३४-१३७, १६७-१७१, २५२
प्रभुसिंह ५८, १६९
प्रवर २६७, २६८
प्रवरपुर ३१, ३६, ७३, ९२-९५, १५६, १८१, १९७
प्रवरसेन, प्रथम ४, ५, ७, १०, ११, १५, १७, १८, २२-२४, ३८, ७१, २४४, २४५, २५४, २६८
प्रवरसेन, द्वितीय (नन्दिवर्धन शाखा) ८-१०, १४, ३०-३२, ७१-७३, ७५-८८, ९०, १२२-१२५, १४०-२१९
प्रवरसेन द्वितीय (वत्सगुल्म शाखा) ४०, २५८
प्रवरेश्वर ४८, ७२, ९२
प्रवरेश्वरषड्विंशतिवाटक ४७-४८, ७२, १४७, १४८, २०५
प्रवीर (प्रथम प्रवरसेन) २४
प्राकृत गाथा (वाकाटक राजाओं की) १२१-१२५
बप्पक २८९
बदरीग्राम २०६, २०७
बाप्पदेव ५३, १६३, १९२
बम्हनी २२८, २३१
बाणभट्ट ८६
बिभीषण २३०
बिंबिसार ६१
बिल्हण २८
बेण्णाकार्परभोग ४७, १६३
बेन्नाकट ४६, १८६, १८७
बोधिक १६
बोधिकवाटक ४७, १४१, १४२
ब्रह्मपूरक १६३, २१३, २१४
ब्राह्मणवाटक २०६
भट ५१, ५२, २५१
भरतबल १४, ३४, ९६, २२८-२३५
भवदत्तवर्मन् ३५, ३६, २२२
भवनाग २३, २४, २६
भवभूति ३७, ८८, २२२
भवस्वामिन् २५१
भारशिव २३, २४, १४१
भिक्षुदास २७५, २७८, २७९
भीमसेन, प्रथम ३४, २३०
द्वितीय २७, ३५, २३०
भुक्ति ४६, ४७
भुलुण्ड २७९, २८०
भुवनपाल ८४, ८७
भोग ४६, ४७
भोज ८३
भोजक २५१
भोजकट ४६, १५६
मघ राजा ३४
मणिमेखला ६९
मण्टराज २६
मण्डुकिग्राम ४७, १४३, १४२
मधुकज्झरी २१३, २१४
मधुनदी ४८, १५६
महल्लाट १४७, १४८
महल्लमलाट १४७, १४८
महापुरुष (विष्णु) ७३, १९८
महावीरचरित ३७
महिष १९
महेन्द्र २६, ३५
माण राजा ५, २०
माधववर्मन् (प्रथम) ४५

मानपुर ५, ३२, ३९
मानाङ्क ५, ३२, ३९
मार्ग ४७
मालव १४, ३३, २२५
मालविकाग्निमित्र २८
माहिष्मती ४४, ४५
मिल्लुकद्रथ २१३
मिहिरक २२९
मुरल ४३
मुरुण्ड १९, २०
मूलक २८०
मृच्छकटिक ५९
मेकलसुता (नर्मदा) ३४
मेकला १३, १४, ३२, ३४, ३५, ३७, ४६, ५०, २२९-२३१
मेघदूत ३०, ३८, ६९, ७९, ८०, १७०
यप्पज्ज २५१, २५२
यवन १९, २०
यशपुरमार्ग ४७, २१३
यज्ञपति १८, ७१, २६६, २६८
याज्ञवल्क्यस्मृति ५२
रघुवंश ५५, ६७
रज्जुक (रजुक) ५२, १७६
रवि १७, ३८, ५६, २६०, २६८
रविसाम्ब ७५, २७५, २७८
राजतरंगिणी ८५
राजशेखर २८, ७८, २४६
राज्याधिकृत ५१, १८६
रामगिरि २९, ५७, ७२, ७३, ८०, १७०
रामगिरिस्वामिन् ७३, ८०, ९२, १६९
रामदास ८६
राष्ट्र ४६
राष्ट्रकूट (मानपुर के) ५
राहसिक ५२, २२९
रुद्रदामन् प्रथम
रुद्रदामन्, द्वितीय २२
रुद्रदास २८०
रुद्रदेव १२, १३
रुद्रसिंह, द्वितीय २२
रुद्रसेन, प्रथम ७, १०, १२, १३, १५, २५-२७, ७२, १२८-१३३, २४५
रुद्रसेन, द्वितीय ३, ७, १०, २८, २९, ५६, ७२, १३६, १४१
लाट ४१, २५८, २५९
लिपि, पेटिकाशीर्षक २, २९, १३१, १४०, १४६, १५३, १५५, १६७, १७४, १८०, १८५ इ,
लिपि, कीलशीर्षक २९, १३४, २२८, २३८
लेखपल्लिका २०६, २०७
लोकप्रकाशा ३४, २२९, २३०
लोहनगरभोग ४७, १९८, २००
लोहित २०९
वक्रोक्तिजीवित ८३
वच्छोमी रीति ८५
वटपूरक १६३
वत्सगुल्म ५, ३८, ३९-४१, ८५, २४४, २४६, २५१, २५२
वत्सराज ३४, २२९
वरदाखेटमार्ग ४७, १९८, २००
वराह (नल राजा) ३६
वराहदेव (सचिव) १८, ४१, ४३, ७४, ११८, २५४-२७४
वर्धमानक २२९
वल्लूर १८, २०, ५६, ७१, २६७, २६९
वाकाटक (गृहपति) १६, १७, २०, ७१, २६८
वात्स्यगुल्म २५१, २५२
वात्स्यायन ३८, २४६
वारुच २०३, २०७

विक्रमादित्य ३१
विजयपल्लीवाटक २०६, २०७
विष्णुकड सातकर्णि २३
विद्वशालमञ्जिका २८
विन्ध्यशक्ति, प्रथम १, ४, ७, १०, १२, १८, २०, २१, २५४, २६८
—द्वितीय ४, १०, ३९, २४३-२५०
विन्ध्यसेन ५, ९, २५७, २६८
विलवण १३६, १३७
विषुववाचनक ७६, १८२
विष्णु २४४
विष्णुकुडि राजवंश १८, ४२, ४५
विष्णुवृद्ध गोत्र २, ५६, १४१
वीरसेन १५
वेण्णा नदी ४८
वेम्बार २२५
वेलुसुक १८२
वैकक्षक ६३, ८५
वैदर्भी रीति ७९
वैश्रवण ३४
व्याघ्रदेव (उच्चकल्प) ८, ९, १३, १४, २२, ३७, ९९, २३६-२४१
व्याघ्रराज (महाकान्तार का) २६
शकक्षत्रप ८, २८
शक राजा ५, ६, २०
शक संवत्
शरभपुर के राजा ४२
शाब ४८
शालंकायन राजवश ४१
शिव २२९
शिवस्कन्दवर्मन् १७
शिशुक १२
शीर्षग्राम ४७, १३६
शुक्रनीतिसार २३१
शूरवंश २३०
शृंगारप्रकाश ८३
शैलपुरमार्ग ४७
शौरिसाम्ब २७५, २७७
श्रीधरवर्मन् २०
श्रीपर्णका २१३, २१४
श्रीपर्वतीय १९
श्रीराम ४०, ३६७
संगमिका २०७
संघाटी ६५
सदुक्तिकर्णामृत ७९
सान्धिविग्रहिक ७६
समुद्रगुप्त २६, २७, ३५,
सरस्वतीकण्ठाभरण ८३
सर्वसेन ५, ९, १०, १८, २५, ३९, ८०-७५, १२१, १४४, १४५, २५७, २६८
सर्वाध्यक्ष ५१
सह्य ४८, २७९
सातवाहन राजा ७, १९
सालाहण (सातवाहन) ८९
सुदर्शन २८९, २९०
सुन्दरामार्ग ४७
सुन्धातिभार्ग ४७, २१३ २१४
सुविशारव २९०
सुवीथि १०१
सेतु ८९
सेतुबन्ध ३१, ८५-८७
सेनापति ५३
सोड्ढल २५९
सोम ५६, २६७, २५८
सोमवंशी राजा ६५
स्कन्दगुप्त ३३
स्वामिदास २७९, २८०

स्वामिराज १५, ४२
स्वामिल्लदेव २८९, २९०
हरिवंश २२, ८२
हरिविजय ३९, ८०-८४
हरिषेण (सांधिविग्रहिक) ७८
हरिषेण (वाकाटक राजा) ९, १०, ४१-४४, ४९, ७४, १००, ११०, २५४-२५६, २५८, २५९, २६८, २७९, २८१
हरिसांब २७५, २७७
हर्षचरित ६८, ८६
हस्तिकोश २०८
हस्तिभोज १८, ४९, ११८, २५४, २५६, २५८, २६५-२६९
हारीतीपुत्र १७, ५०, २४४
हिरण्यपुर ४७, १८०, १८१
हिरण्या नदी ४८, १८१, १८३
हूण ३३

महामहोपाध्याय डॉ. वा. वि. मिराशी के अन्य संशोधनपर ग्रन्थ

English

1. Inscriptions of the Kalachuri-Chedi Era (Corpus Inscriptionum Indicarum, Vol. IV) pub. by Archaeological Department of the Government of India, Rs. 125.
2. Inscriptions of the Vākāṭakas (Corpus Inscriptionum Indicarum, Vol. V) pub. by Archaeological Department, Rs. 40.
3. Studies in Indology, Vol. I (pub. by the Vidarbha Saṁshodhan Maṇḍal, Nagpur), Rs. 15.
4. Studies in Indology, Vol. II (pub. under the auspices of the Vidarbha Saṁshodhan Maṇḍal), Rs. 20.
5. Studies in Indology, Vol. III (Ancient Indian Coins) (pub. by the Nagpur University), Rs. 12.

Marathi

6. कालिदास (A Comprehensive Work on the Date, Life and Works of Kālidāsa) pub. by the Venus Prakashan, Poona, Rs. 6.
7. संशोधनमुक्तावलिः सर पहिला pub. by the Vidarbha Saṁshodhan Maṇḍal, Nagpur, Rs. 4.
8. संशोधनमुक्तावलिः सर दुसरा pub. by the Vidarbha Saṁshodhan Maṇḍal, Nagpur, Rs. 4.
9. संशोधनमुक्तावलिः सर तिसरा pub. by the Vidarbha Saṁshodhan Maṇḍal, Nagpur, Rs. 4.

10. संशोधनमुक्तावलिः सर चौथा pub. by the Vidarbha Saṁshodhan Maṇḍal, Nagpur, Rs. 4.

11. वाकाटक नृपति आणि त्यांचा काल pub. by the Nagpur University, Rs. 5.

12. कलचुरि नृपति आणि त्यांचा काल pub. by the M. P. Shāsana Sāhitya Parishad, Govt. Book Depot, Nagpur, Rs. 2.

13. मेघदूतांतील रामगिरि अर्थात् रामटेक pub. by the Vidarbha Saṁshodhan Maṇḍal, Nagpur, Rs. 3.

Hindi

14. कालिदास (A comprehensive Work on the Date, Life and Works of Kālidāsa) pub. by the Hindi Grantha-ratnākara, Bombay, Rs. 6.

15. मेघदूत में रामगिरि अर्थात् रामटेक pub. by the Vidarbha Saṁshodhan Maṇḍal, Nagpur, Rs. 3.

16. वाकाटक नरेश और उनका काल to be published by the M. P. Shāsana Sāhitya Parishad, Bhopal.

Oriya

17. कालिदास pub. by the Utkal University, Bhuvaneshwar.

प्लेट १—रामटेक में त्रिविक्रम की मूर्ति

PAGE 2

प्लेट २—भरत-भेट

प्लेट ३—वालिवध

प्लेट ४–(क)
पवनार में प्राप्त
गंगा की मूर्ति

४–(ख) पवनार में प्राप्त गंगा की मूर्ति पर अभिलेख

प्लेट ५
तिगवा में मन्दिर

प्लेट ६—तिगवा के मन्दिर में गंगा की मूर्ति

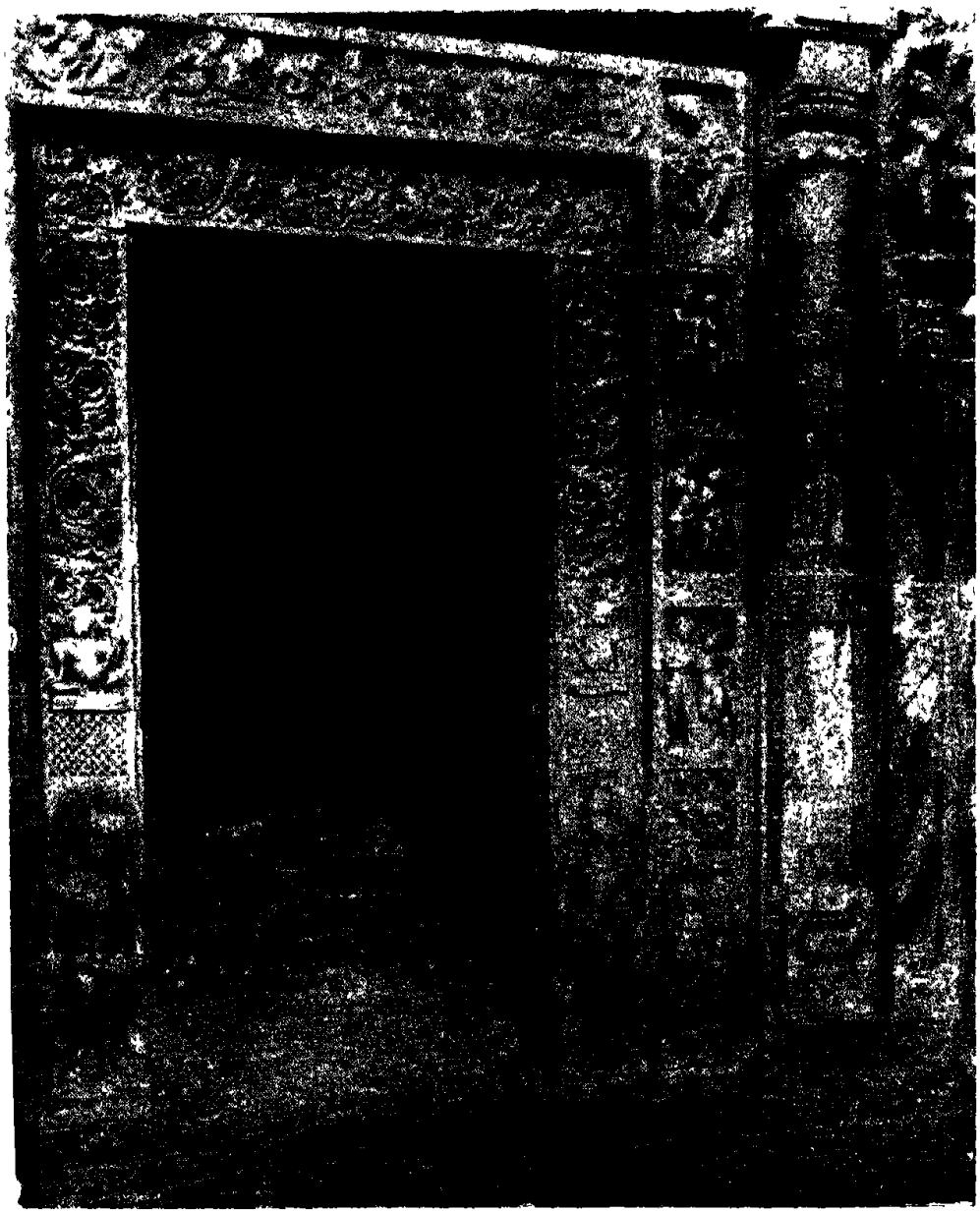

प्लेट ७—नचना के मन्दिर का दरवाजा

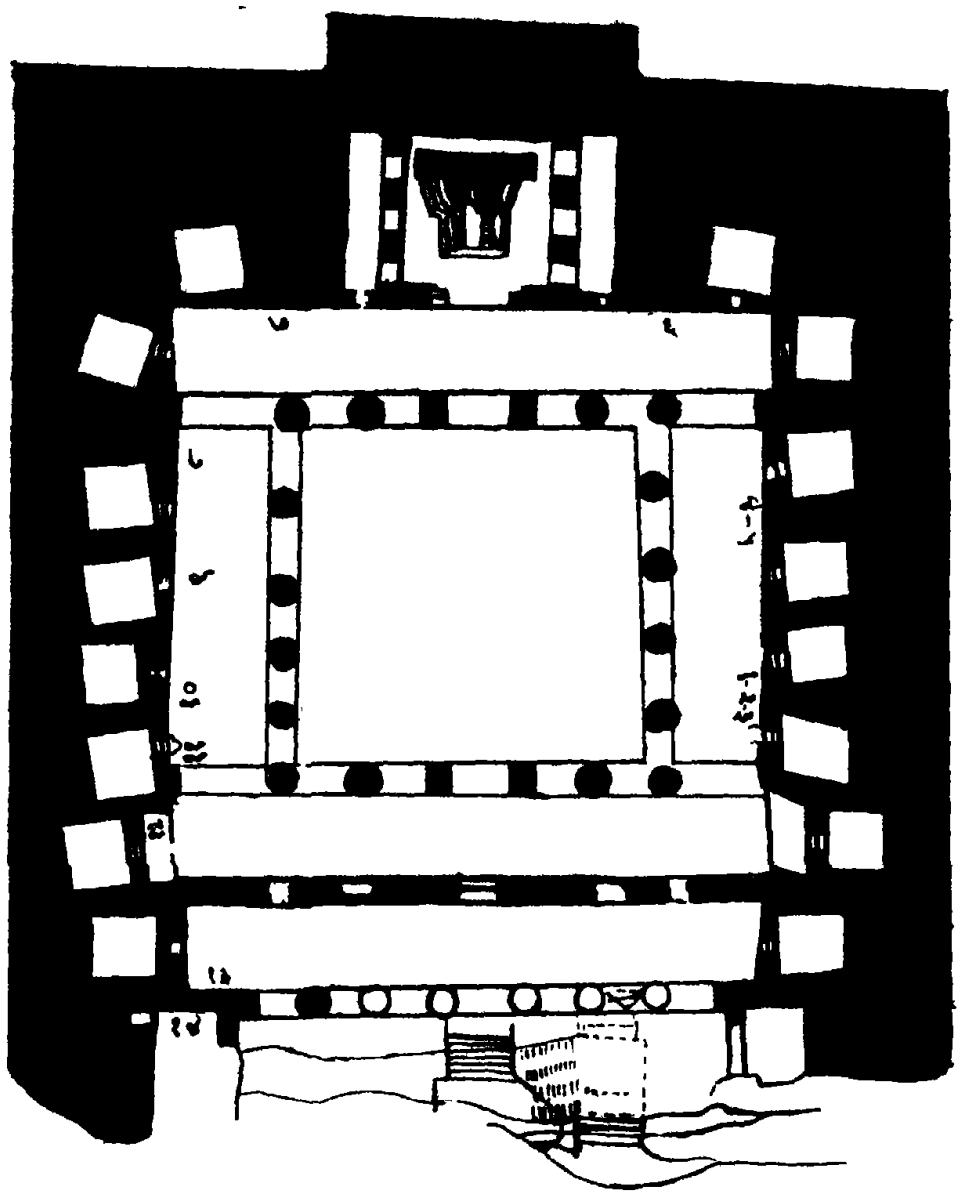

प्लेट ८—अजंता में क्रमांक १६ की विहार गुहा का मानचित्र

अजंता की क्रमांक १६ की गुहा में विद्यमान चित्रों की सूची

(चित्रों के क्रमांक मानचित्र के अनुसार)

क्रमांक

१. माया देवी का स्वप्न।
२. असित ऋषि की भेंट।
३. गौतम का विद्याभ्यास और धनुर्वेदाभ्यास।
४. वृद्ध, व्याधिग्रस्त और मृत मनुष्यों का दर्शन।
५. त्रपुष और भल्लिक की भेंट; सुजाता का पायसदान।
६. बुद्ध का धर्मोपदेश।
७. अजातशत्रु की बुद्ध से भेंट।
८. अप्सरा; बुद्ध का धर्मोपदेश।
९. मानुषी बुद्ध।
१०. बुद्ध का कपिलवस्तु में आगमन; नन्द का अभिषेक और संन्यासाश्रम स्वीकार।
११. मरणोन्मुख सुन्दरी।
१२. महाउम्मग्ग जातक।
१३. हस्तिजातक।
१४. तुषित स्वर्ग में बुद्ध का प्रवेश।

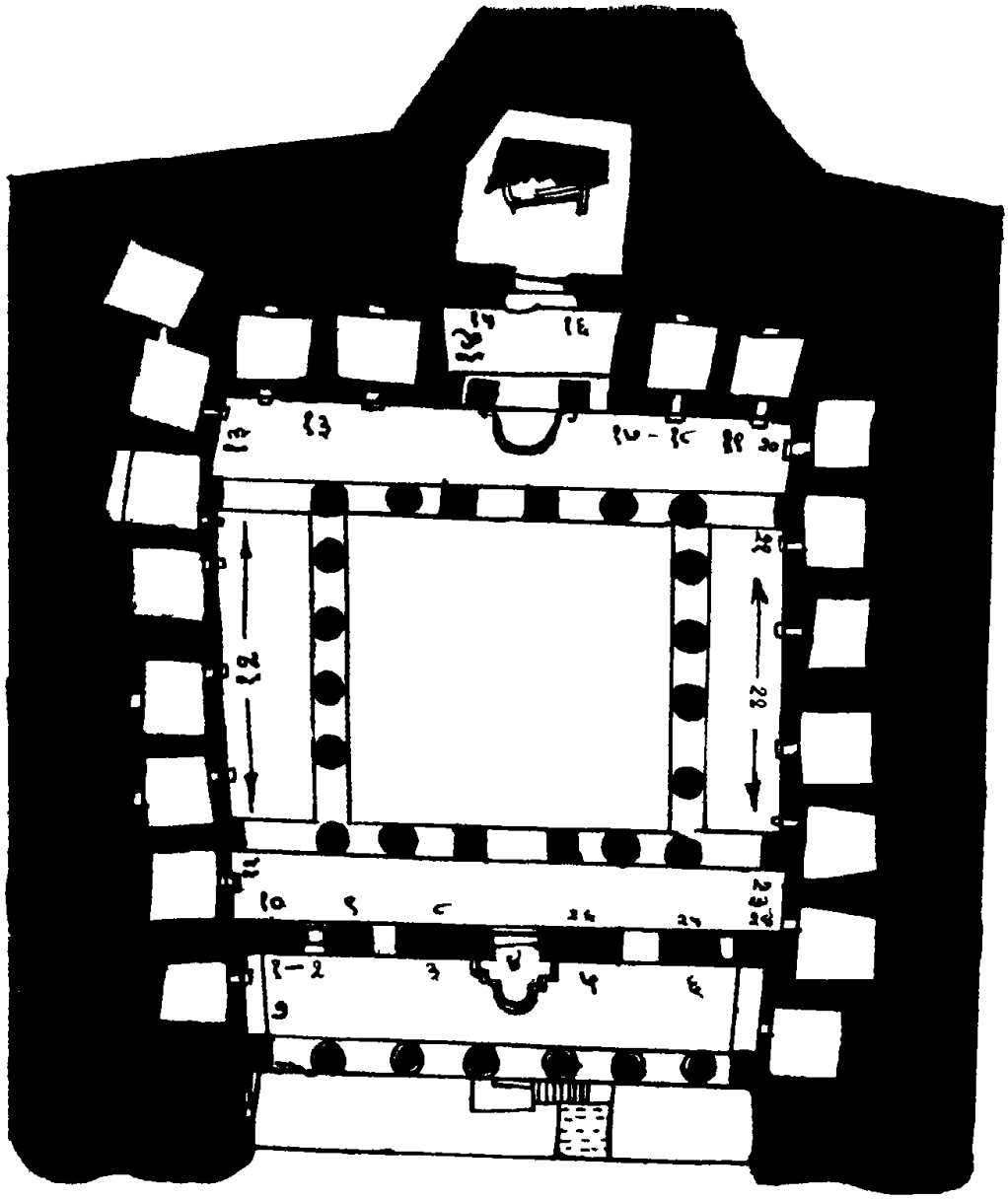

प्लेट १०—अजंता में क्रमांक १७ की विहार गुहा का मानचित्र

अजंता की क्रमांक १७ की गुहा में विद्यमान चित्रों की सूची

(चित्रों के क्रमांक मानचित्र के अनुसार)

१ व २ विश्वंतरजातक में कुछ घटनाएँ
३—आकाश में उड़ने वाला इन्द्र और अप्सराएँ
४—मानुषी बुद्ध
५—गन्धर्व और अप्सराएँ बुद्ध की पूजा करते हैं
६—नालगिरि हाथी का दमन
७—संसारचक्र
८—षड्दन्तजातक
९—महाकपिजातक
१०—हस्तिजातक
११—हंसजातक
१२—विश्वन्तरजातक
१३—सुतसोमजातक
१४—बुद्ध का तुषित स्वर्ग में धर्मोपदेश; सारिपुत्र के प्रश्न
१५—बुद्ध, यशोधरा और राहुल
१६—श्रावस्ती में चमत्कार
१७—शरभजातक
१८—मातृपोषकजातक
१९—मत्स्यजातक
२०—श्यामजातक
२१—महिषजातक
२२—सिंहलावदान
२३—शिबिजातक
२४—मृगजातक
२५—यक्षजातक
२६—न्यग्रोधमृग जातक

चित्र ०
मरणासन्न सुन्दरी

प्लेट ११—लोभी ब्राह्मण जूजक

प्लेट १२—बुद्ध, यशोधरा और राहुल

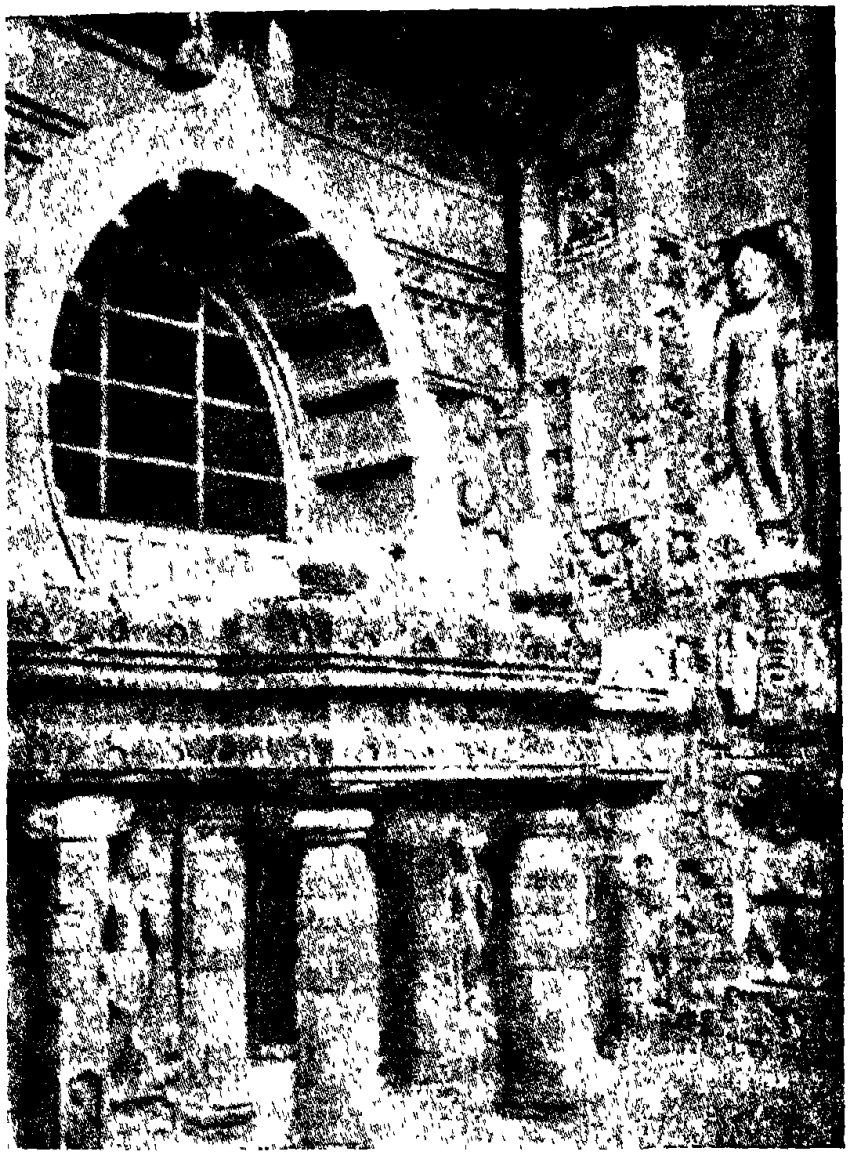

प्लेट १३—अजंता में क्रमांक १९ की चैत्य गुहा का संमुख भाग

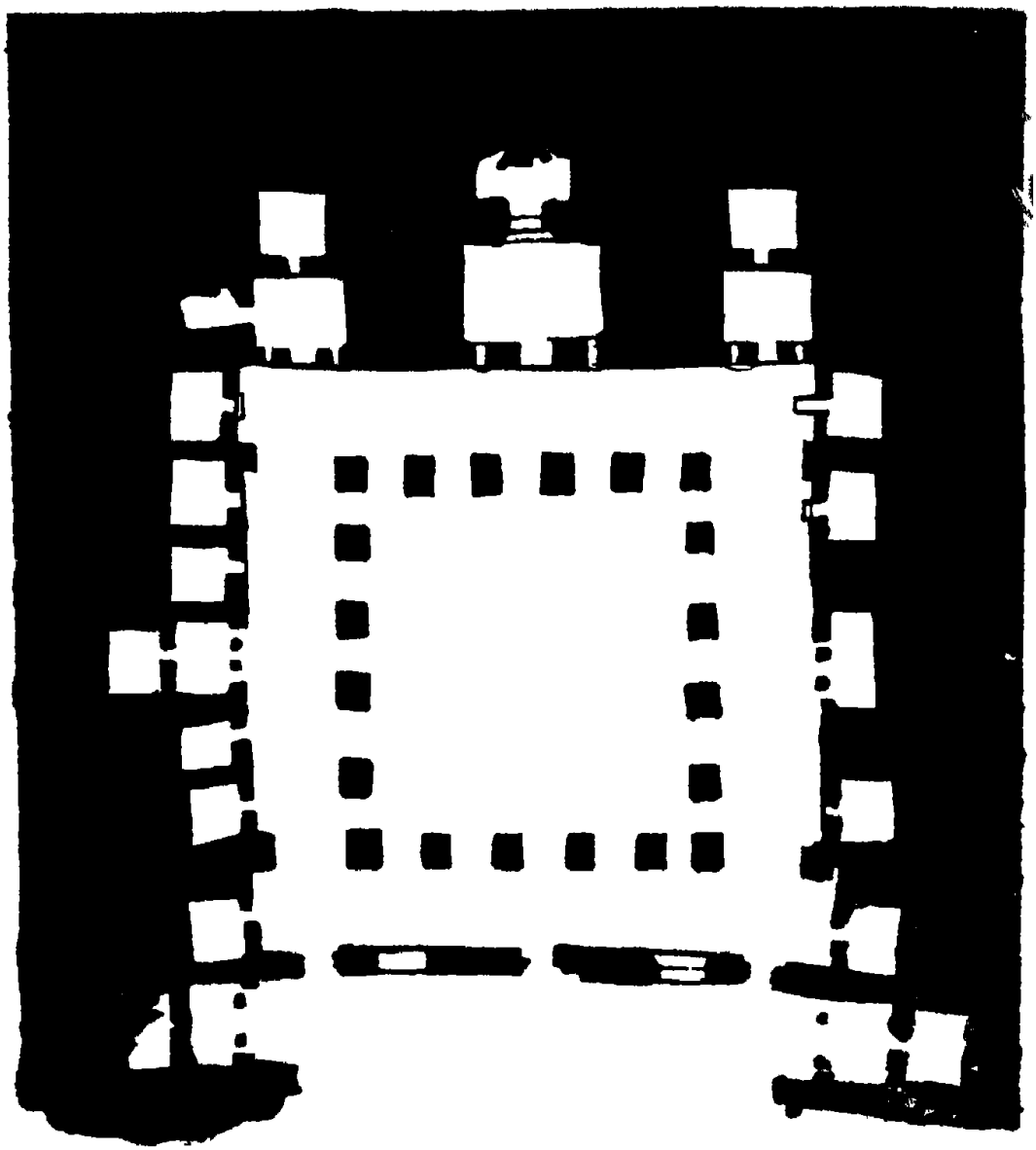

प्लेट—१४ घटोत्कच गुहा का मानचित्र

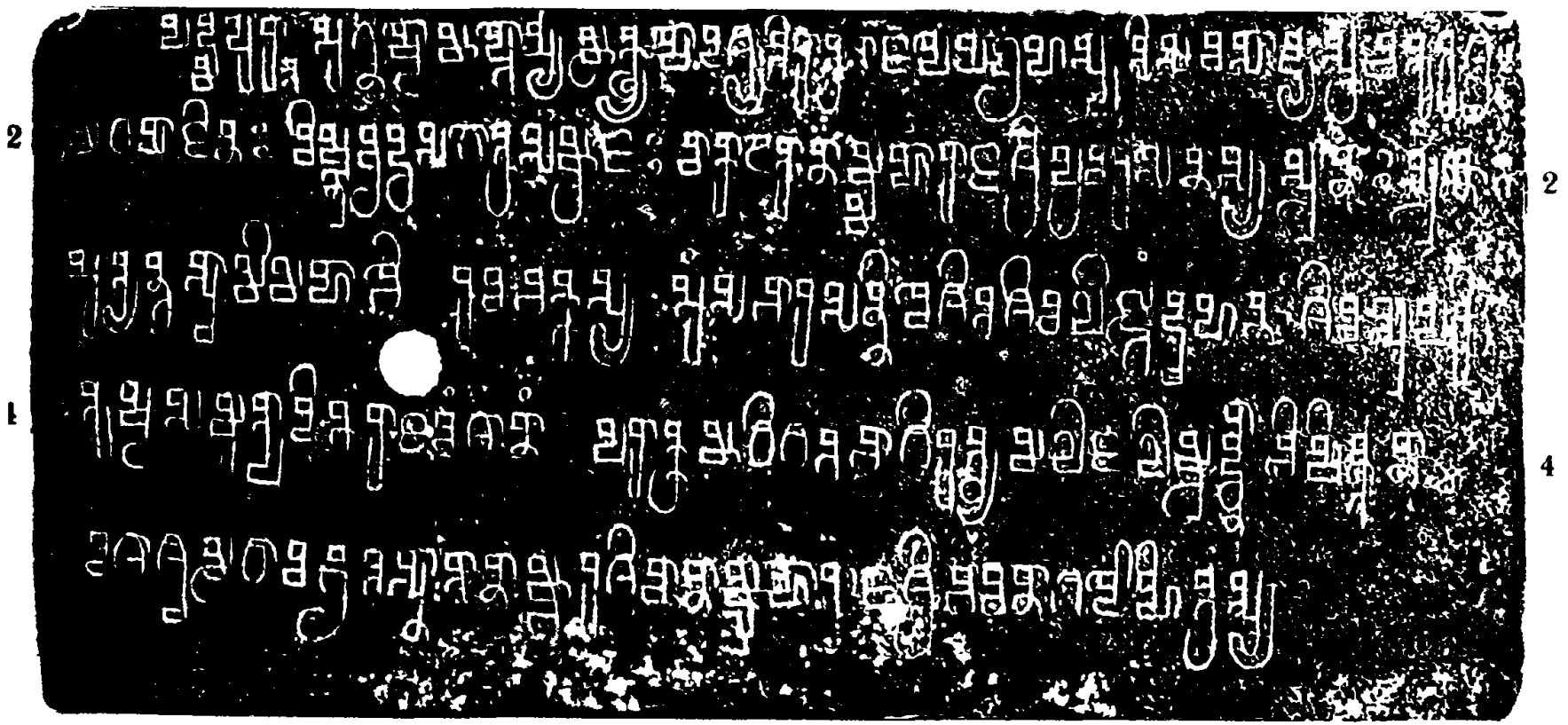

प्लेट १५—दुर्ग में प्राप्त वाकाटक ताम्रपत्र

वीर सेवा मन्दिर
पुस्तकालय
काल न० 1528 मिराशी
लेखक मिराशी वासुदेव विष्णु
शीर्षक कलचुरि राजवंश का इतिहास
खण्ड क्रम संख्या